तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश)

दूरस्थ शिक्षा

एम.ए. (पूर्वार्ध) जैनोलॉजी

(तृतीय पत्र)

-विषय-

कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-कर्म का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद	(कुल पाठ-4)
इकाई – 2	-संसार भ्रमण के कारण-अष्टकर्म	(कुल पाठ-4)
इकाई – 3	-कर्मों का बंध-उदय एवं सत्त्व आदि	(कुल पाठ-4)
इकाई – 4	-विविध दृष्टिकोणों से कर्मसिद्धान्त की व्याख्या	(कुल पाठ-4)
इकाई – 5	-सामायिक विधि एवं ध्यान साधना	(कुल पाठ-5)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन

(अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद)

जीवन प्रकाश जैन (M.Sc. Maths), जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (शरदपूर्णिमा-2014)**

मूल्य- **300/-रुपये**

ISBN-978-93-84003-39-5

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

एवं

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

कुलाधिपति की कलम से.....

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. की मान्य डिग्री प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य को निखारने का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में "डी.लिट्." की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012, वैशाख कृ. दूज को माताजी के 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस के शुभ अवसर पर प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में "पीएच.डी." की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन में बी.ए. एवं एम.ए. के कोर्स दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किये गये हैं अतः इनका स्टडी मैटेरियल पूज्य प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी ने हमारे निवेदन पर अथक परिश्रमपूर्वक तैयार करके दिया है। यह सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में उच्च सफलता हासिल करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का

मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने इस विश्वविद्यालय में "जैन दर्शन विभाग" की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आज तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के सर्टिफिकेट व डिप्लोमा कोर्स का भी शुभारंभ कर दिया गया है।

मेरे सान्निध्य में बी.ए. एवं एम.ए. जैनोलॉजी कोर्स की पुस्तकें मेरी शिष्या प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चंदनामती एवं प्रो. टीकमचंद जी ने अत्यन्त सूझ-बूझ के साथ तैयार की हैं। जम्बूद्वीप के पीठाधीश रवीन्द्रकीर्ति जी का निर्देशन भी इसमें महत्वपूर्ण रहा है। उनके साथ ही संघस्थ बाल ब्र. जीवन प्रकाश ने भी इस कोर्स को तैयार कराने में अपनी सहभागिता के साथ-साथ सर्टीफिकेट डिप्लोमा एवं डिग्री कोर्स को संचालित करने में परिश्रम किया है। इन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है।

विश्वविद्यालय एवं दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट व डिप्लोमा प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं हर्ष का परिचायक है।

अतः इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को मेरा कोटिशः आशीर्वाद है कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनी ज्ञानमती)

प्रस्तावना

-आर्यिका चन्दनामती

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-"कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः" अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में "महावीर डेन्टल कॉलेज" से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रहा है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये "प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह" में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके अतः त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स के पश्चात् स्नातकोत्तर अर्थात् एम.ए. में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों के लिए दो वर्ष के दूरस्थ शिक्षा कोर्स में कुल 8 पुस्तकें तैयार की गई हैं। जिनमें प्रथम वर्ष (पूर्वार्ध) में 4 पुस्तकें और

द्वितीय वर्ष (उत्तरार्ध) में 4 पुस्तकें हैं। यहाँ पर प्रथम वर्ष की इस तृतीय पुस्तक में 5 इकाइयों के अन्तर्गत निम्न विषय प्रस्तुत किये गये हैं–

1. कर्म का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद
2. संसार भ्रमण के कारण-अष्टकर्म
3. कर्मों का बंध-उदय एवं सत्त्व आदि
4. विविध दृष्टिकोणों से कर्मसिद्धान्त की व्याख्या
5. सामायिक विधि एवं ध्यान साधना

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

उपर्युक्त पाँचों इकाइयाँ अलग-अलग पाठों में विभक्त हैं जिनके माध्यम से कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना की भूमिका के प्रायः समस्त पक्षों को प्रस्तुत करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय के द्वारा संचालित "दूरस्थ शिक्षा" (Distance Education) में एम.ए. के प्रथम वर्ष की इस तृतीय पुस्तक के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शिता युक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय दूरस्थ शिक्षा की पाठ्यपुस्तक तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम. ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है।

-8 अक्टूबर 2014, शरदपूर्णिमा

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1 — कर्म का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद	**1-29**
पाठ-1 प्राकृतिक कर्म व्यवस्था	1-7
पाठ-2 अटल सिद्धान्त है कर्म का	8-12
पाठ-3 कर्मबंध के कारण और प्रकार	13-19
पाठ-4 कर्म के भेद-प्रभेद	20-29
इकाई 2 — संसार भ्रमण के कारण-अष्टकर्म	**30-68**
पाठ-1 आत्मा की प्रभा को धूमिल करने वाले ज्ञानावरण-दर्शनावरण	30-41
पाठ-2 सुख-दु:ख प्रदाता वेदनीय एवं कर्मों का राजा मोहनीय	42-55
पाठ-3 चतुर्गति यात्रा संवाहक आयुकर्म एवं शरीर निर्माता नामकर्म	56-63
पाठ-4 गोत्र एवं अन्तरायकर्म की फल:स्थिति	64-68
इकाई 3 — कर्मों का बंध-उदय एवं सत्त्व आदि	**69-89**
पाठ-1 बोए पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय	69-75
पाठ-2 कर्मों की विविध अवस्थाएँ	76-81
पाठ-3 कर्म प्रकृतियों में चार निक्षेप	82-86
पाठ-4 कर्मसिद्धान्त और सम्यग्दर्शन	87-89
इकाई 4 — विविध दृष्टिकोणों से कर्मसिद्धान्त की व्याख्या	**90-120**
पाठ-1 तप से होता है कर्मों का क्षय	90-95
पाठ-2 कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्याप्ति की विवेचना (आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में)	96-101
पाठ-3 कर्म सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक स्वरूप	102-110
पाठ-4 विविध जैन ग्रंथों के आधार से जानें कर्म सिद्धान्त	111-120
इकाई 5 — सामायिक विधि एवं ध्यान साधना	**121-160**
पाठ-1 कृतिकर्मपूर्वक सामायिक विधि	121-129
पाठ-2 सामायिक के लिए योग्य काल-आसन-मुद्रा आदि	130-134
पाठ-3 ध्यान, ध्याता एवं ध्येय	135-145
पाठ-4 चिन्ता छोड़ो चिन्तन करो	146-152
पाठ-5 ध्यान के विषय में विशेष ज्ञातव्य	153-160

इकाई–1 कर्म का स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) प्राकृतिक कर्म व्यवस्था

(2) अटल सिद्धान्त है कर्म का

(3) कर्मबंध के कारण और प्रकार

(4) कर्म के भेद-प्रभेद

पाठ 1–प्राकृतिक कर्म व्यवस्था

1.1 कर्म-सिद्धान्तों के कतिपय तथ्यों का विश्लेषण–

जैन-शास्त्रों की मान्यता है कि यह सारा संसार कर्मों की विचित्र-लीला है, क्रीड़ा है, क्योंकि वे मानते हैं कि संसार की समस्त क्रियाओं के आधार ये कर्म ही हैं। यह भी तथ्य है कि जैनागमों में कर्म-सिद्धान्त का मौलिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है। इसकी विस्तृत विवेचना से जैनदर्शन की वैज्ञानिकता एवं श्रेष्ठता सिद्ध और पुष्ट होने के साथ-साथ प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता तथा संसार में उसकी कर्माधारिता भी प्रमाणित होती है। यह सिद्धान्त वैज्ञानिक, तात्त्विक तथा तार्किक दृष्टियों से व्यक्ति के आचरण और अध्यात्म की तथा उसमें विद्यमान उसके व्यवहार की कार्य-कारण-लक्षी मीमांसा करता है तथा जीव के साथ बँधने वाले विशेष जाति के पुद्गल-स्कन्धों की विशेषरूप से बड़ी सूक्ष्म विवेचना करता है। अतः इसका परिज्ञान और पारायण एक ओर हमें कर्मों की शक्ति का बोध कराता है, तो दूसरी ओर इस अनादिकालीन कर्म-चक्र को तोड़ने-भेदने का जैनागमोक्त उचित उपाय भी बतलाता है। इस दृष्टि से जैनों का यह कर्मवाद किसी को भी भाग्यवादी बनाकर निराश और अकर्मण्य नहीं करता, अपितु आत्म-हितकारी श्रेष्ठ पुरुषार्थ करने की पावन प्रेरणा देता है। यह व्यक्ति को वर्तमान की विपदाओं, बाधाओं और कठिनाइयों को समता-मूलक परिणामों के साथ सहने की अपूर्व शक्ति देकर भावी जीवन को/भावी पर्याय को सुधारने का शुभ-सन्देश भी देता है।

सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों के माध्यम से वस्तुतः कर्म-विषयक जितनी तर्कपूर्ण वैज्ञानिक व सूक्ष्म विवेचना जैनदर्शन में है, वैसी अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। यही कारण है कि करणानुयोग-प्रतिपादक षट्खंडागम, कसायपाहुड, पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रंथराज तथा धवला, महाधवला, जयधवला एवं तत्त्वार्थसूत्र आदि की विस्तृत टीकाएँ कर्म-सिद्धान्त की विस्तृत और सूक्ष्म विवेचनाओं से भरी पड़ी हैं। अन्य जैन ग्रन्थों में भी प्रसंगानुसार इसका वर्णन मिलता है।

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा-(1) कर्म कारक, (2) क्रिया, तथा (3) जीव के साथ बँधने वाले विशेष जाति के पुद्गल स्कन्ध। इनमें जीव के साथ बँधने वाले पुद्गल-स्कन्धों का विशेष प्रकार से प्ररूपण केवल जैन-सिद्धान्त ही करता है। वास्तव में 'कर्म' का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव मन-वचन-काय के द्वारा कुछ-न-कुछ करता है, वह सब उसकी क्रिया या कर्म ही है। यही योग-क्रिया है, जो परिस्पन्द-रूप से प्रति-समय होती रहती है। मन-वचन-काय आदि तीन उसके द्वार हैं। इसे जीवकर्म या भावकर्म भी कहते हैं। इसी के निमित्त से जो पुद्गल-स्कन्ध-आकार ज्ञानावरणादि भाव को प्राप्त होते हैं, वे 'द्रव्य-कर्म' कहे जाते हैं। भाव-कर्म/जीव-कर्म को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु भाव-कर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म व जड़ पुद्गल-स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते और उसके साथ बँधते हैं-यह तथ्य केवल जैनागम ही बताता है। ये सूक्ष्म पुद्गल-स्कंध 'अजीव-कर्म' या 'द्रव्य-कर्म' कहलाते हैं। ये रूप-रसादि के धारक मूर्तिक होते हैं। जैसे-जैसे कर्म यह जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर ये द्रव्यकर्म उसके

साथ बँधते हैं और कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि-गुण तिरोभूत हो जाते हैं, ढक जाते हैं, यह उनका फल-दान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण ये कर्म- रूप पुद्गल-स्कन्ध दिखाई नहीं देते। जीव को जो परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, उन्हें कर्म कहते हैं अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों के कारण जो किये जाते हैं, उपार्जित होते हैं, वे कर्म हैं।

साधारणत: जो किया जाता है, वह कर्म है। जैसे-खाना-पीना, चलना-फिरना, सोचना-विचारना, हँसना- खेलना, आदि। अन्य धर्म राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी संस्कार को स्थायी मानते हैं, जबकि जैनदर्शनानुसार कर्म केवल संस्कारमात्र ही नहीं है, अपितु वस्तुभूत पदार्थ है, रागी-द्वेषी जीव की प्रत्येक क्रिया (मानसिक-वाचनिक-कायिक क्रिया) के साथ एक द्रव्य जीव के संपर्क में आता है और उसके राग-द्वेषरूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बँध जाता है, वह कर्म है, जो आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है। प्रवचनसार में भी आ. कुन्दकुन्ददेव कहते हैं- "राग-द्वेष से युक्त आत्मा जब अच्छे या बुरे कामों में लगती है, तब कर्म-रूपी रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करती है।" इस तरह कर्म एक मूर्त-पदार्थ है, जो जीव के साथ बँधता है।

यह द्रव्य-कर्म का कथन है। कर्म-सिद्धान्त का समस्त वर्णन द्रव्य-कर्म- प्रधान है। पुद्गल के पिण्ड को द्रव्य-कर्म और उसमें रहने वाली फल-दान-शक्ति को भाव-कर्म कहते हैं। जो कर्म-वर्गणाएँ आत्मा के साथ बँधती हैं, वे कर्म कहलाती हैं।

(अनादिकालीन कर्मों के वशीभूत होकर) कर्म-बद्ध संसारी-जीव नाना प्रकार का विकृत परिणमन, अशुद्धभाव, राग-द्वेष तथा मोह-भाव करता है, जिससे पुद्गलपरमाणु अपने-आप कर्मरूप परिवर्तित होकर तत्काल जीव के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। बँधने के पूर्व इन्हें कार्मणवर्गणा कहते हैं और बँधने पर वे कर्म कहे जाते हैं। पुद्गल-जातीय 23 वर्गणाओं में से केवल 5 वर्गणाएँ ही ग्रहण के योग्य हैं- आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणा और कार्मणवर्गणा। कार्मणवर्गणा से कर्म और शेष वर्गणाओं से नो-कर्म बनते हैं। जीव के आत्म-प्रदेशों पर स्थित जो विस्रसोपचयरूप पुद्गल हैं, वे ही कर्मरूप से परिणत होते हैं। कर्म कहीं बाहर से आकर नहीं बँधते हैं। जीव के प्रदेशों के साथ बँधे कर्म और नो-कर्म के प्रत्येक परमाणु के साथ जीवराशि से अनन्तानन्तगुणे विस्रसोपचय-रूप परमाणु भी सम्बद्ध हैं, जो कर्म-रूप या नो-कर्म-रूप तो नहीं हैं, किन्तु कर्म-रूप या नो-कर्म-रूप होने के लिए उम्मीदवार हैं, उन्हें **विस्रसोपचय** कहते हैं।

कर्म-बन्ध में पुद्गल-परमाणु जीव द्रव्य में अन्तर्लीन/प्रविष्ट हो जाते हैं और **एकक्षेत्रावगाही** सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यह कर्म-बंध की प्रक्रिया है, मोक्षशास्त्र के कर्ता आचार्य श्री उमास्वामी कहते हैं- कषाय सहित होने से/ राग-द्वेष-रूप भावनात्मक परिणमन करने के कारण जीव कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसी ग्रहण का नाम बन्ध है-"**सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।**" इस बन्ध का मूल कारण जीव की मनसा-वाचा-कर्मणा होने वाली विकृत परिणति है, इसी के फलस्वरूप पुद्गल द्रव्य का जीव द्रव्य के साथ संयोग/बंध कहलाता है।

अनेक जड़ परमाणुओं या वर्गणाओं का परस्पर में अथवा जीव के प्रदेशों के साथ विशेष प्रकार के घनिष्ठ संश्लिष्ट सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। इसमें दोनों ही जड़ और चेतन पदार्थ अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर किन्हीं विचित्र विजातीय-भाव-रूप विकारों को धारण कर लेते हैं। जीवों की योग तथा उपयोगात्मक क्रिया अथवा भावों का निमित्त पाकर कर्म-वर्गणाएँ जीव के आत्म-प्रदेशों के साथ द्रव्यकर्म के रूप में बँध जाती हैं।

जैविक रासायनिक प्रक्रिया से ये पुद्गल परमाणु जीव के साथ बँधते हैं। जीव और कर्म अपने स्वरूप में नहीं रहते हैं, यह बन्ध एक क्षेत्रावगाही एकाकार और अखण्ड होता है। दृष्टान्त देखिए-

आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसें वायु-रूप हैं और अग्नि को भड़काने की शक्ति रखती हैं, परन्तु दोनों मिल जाने पर जल बन जाती हैं, जिसमें आग को भड़काने की बजाय उसे बुझाने की शक्ति आ जाती है। ऐसा बंध ही संश्लेष-बंध कहलाता है। समस्त रासायनिक प्रयोगों का आधार भी यही बंध होता है। जैसे- सोना और तांबा तथा पीतल और काँसा मिलकर एक विजातीय पिण्ड बन जाते हैं। दोनों ही धातुएँ अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं रहतीं। इस संश्लिष्ट-बन्ध का यही वैशिष्ट्य/वैचित्र्य है कि द्रव्य के स्व- चतुष्टय ही बदलकर विजातीय-रूप धारण कर लेते हैं। वे विकारी हो जाते हैं; फलतः बंध को प्राप्त सभी जड़ परमाणुओं का तथा जीव का परिणमन एक-दूसरे की अपेक्षा रखकर होता है। यही उसका विकार है कि अपने शुद्ध स्वतंत्ररूप को छोड़कर अन्य के अधीन हो जाना ही उसका विकार है और इस प्रकार अपने कार्य में अन्य की सहायता की अपेक्षा रखने का भाव का होना ही विकार का जन्म लेना है। विकारी भाव से द्रव्य अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर विजातीय प्रकार का हो जाता है। जैसे-दूध की मिठास दही की खटास के रूप में बदल जाती है।

शंका-जीव जानने-देखने वाला और संकोच-विस्तार की शक्ति वाला अमूर्तिक द्रव्य है। जबकि कर्म जड़ हैं, मूर्तिक हैं, तब फिर मूर्तिक कर्मों का अमूर्तिक जीव के साथ बंध कैसे संभव है?

समाधान-तत्त्वार्थसार में आ. अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि किसी अपेक्षा से आत्मा भी मूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा का द्रव्यकर्मों के साथ धारा-प्रवाही-रूप से सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। मूर्तिक द्रव्यकर्मों के साथ एक क्षेत्र- अवगाही अनादि सम्बन्ध होने से आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक है। अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बंध होना संभव है। जैसे- सोना-चाँदी गलाने पर मिलकर एक-रूप हो जाते हैं। द्रव्य-संग्रह में आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्त देव कहते हैं कि जीव में यद्यपि 5 वर्ण, 5 रस, 2 गंध और 8 स्पर्श नहीं होते। अतः निश्चय से तो वह अमूर्तिक ही है, परन्तु कर्मों से बँधा होने के कारण व्यवहार से वह मूर्तिक है। अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मों का बंध होने में कोई बाधा नहीं है।

शंका-इन पुद्गल कर्मों में ऐसी क्या शक्ति है, जो चेतन-स्वभावी आत्मा को विभाव भावों में परिणमाती है?

समाधान-जैसे-मदिरा पीने-वाले को पागल/मोहित कर देती है। वह मद्य के नशे में मदहोश होकर सब-कुछ भूल-सा जाता है, वैसे ही जड़ कर्म भी जीव को विमोहित कर अपने स्वभाव से च्युत कर देते हैं, विभाव भावों में परिणत करा देते हैं। इस सम्बन्ध में पं. टोडरमल कहते हैं-

जैसे-किसी पुरुष के सिर पर मंत्रित धूल डाल दी जाती है, तो वह उसके निमित्त से अपने को भूलकर विपरीत चेष्टा करता है, क्योंकि मंत्र के निमित्त से धूल में ऐसी शक्ति आ जाती है कि सयाना पुरुष भी विपरीत परिणमन करने लगता है। उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बँधे हुए जड़ कर्मों के प्रभाव से आत्मा अपने को भूलकर अनेक प्रकार के विपरीत भावों से परिणमन करती है। इसके विभाव भावों के निमित्त से जड़ कर्मों में ऐसी शक्ति आ जाती है, जो चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमाती है। चेतन-स्वभावी जीव के स्वभाव का पराभव कर यह जड़ कर्म ही मनुष्यादि पर्यायों में उत्पन्न कराता है। पद्म-पुराण में उल्लेख मिलता है कि बलों में कर्म-कृत बल ही प्रबल है- "**बलानां हि समस्तानां बलं कर्मकृतं परम्**" तथा बड़े खेद की बात है कि ये संसारी प्राणी इन कर्मों के द्वारा चतुर्गति में कैसे नचाये जाते हैं ?" **कष्टं पश्यत नर्त्यन्ते कर्मभिर्जन्तवः कथम्।।**"

1.2 संसारी जीव कर्माधीन हैं—

वस्तुतः संसार-दशा में सभी जीव कर्माधीन होते हैं। जैन दर्शनानुसार कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मों का फल भोगने में वह कर्माधीन होता है-"स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते-**स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्**" आप्तपरीक्षा में भी कहा गया है कि कर्मों के द्वारा संसारी जीव परतन्त्र

कर्माधीन होता है। सभी संसारी जीव अपने-अपने कर्मों से बँधे हैं, अतः कर्मों के अनुसार ही उनकी बुद्धि और प्रवृत्ति होती है, यथा-"**बुद्धिः कर्मानुसारिणी।**" अच्छे कर्मों के अनुसार उत्पन्न बुद्धि सन्मार्ग की ओर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्ति-लाभ होता है और कुमार्ग पर चलने से संसार में ही भटकना होता है। अतः बुद्धि के कर्मानुसार होने से मुक्ति की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती। जयधवला, भाग- 16, पृ. 187 पर भी कहा है कि संसारी जीव अनादिकालीन कर्म के सम्बन्ध से परतन्त्र/पराधीन है।

1.3 दोनों की स्वतंत्र सत्ता—

आत्मा के साथ कर्मों का एक-क्षेत्रावगाही संश्लेषण—सम्बन्ध हो जाने पर भी इन दोनों की सत्ता स्वतन्त्र ही बनी रहती है। वह सत्ता अव्यक्त या तिरोभूत अवश्य हो जाती है। बंध-दशा में दोनों की वैभाविक परिणति रहने से अपने- अपने स्वभाव से च्युत रहते हैं। कर्म ओर नो-कर्म से बँधकर जीव विजातीय बने रहते हैं, परन्तु सत्पुरुषार्थ से जीव जब कर्मों से पूर्ण मुक्त हो जाता है, तो पूर्ण शुद्ध होकर वह अपने स्वभाव में आ जाता है और जड़कर्म भी बंधन से मुक्त हो अपने स्वभाव को पा लेता है। जैसे-जल रासायनिक प्रयोग से ऑक्सीजन और हाइड्रोजनरूप मूल स्वभाव में आ जाते हैं। यह अवश्य है कि पूर्ण कर्म-मुक्त हुआ जीव फिर कर्मों से नहीं बँधता। जैसे-घी रूप में परिणमित फिर से दूध नहीं बनता।

अस्तु, एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध में रहते हुए भी जीव जीव ही रहता है और पुद्गल पुद्गल ही रहता है। दोनों अपने मौलिक गुणों को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। जीव की प्रक्रिया जीव में और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल में ही होती है। जीव की जीव के द्वारा और पुद्गल की पुद्गल के द्वारा प्रक्रिया सम्पन्न होती रहती है, परन्तु इन दोनों की प्रक्रियाओं में ऐसी समता/एक-रूपता रहती है कि जीव द्रव्य कभी पुद्गल की प्रक्रिया को अपनी और अपनी प्रक्रिया को पुद्गल की मान बैठता है। जीव की यही भ्रान्त मान्यता मिथ्यात्व, मोह या अज्ञान कहलाती है और यही संसार का बीज है। प्रत्येक जीव अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग कर्म करता है। वह कर्म प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न ढंग से स्वतन्त्ररूप से व्यक्त होता है। यही कारण है कि मानव की बाह्यरचना/बनावट एक-जैसी होने पर भी उनके आकार-प्रकार, बुद्धि वैभव, स्वास्थ्य, हाव-भाव तथा व्यक्तित्व आदि पृथक्-पृथक् होते हैं। एक ही माता की सन्तानों में भी व्यवहार, बुद्धि, आचार-विचार, अलग-अलग देखे जाते हैं इससे कर्मों की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।

बन्ध-दशा में जीव के स्वाभाविक गुण कर्मों से आवृत्त होने के कारण उसकी दृष्टि विकार युक्त रहती है, अतः प्रत्येक पदार्थ को जीव विपरीत देखता-जानता है और तदनुसार क्रियाएँ/चेष्टाएँ करता है, परन्तु बंध-दशा में भी जीव और कर्म-रूप पुद्गल अपने-अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर अन्य रूप नहीं होते। जीव कर्म नहीं बन जाता और कर्म जीवरूप परिणत नहीं होते। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के साथ दोनों की सत्ता स्वतन्त्र बनी रहती है।

1.4 सोने में मैल की तरह आत्मा और कर्म का अनादि-सम्बन्ध स्वयं-सिद्ध है-

जब से जीव है, तभी से जीव के साथ कर्मों का संयोग भी है। चूँकि जीव अनादि हैं, अतः यह कर्म-सम्बन्ध भी अनादि है। अनादिकाल से ही ये दोनों बँधी हुई दशा में पाये जाते हैं। जैसे-सोने की खान में सोना तथा अन्य विजातीय पदार्थ अनादि से ही संयुक्त अवस्था में पाये जाते हैं। खदान में उन्हें किसी ने मिलाया नहीं है। इसी तरह किसी ने जीव के साथ कर्मों का जबरन सम्बन्ध नहीं कराया है। इस विषय में सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द शास्त्री का कथन भी इस प्रकार है-

"जैन दर्शन प्रत्येक संसारी आत्मा को अनादिकाल से ही कर्मों से बद्ध मानता है। यह कर्म-बन्धन किसी अमुक समय में नहीं हुआ, अपितु अनादि से है। जैसे-खान से सोना मैल सहित ही निकलता है, वैसे ही संसारी आत्माएँ भी

अनादि से कर्मों से बद्ध ही पायी जाती हैं। यदि आत्माएँ अनादिकाल से शुद्ध ही होतीं, तो–फिर उनके कर्म–बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म–बन्ध के लिए आन्तरिक अशुद्धि का होना आवश्यक है। इसके बिना यदि कर्मबन्ध होने लगे, तो मुक्त–आत्माओं के भी कर्म–बन्ध का प्रसंग आएगा और ऐसी दशा में मुक्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ हो जाएगा। अतः जीव और कर्मों का सम्बन्ध अनादि से है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है–"जीवों के कर्म अनादिकाल से हैं। इस जीव ने कर्म नहीं उत्पन्न किए तथा कर्मों ने भी जीव को नहीं उपजाया, क्योंकि जीव और कर्म–इन दोनों का ही सम्बन्ध आदि नहीं, अपितु अनादि है।" कर्मप्रकृति में भी उल्लेख है–"संसारी जीव का स्वभाव रागादिरूप से परिणत होने का है और कर्म का स्वभाव उसे रागादिरूप से परिणमाने का कहा जाता है। इस प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकालिक है; अतः दोनों की सत्ता भी अनादिकाल से है। पंचास्तिकाय में आ. कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं–जन्म–मरण के चक्र में पड़े हुए संसारस्थ प्राणी के राग–द्वेष–रूप परिणाम होते हैं। उनसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं और इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है। विषयों के ग्रहण से इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष होता/करता है। इस तरह संसार चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म–बन्ध और कर्म–बन्ध से राग–द्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह संसार–चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि सान्त है।" निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।

आचार्य उमास्वामी कर्म–जन्य शरीरों की विशेषतों बतलाते हुए कहते हैं कि औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस् और कार्माण आदि इन पाँच शरीरों में से अन्तिम दो शरीर तैजस् और कार्माण शरीर पूर्व के शरीरों से उत्तरोत्तर अनन्तगुणे–अनन्तगुणे सूक्ष्म हैं, प्रतिघात–रहित हैं, सभी संसारियों के अनादिकाल से सम्बन्धित हैं तथा अन्तिम कार्माण–वर्गणाओं से बना कार्माणशरीर भोग रहित है। **निष्कर्ष**—कर्म और जीव अनादिकाल से ही एक–दूसरे से सम्बद्ध हैं। पद्मपुराणकार भी संसारी प्राणियों का वर्णन करते हुए कहते हैं–"अनादिकाल से बँधे हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से संसारी प्राणी की आत्म–शक्ति छिपी/ढकी हुई है। अतः अनादिकाल से ही अनेक लाख योनियों में इन्द्रिय–जनित सुख–दुःखों का सदा अनुभव करता हुआ, एक–दो–तीन–चार–पाँच इन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होकर जन्म–मरण करता हुआ निरन्तर इस संसार में भटक रहा है। कसायपाहुड, सवार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसार, द्रव्यसंग्रह–टीका आदि में जीव और कर्मों के सम्बन्ध को अनादिकालिक कहा गया है।

1.5 कर्म–सिद्धान्त का आधार जीव–पुद्गल का निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है–

जड़ कर्म मूर्त पुद्गल और अमूर्त जीव के बीच निमित्त–नैमित्तिक भाव–रूप सम्बन्ध है। देखिए, इस संश्लिष्ट शरीर और संयोगी धन–धान्यादि पदार्थों का प्रभाव हम सभी के जीवन पर पड़ता है। इसकी प्रतीति हम–सब सदा ही करते हैं। इनके प्रति हमारी चित्त–वृत्तियाँ आकृष्ट होती हैं। शरीर में रोग या पीड़ा होने पर दुःख होता है। इससे सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थों में भी अमूर्तिक जीव के भावों को आकर्षित/प्रभावित करने की शक्ति विद्यमान है। यही इनके बीच निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की सिद्धि करता है।

ऐसा ही सम्बन्ध इस जीव का अन्य चेतन पदार्थों के साथ भी है। तभी तो हम पुत्र–कलत्र आदि चेतन पदार्थों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं। क्रोधी को देख भय और वीतरागी सन्त को देखकर श्रद्धा–भक्ति के भाव जाग्रत होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीव का भी अन्य जीवों के भावों के साथ सम्बन्ध है, जिसे निमित्त–नैमित्तिक कहते हैं। इससे यह भी प्रकट होता है कि जीव के अमूर्तिक भावों में बाह्य जड़ पदार्थों पर तथा अन्य जीवों के अमूर्तिक

भावों पर निमित्तरूप से प्रभाव डालने की सामर्थ्य है।

इनके सिवाय जीव की इच्छा का निमित्त पाकर हाथ–पाँव का संचालित होना, इच्छावान् कुम्हार द्वारा घटादि पदार्थों की उत्पत्ति होना, जड़–चेतन दोनों में परस्पर निमित्त–नैमित्तिक शक्ति को सिद्ध करते हैं।

अन्य अनेक दृष्टान्त और भी हैं, जिनसे जीव के अमूर्तिक भावों का मूर्तिक द्रव्य व भाव पर प्रभाव पड़ना प्रमाणित होता है। जैसे–भौतिक जड़ द्रव्यों, विषयों के सेवन से जीव के भावों में सुख–दुःख का होना, सुन्दर–असुन्दर वस्तुओं के प्रति ग्रहण व त्याग का भाव होना, प्रिय–अप्रिय शब्दों को सुनकर प्रेम या क्रोध उत्पन्न होना, शराब–सेवन कर मदहोश हो जाना, क्लोरोफार्म सूँघने से अचेत हो जाना आदि से जाना जाता है कि अमूर्तिक जीव का मूर्तिक (जड़) पदार्थों के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध ही है, जो वस्तु–स्वभाव के आश्रित है, किसी ईश्वरीय–व्यवस्था के अधीन नहीं है।

जीव के राग–द्वेष–मोह के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म–रूप में परिणत होते हैं और जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता है। सम्बन्ध होने पर भी जीव कर्म के गुणों को नहीं करता, किन्तु परस्पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होने से दोनों के परिणाम होते हैं।

1.6 कर्म एक, रूप अनेक–

संसार का मूलभूत मिथ्याभावरूप भावकर्म तथा द्रव्यरूप में बद्ध होने वाला पुद्गल पिण्डरूप द्रव्यकर्म मूल में एक–रूप ही (भेदरहित) होता है, परन्तु बँधने के बाद ज्ञानावरणादिरूप से 8 भेदरूप तथा 148 उत्तर प्रकृति–रूप परिणत हो जाता है। "जैसे एक बार में खाये गये एक ही अन्न का रस–रुधिर आदि सात धातु रूपों से परिणमन होता है, वैसे ही एक आत्म–परिणाम से ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेद–रूप हो जाते हैं। आचार्य श्री अकलंकदेव भी कहते हैं कि जैसे एक अग्नि में दाह, पाक, प्रताप, प्रकाशरूप सामर्थ्य है, वैसे ही एक ही पुद्गल में आवरण तथा सुख–दुःख आदि में निमित्त होने की शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है। आचार्य वीरसेन स्वामी का भी कथन है कि एक कर्म अनेक प्रकृति–रूप हो जाता है। जीव स्वयं ऐसी आठ शक्तियों वाला है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययों के आश्रय से जीव के साथ एक अवगाहना में स्थित कार्मण–वर्गणा के पुद्गल–स्कन्ध एक–स्वरूप होते हुए भी आठकर्मों के आकार–रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे–मेघ का जल पात्र–विशेष में (नीम, ईख, नदी, सरोवर आदि) पड़कर विभिन्न रसों में परिणमित हो जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों का भी मूल और उत्तरप्रकृतिरूप से परिणमन हो जाता है।

आचार्य भास्करनन्दि का कथन है कि जैसे–खाये हुए अन्न आदि को विकारोत्पादक वात–पित्त–कफ और उससे रस व रक्त आदि परिणमनरूप भेद को करा देते हैं, वैसे ही आत्मा के परिणाम द्वारा ग्रहण किये गए पुद्गल प्रवेश करते समय ही अपनी सामर्थ्य से आवरण, अनुभवन, मोहापादन, भवधारण, नाना जातिरूप नामकरण, गोत्र और विघ्न डालने की सामर्थ्ययुक्त होने से अनेक रूप से परिणमन करते हैं।

1.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–जीव को जो परतंत्र करते हैं, वे कहलाते हैं-

(क) द्रव्यकर्म ☐

(ख) कर्म ☐

(ग) अजीव कर्म ☐

प्रश्न 2–"राग-द्वेष से युक्त आत्मा जब अच्छे या बुरे कार्यों में लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करती हैं।" ये किसने कहा है ?

(क) आचार्य कुन्दकुन्ददेव ☐

(ख) आचार्य समन्तभद्र स्वामी ☐

(ग) आचार्य उमास्वामी ☐

प्रश्न 3–पुद्गल जातीय 23 वर्गणाओं से कितनी वर्गणाएँ ग्रहण करने के योग्य हैं ?

(क) 07 ☐

(ख) 04 ☐

(ग) 05 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–कर्म शब्द के कितने अर्थ हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 2–कर्म किसे कहते हैं ? द्रव्यकर्म और भावकर्म की भी परिभाषा दीजिए ?

प्रश्न 3–अन्य धर्मों के अनुसार कर्म की क्या परिभाषा बताई गई है ?

प्रश्न 4–बंध किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–"सोने में मैल की तरह आत्मा और कर्म का अनादि संबंध स्वयं सिद्ध है" इस पंक्ति का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

पाठ 2 – अटल सिद्धान्त है कर्म का

जैन सिद्धान्त के रहस्य को जानने वाला प्रत्येक मनुष्य कर्म की अटल सत्ता को स्वीकार करता है। इसी अटल सिद्धान्त का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है—

2.1 दार्शनिक संसार में कर्म का अखण्ड साम्राज्य है। विश्व के समस्त दार्शनिकों और विचारकों ने कर्म की प्रबल सत्ता को किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया है। कोई भी विचारक कर्म की सत्ता का अपलाप नहीं करता है। विविध बातों के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी कर्म की सत्ता के सम्बन्ध में सब दार्शनिक और तत्त्व-चिन्तक एक-मत हैं। इससे कर्म की निराबाध सत्ता प्रमाणित होती है। भारतीय तत्त्व-विचारकों ने कर्म के सम्बन्ध में पर्याप्त ऊहा-पोह की है और उसकी विपुल शक्ति का अनुभव-पूर्ण प्रतिपादन भी किया है। "कर्मणां गहना गतिः" कहकर उन्होंने कर्म की दुर्लभ शक्ति का आभास करा दिया है।

कर्म-सिद्धान्त का जैसा स्पष्ट, सर्वाङ्गपूर्ण और सुन्दर विवेचन जैनधर्म तथा जैनदर्शन में किया गया है, वैसा और किसी भी दर्शन में नहीं किया गया है। मीमांसक दर्शन में इतना ही कहा गया है कि जो वैदिक कर्म-कांड करता है, उसे स्वर्ग में सुखादि की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय कर्म की प्रकृति, उसका फल, भोग आदि विषयों में उसने कोई स्पष्टीकरण नहीं किया। वेदान्त दर्शन भी ब्रह्माद्वैतवाद की सिद्धि करने में ही लगा रहा है । उसने भी इस विषय में कोई विशिष्ट विवेचन नहीं किया। सांख्य और योग दर्शन के लिए भी यही बात है । वैशेषिकदर्शन में भी कर्म की तात्त्विक विवेचना नहीं है। ऐसा होते हुए भी जीव अपने कर्मों के कारण ही सुख-दुःख आदि भोगते हैं–यह बात सब स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन ने कर्म के विषय में ठीक-ठीक विचार किया है। इनमें क्या-क्या साम्य और वैषम्य है ?-यह दिक्सूचन करना यहाँ प्रसंगतः आवश्यक है।

न्यायदर्शन कर्म को पुरुष-कृत मानता है और उसका फल भी होना चाहिए, यह भी स्वीकार करता है, परन्तु उसका कहना है कि कई बार पुरुष-कृत कर्म निष्फल भी होते देखे जाते हैं, इसलिए वह कर्म और उसके फल के बीच में एक नवीन कारण-ईश्वर को स्थान देता है। उसका मन्तव्य है कि "कर्म अपने-आप फल नहीं दे सकता है। यह निश्चित है कि फल कर्म के अनुसार ही होता है, तदपि उसमें ईश्वर कारण है। जैसे-वृक्ष बीज के अधीन है, तदपि वृक्ष की उत्पत्ति में हवा, पानी, प्रकाश की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार कर्म के अनुसार ही फल होता है, तदपि फलोत्पति में ईश्वर कारण है।" इस तरह न्यायदर्शन कर्म का साक्षात् फलभोग न मानते हुए ईश्वर को कर्मफल का नियन्ता मानता है ।

यह मान्यता बौद्ध और जैनदर्शन के विपरीत है । इन दोनों दर्शनों का मन्तव्य है कि कर्म-फल के लिए किसी दूसरी शक्ति के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। कर्म अपना फल अपने-आप देता है । ईश्वर को इसमें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कहा जा सकता है कि प्राणी बुरे कर्म तो कर लेता है, परन्तु वह उसका फल भोगना नहीं चाहता। अतः उसे कर्म-फल देने वाली कोई दूसरी शक्ति माननी चाहिए।... .परन्तु यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्राणी के चाहने या न चाहने से कर्म अपना फल देते हुए नहीं रुक सकते हैं और नहीं रुकते भी हैं। प्राणी जब तक कर्म नहीं करता है, वहाँ तक वह स्वतन्त्र है, परन्तु जब वह कर्म कर चुकता है, तो वह उस कृतकर्म के अधीन हो जाता है। अतः उसके न चाहने पर भी कर्म अपना फल उस पर प्रकट कर देता है। जैसे एक व्यक्ति गर्म पदार्थ खाकर धूप में खड़ा हो जाय और फिर चाहे कि मुझे प्यास न लगे, तो उसके चाहने मात्र से प्यास लगे बिना नहीं रह सकती है। वे गर्म पदार्थ अपना असर बताये बिना नहीं रह सकते । इसी तरह कर्म भी अपना फल दिये बिना नहीं रहते। अतः कर्म और कर्म-फल के बीच में किसी और शक्ति का हस्तक्षेप उचित नहीं प्रतीत होता ।

यह भी शंका की जा सकती है कि कर्म जड़ हैं, इसलिए वे जीव को फल देने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?... इसका समाधान यह है कि जीव के साथ कर्म जब सम्बद्ध होते हैं, तब उनमें कर्म-फल देने की शक्ति उसी तरह प्रकट हो जाती है, जैसे-नेगेटिव और पोजिटिव तारों के मिश्रण से बिजली। अतः कर्म और उसके फल के लिए किसी तीसरी शक्ति की

उसी तरह आवश्यकता नहीं है, जैसे-शराब का नशा लाने के लिए शराबी और शराब के अतिरिक्त किसी और व्यक्ति की। अत: जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्ता है और स्वयं उसके फल का भोक्ता है, यह मान्यता ही उचित और संगत है। न्यायदर्शन ने जो कर्म-फल के विषय में आपत्ति उपस्थित करते हुए कहा कि पुरुष-कृत प्रयत्न कभी निष्फल भी जाते हुए देखे जाते हैं-इसका जैनाचार्यों ने सुन्दर समाधान किया है । उन्होंने कहा कि कर्म का फल कभी व्यर्थ नहीं होता है, इसका फल-जल्दी या देर से कभी-न-कभी अवश्य प्राप्त होता है।

कभी पापात्मा सुखी देखे जाते हैं और धर्मात्मा प्राणी कष्ट का अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, इसका कारण 'कर्म का फल नहीं मिलना' नहीं है, परन्तु यह उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों का फल समझना चाहिए। पापात्मा का सुखी देखा जाना उसके पूर्वकृत शुभकर्म का उदय है। वह अभी जो पाप कर रहा है, उसका दुष्परिणाम उसे आगे भोगना पड़ेगा ही। इसी तरह जो धर्मात्मा अभी दु:खी देखा जाता है। यह उसके पूर्वकृत अशुभ कर्म का परिणाम समझना चाहिए । अभी के किये हुए धर्मानुष्ठान का फल उसे भविष्य में अवश्य प्राप्त होगा । इस प्रकार कर्म और कर्म-फल के कार्य-कारण-भाव में कोई दोष नहीं आता है। इस व्यवस्था के लिए कर्म और कर्मफल के बीच में ईश्वर को डालने की कोई आश्यकता नहीं है।

"कर्म में स्वयं फल देने की शक्ति है"-इस विषय में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन एकमत हैं, तदपि कर्म के स्वरूप के विषय में इनमें महत्त्वपूर्ण भेद है, बौद्धदर्शन के अनुसार कर्म केवल पुरुष-कृत-प्रयत्न ही नहीं है, अपितु एक विश्वव्यापी नियम है अर्थात् बौद्ध कर्म को कार्य-कारण-भाव के रूप में मानते हैं, जबकि जैनदर्शन कर्म को स्वतंत्र पुद्गलद्रव्य मानता है। जीव की तरह कर्म भी स्वतंत्र जड़ पदार्थ है। जैनदर्शन के अनुसार कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को अपने साथ सम्बन्धित कर लेता है, जिनके कारण उसका मूल शुद्ध स्वरूप विकृत हो जाता है । इस प्रकार जैनदर्शन कर्म को जीव-विरोधी-गुण वाला जड़ द्रव्य मानता है। इस जीव की सम्बद्ध कर्म शक्ति के द्वारा सारा विश्व-प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। यही संसार का मूल स्रोत है। यही आत्मा और परमात्मा के भेद का कारण है ।

2.2 जैनदर्शन और कर्म-

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का वास्तविक मौलिक स्वरूप अनन्त-ज्ञानमय, अनन्त-दर्शनमय, अनन्त-सुखमय, अनन्त शक्तिमय और शुद्ध ज्योतिर्मय है। वह स्फटिक मणि की तरह निर्मल और प्रकाश-स्वभाव वाली है; परन्तु अनादिकाल से वह विभाव-दशा को प्राप्त हो रही है। दर्शनमोह-अज्ञान के कारण वह रागद्वेष रूप परिणति करता है। यह राग-द्वेष की परिणति ही भावकर्म है। यह आत्म-गत-संस्कार विशेष है। भावकर्म के कारण आत्मा अपने आस-पास चारों तरफ रहे हुए भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उन्हें एक विशेष स्वरूप अर्पित करता है। यह विशिष्ट अवस्था को प्राप्त भौतिक परमाणु-पुञ्ज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहा जाता है। यह कार्मण शरीर संसारवर्ती आत्मा के साथ सदा बना रहता है। आत्मा जब एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती है, तब भी यह सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ रहता है और यही स्थूल शरीर की भूमिका बनता है। परलोक या पुनर्जन्म का आधाररूप यही कार्मण-शरीर या कर्म-तत्त्व है।

जैनदर्शन तात्त्विक दृष्टि से सब जीवात्माओं को समान मानता है, फिर-भी संसारवर्ती जीवात्माओं में जो भिन्नता और विविधता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण यह कर्म ही है । कर्मों की भिन्नता के कारण जीवात्माओं में नानात्व पाया जाता है। तात्त्विक दृष्टि से सूक्ष्म निगोद के जीवों में भी वही अनन्त-ज्ञान-दर्शन-मय आत्मा शक्तिरूप में विद्यमान है, परन्तु उनकी शक्ति कर्मों के गाढ आवरण के वैविध्य से जीवों की अवस्था में भी वैविध्य पाया जाता है। इसलिए कोई आत्मा पृथ्वीकाय में, कोई अप्काय में, कोई अग्नि, वायु और वनस्पति-काय में, कोई त्रस रूप में, कोई पशु-पक्षी की योनि में, कोई मनुष्य की योनि में, कोई नरक और स्वर्ग योनि में नाना-विध दु:ख-सुख का अनुभव करती है । आत्मा जैसे-जैसे कर्म करती है, उसी के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न योनियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अच्छे या बुरे अनुभवों का वेदन करना पड़ता है ।

2.3 कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध–

कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के विषय में विचारवर्ग में नाना प्रकार के प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है । कोई यह शंका करता है कि आत्मा तो अमूर्त है और कर्म मूर्त है, तो अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध कैसे हो सकता है?..... कोई यह प्रश्न करता है कि आत्मा का मूल स्वरूप तो शुद्ध-बुद्ध है तो उसके साथ कर्म का सम्बन्ध क्यों हुआ? कब हुआ? और कैसे हुआ? शुद्ध आत्मा के साथ यदि किसी तरह सम्बन्ध होना मान लिया जाय, तब तो मुक्तात्मा के साथ भी कर्म का सम्बन्ध क्यों नहीं होगा?..... इसप्रकार के प्रश्नों का जैनाचार्यों ने बहुत ही सुन्दर उत्तर दिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार चैतन्य-शक्ति अमूर्त है और शराब मूर्त है, तदपि मूर्त शराब का अमूर्त चैतन्य-शक्ति के साथ सम्बन्ध होता है, जिसके कारण शराब पीते ही चैतन्य-शक्ति पर आवरण आ जाता है । इसी तरह आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त है, तदपि मूर्त कर्मों से अमूर्त आत्म-शक्ति पर आवरण पड़ जाता है। अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध होना अघटित नहीं है ।

शुद्ध-बुद्ध आत्मा के साथ कर्म पुद्गल का सम्बन्ध क्यों हुआ, कब हुआ और कैसे हुआ? -इस प्रश्न का उत्तर सभी तत्त्व-विचारकों ने लगभग एक-सा ही दिया है। सांख्य-योग दर्शन में प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध वेदान्त दर्शन में माया और ब्रह्म का संबंध, न्यायवैशेषिक दर्शन में आत्मा और अविद्या का सम्बन्ध, कैसे, कब और क्यों हुआ? इसका उत्तर देते हुए वे-सब विचारक यही कहते हैं कि इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकालीन है, क्योंकि इस सम्बन्ध का आदि क्षण ज्ञान-सीमा के सर्वथा बाहर है। जैनदर्शन का भी यही मन्तव्य है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक समय में आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध हुआ। यदि आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को कोई आदि मान ली जाती है, तो प्रश्न होता है कि उस सम्बन्ध के पहले आत्मा शुद्ध-बुद्ध था, तो उसे कर्म क्यों कर लगे?..... शुद्ध आत्मा को भी कर्म लग सकते हैं, तो मुक्त होने के बाद भी कर्म लग सकते हैं-यह मानना पड़ेगा, जो इष्ट नहीं है। अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। एक बार प्रयत्न-पूर्वक कर्मों को आत्मा से सर्वथा अलग कर देने पर पुनः कर्म क्यों नहीं लगते?..... इस प्रश्न का स्पष्टीकरण तत्त्व-चिन्तकों ने इस प्रकार किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा आत्मिक गुणों का सम्पूर्ण विकास हो जाने के बाद राग-द्वेष-अज्ञान आदि दोष जड़ से उच्छिन्न हो जाते हैं, अतः वे प्रयत्न-शुद्धि-प्राप्त आत्मा में स्थान पाने के लिए सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि मान लेने पर भी यह शंका खड़ी होती है कि जो वस्तु अनादि है, उसका अन्त कैसे हो सकता है?..... .आत्मा और कर्म का सम्बन्ध यदि अनादि है, तो उसका अन्त नहीं हो सकता है और कर्मों का अन्त हुए बिना मोक्ष नहीं हो सकता है। आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध, मानने पर यह बाधा क्यों नहीं उपस्थित होगी?

इसका समाधान करते हुए तत्त्व-विचारकों ने कहा है कि जो अनादि है, वह अनन्त ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है। खान में स्वर्ण और मिट्टी का संयोग अनादिकालीन है, तदपि अग्नि आदि के प्रयोग से उसका अन्त होता है। अतः अनादि होते हुए भी कोई वस्तु सान्त हो सकती है । कर्म और आत्मा का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। वह अनादि होते हुए भी सान्त है। ज्ञान, ध्यान, तप आदि के द्वारा कर्म-बन्ध से मुक्ति हो सकती है अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-सान्त है। प्रवाह की अपेक्षा अनादि अनन्त हो सकता है। कर्म-सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि होते हुए भी व्यक्ति रूप से सादि भी है, क्योंकि राग-द्वेषादि की परिणति से कर्म-वासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। अतः आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-सान्त, सादि और अनादि-अनन्त भी (भिन्न-भिन्न विवक्षाओं की अपेक्षा से) कहा जा सकता है। सामान्य रूप से यह सम्बन्ध अनादि- सान्त माना जाता है।

2.4 कर्म-बन्ध के कारण और मुक्ति के उपाय–

कारण के बिना कार्य नहीं होता, यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। अतः कर्म-बन्ध का कारण क्या है, प्रश्न स्वाभाविक

रूप से उठता है। जैनाचार्यों ने कर्म-बन्ध का मुख्य कारण आत्मा की विभाव-परिणति को बताया है। आत्मा मोह व अज्ञान के कारण राग-द्वेष के चक्कर में पड़ जाता है, जिससे वह द्रव्यकर्म परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। राग और द्वेष ही कर्म-बन्ध के मुख्य कारण हैं। कहा भी है- "रागो य दोसो दुवि कम्मबीयं।" संसार वृक्ष के लिए राग और द्वेष ही कर्म के बीज हैं। इसी को विशेष स्पष्टता के साथ कहते हुए कर्म-बंध के पाँच कारण भी बताये गये हैं- (1) मिथ्यात्व (अशुद्ध श्रद्धा) (2) अविरति (त्याग न करना), (3) प्रमाद (असावधानता), (4) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और 5. अशुभ योग (अशुभ प्रवृत्ति)।

जैन दर्शन में कर्म-बन्ध का मुख्य आधार बाह्य क्रियाओं को नहीं, बल्कि भावनाओं को माना गया है। बाहर से क्रिया यदि पाप-मय भी दिखाई देती हो, तदपि उसमें यदि भाव-विशुद्धि है, तो वह चिकने कर्म-बन्धन का कारण नहीं होती। इसके विपरीत यदि भावों में मलिनता है, तो ऊपर से अच्छी प्रतीत होने वाली क्रिया से भी पाप का ही बन्धन होता है। बाह्य क्रिया पुण्य-पाप की सच्ची कसौटी नहीं है। इसका आधार भावनाओं पर है। अत: "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:" कहा गया है। जैनसाहित्य में प्रत्येक कर्म-प्रकृति के बन्ध के कारणों का विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। यहाँ उनका विस्तार-भय से उल्लेख नहीं किया जाता है।

कर्म-बन्ध के कारणों का प्रतिपादन करने के साथ ही साथ कर्मों के चक्कर से छुटकारा पाने के उपायों का भी जैनदर्शन ने स्पष्ट रूप से विवेचन किया है। कर्मबन्धनों से छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि नवीन आते हुए कर्मों को रोकने का प्रयत्न किया जाय और पुराने बँधे हुए कर्मों को ज्ञान, ध्यान, रूप आदि के द्वारा दूर किया जाय। नवीन कर्मों के आगमन को रोकने का नाम "संवर" है और पुराने कर्मों को नष्ट करने का नाम "निर्जरा" है। संवर और निर्जरा के द्वारा जब आत्मा कर्म के बन्धनों को तोड़ डालता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

आत्मा को बन्धनों में बाँधने वाले मुख्यत: अज्ञान, राग और द्वेष हैं। इनके कारण ही आत्मा की यह बद्ध-अवस्था है। इन कारणों को दूर कर देने से आत्मा मुक्त हो सकती है। सम्यग्दर्शन (सत्यश्रद्धा) और मोक्षाभिमुख ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो सकती है और मध्यस्थ भाव के कारण राग-द्वेष का उन्मूलन हो सकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही मोक्ष को प्राप्त करने का राजमार्ग है। सबसे पहले यह श्रद्धा होनी चाहिए कि "मैं इन सांसारिक पदार्थों से भिन्न हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप ज्ञानमय, दर्शन-मय सुखमय और शक्तिमय है। ये बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूँ।" इस प्रकार जब आत्मा की वास्तविक प्रतीति होती है, तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्षाभिमुख चैतन्य-प्रवृत्ति ही सम्यग्ज्ञान है। शुद्ध-श्रद्धा और शुद्ध-ज्ञान के साथ कल्याण-पथ का अनुसरण करना सम्यक्-चारित्र है। शुद्ध-ज्ञान और शुद्ध क्रियाओं के बल पर यह जीव कर्म के बन्धनों से मुक्त हो सकता है। आत्म-ज्ञान और माध्यस्थ्य-भाव यही मुक्ति के मूल उपाय हैं। ध्यान, व्रत, तप आदि इन्हीं मूल कारणों के पोषक होने से उपादेय हैं।

जो आत्मा जितने अंश में मोह और राग-द्वेष की परिणति को मन्द करता है, वह उतना ही आत्म-स्वरूप के निकट पहुँचता है। इस तरतमता के कारण ही प्राणियों की विकसित या अविकसित अवस्थाएँ होती हैं। आध्यात्मिक विकास-क्रम की अवस्था का जैन-परम्परा में विशद वर्णन है। वह गुणस्थान के रूप में प्रसिद्ध है। जो आत्मा मोह और राग-द्वेष को नष्ट कर डालता है, वह मुक्तात्मा हो जाता है। वह ईश्वर हो जाता है और इस प्रकार वह आत्मा अपने मूल-स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। उसमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहने पाता है। कर्मवाद का यह सिद्धान्त यह प्रेरणा करता है कि "हे आत्माओं! उठो पुरुषार्थ करो, अपने स्वरूप के दर्शन करो और कर्म के बन्धनों को तोड़कर परमात्मा-भाव को प्रकट करो। तुम स्वयं परमात्मा हो। आवश्यकता है उस पर आये हुए आवरण को अपने प्रबल पुरुषार्थ से चीर डालने की।" इस प्रकार कर्म का महान् सिद्धान्त पुरुषार्थ का प्रेरणा देने वाला महामंत्र है।

2.5 कर्मवाद की व्यावहारिकता—

कर्मवाद का सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन में शान्ति का संचार करने वाला, वैराग्य के घने अन्धकार में प्रकाश की किरण चमका देने वाला और स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाने वाला गुरु भी है। मानव के जीवन में ऐसे भी अनेक प्रसंग आते हैं, जिनमें उसकी बुद्धि विचलित हुए बिना नहीं रहती। हर्ष और शोक के प्रसंगों में मानव क्रमशः उन्मत्त और अधीर हो उठता है। ऐसे प्रसंग पर उसकी बुद्धि को समतोल रखने के लिए कर्म के सिद्धान्त की महती उपयोगिता है। मानव जब यह जान लेता है कि मुझे प्राप्त होने वाला सुख-दुःख मेरे ही शुभाशुभ कार्यों का परिणाम है, मैं ही मेरे शुभाशुभ निर्माण का निर्माता हूँ इसमें किसी दूसरे का हाथ नहीं है, तो उसे एक-प्रकार की शान्ति का अनुभव होता है। सुख के समय में संयम और दुःख के प्रसंग में आश्वासन की सीख देने वाला कर्मवाद ही होता है।

जो आत्मा कर्म-सिद्धान्त के तत्त्व को हृदयंगम कर लेता है, वह कभी अपने को प्राप्त होने वाले दुःख के लिए किसी दूसरे को नहीं कोसता है। वह दूसरे पर कभी आक्षेप नहीं करता है कि इसके कारण मुझे यह हानि उठानी पड़ी या दुःख सहन करना पड़ा, वह अपने दुःख के लिए अपने-आपको उत्तरदायी मानता है। ऐसा करने से आत्म-निरीक्षण करने की प्रेरणा मिलती है और दूसरों पर आक्षेप करने की अनुचित प्रवृत्ति से सहज ही मुक्ति मिलती है।

जब जीवात्मा को यह विश्वास हो जाता है कि मेरा उत्थान और पतन मेरे हाथों में ही है, तब वह एकदम उत्साह और शौर्य से भर जाता है। निराशा का वातावरण दूर हो जाता है और अपने उज्जवल भविष्य का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। इस निर्माण कार्य में आने वाली विघ्न-बाधाओं के सामने भी वह महान हिमाचल की तरह अडोल रह सकता है। कर्मवाद जीवन में नवीन प्राण फूँक देता है । वह जीवन में ऐसा प्रकाश भर देता है कि वह नवीन रूप में जगमगा उठता है। दुःख और नैराश्य से मुरझाया हुआ पौधा कर्मवाद से नवजीवन प्राप्त कर लह-लहा उठता है। यह है कर्मवाद का व्यावहारिक उपयोग।

कर्मवाद जहाँ एक ओर व्यावहारिक शान्ति का मूल है, वहीं वह दूसरी ओर आत्मा को परमात्मा बनने की प्रेरणा करने वाला अनुपम तत्त्व भी है ।

2.6 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-"जीव स्वयं अपने कर्मों का.....है और स्वयं उसके फल का.....है।

(क) भोक्ता, कर्ता ☐ (ख) कर्ता, भोक्ता ☐ (ग) कर्त्ता, अभोक्ता ☐

प्रश्न 2-"आत्मा और कर्म का संबंध अनादि है, किस दर्शन में माना गया है ?

(क) बौद्ध दर्शन ☐ (ख) जैनदर्शन ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 3-नवीन कर्मों के आगमन को रोकना क्या कहलाता है ?

(क) बंध ☐ (ख) निर्जरा ☐ (ग) संवर ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का वास्तविक मौलिक स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 2-कार्मण शरीर को स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 3-निर्जरा किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-कर्मबंध के कारण और उनसे मुक्ति के उपाय बताइए ?

पाठ 3–कर्मबंध के कारण और प्रकार

3.1 कर्मबंध के पाँच कारण माने गये हैं—**'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः'।।1।।**

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

1. मिथ्यात्व के गृहीत और अगृहीत, ऐसे दो भेद होते हैं।

गृहीत—पर के उपदेश आदि निमित्त से विपरीत बुद्धि का होना। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु आदि का श्रद्धान करना।

अगृहीत—बिना उपदेश, अनादिकालीन संस्कारवश परवस्तु को अपनी समझना, किसी भी प्रकार की एकान्त बुद्धि रखना आदि। मिथ्यात्व के गृहीत, अगृहीत और सांशयिक, ऐसे तीन भेद भी होते हैं तथा एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान, ऐसे पाँच भेद भी होते हैं।

एकांत—अनेक धर्मात्मक पदार्थ को किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं, जैसे—वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है अथवा नित्य ही है, वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य ही है इत्यादि।

विपरीत—धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, जैसे कि हिंसा से स्वर्ग मिलता है।

विनय—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, उन सबका समान विनय नमस्कार आदि करना।

संशय—सच्चे तथा झूठे दोनों प्रकार के पदार्थों में किसी एक पक्ष का निश्चय न होना, जैसे—सग्रन्थ लिंग मोक्ष का साधन है या निर्ग्रन्थ लिंग।

अज्ञान—जीवादि पदार्थों को 'यही है, इसी प्रकार से है' इस तरह से विशेषरूप न समझने को अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं।

विस्तार से मिथ्यात्व के 363 भेद भी माने गये हैं तथा जीव के परिणामों की अपेक्षा और अधिक विस्तार करने से असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो सकते हैं।

3.2 द्रव्यकर्म और भावकर्म के भेद से कर्म दो प्रकार का है। शास्त्रों में प्रधानरूप से पुद्गल की पर्याय को द्रव्यकर्म और जीव की पर्याय को भावकर्म कहा गया है। पुद्गल की पर्याय क्रिया–प्रधान और जीव की पर्याय भाव–प्रधान है। इसलिए पुद्गल–वर्गणाओं के आपसी सम्बन्ध से बना स्कन्ध द्रव्यकर्म है और जीव के उपयोग में राग आदि के कारण ज्ञेयों के साथ हुआ बन्ध भावकर्म है। योगों की परिस्पन्द क्रिया के फलस्वरूप द्रव्यकर्म–रूप पुद्गल–स्कन्ध जीव के आत्म प्रदेशों के साथ बँधते हैं।

वर्गणाभेद की अपेक्षा (पुद्गल की 23 वर्गणाओं में से केवल पाँच वर्गणाएँ आहार–वर्गणा, भाषा–वर्गणा, मनोवर्गणा, तेजोवर्गणा और कार्मण–वर्गणा) ही जीव द्वारा कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य हैं। इन्हें जीव–द्रव्य कर्म–रूप से ग्रहण करता और छोड़ता है। इनमें कार्मण–वर्गणा से कार्मण शरीर, तैजस् वर्गणा से तैसज् शरीर और शेष तीन से शरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, द्रव्यमन आदि बनते हैं। इसे नो–कर्म कहते हैं। इस प्रकार कर्म और नोकर्म,–ये दो भेद हैं। जीव जिस प्रकार योगों द्वारा कार्मणवर्गणाओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीर–सम्बन्धी नोकर्म वर्गणाओं को भी ग्रहण करता है। इसमें नामकर्म निमित्त होता है।

जीव के उपयोगरूप भावकर्म संकल्परूप होने से गणना करने योग्य नहीं हो पाते, परन्तु स्थूलरूप से भावकर्म को 14 प्रकारों में विभक्त किया गया है–मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और 3 वेद। ये सभी मोह, राग, द्वेष में गर्भित हैं। मिथ्यात्व मोह में, मान–लोभ–हास्य–रति और तीनों वेद आदि सात राग में तथा क्रोध, माया, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा–ये छह द्वेष में समाहित हैं। राग भी शुभ और अशुभ आदि दो प्रकार का है। दान, पूजा, संयम, तप आदि शुभ हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ हैं। शुभ को पुण्यकर्म और अशुभ को

पापकर्म कहा जाता है। द्वेष तो सर्वथा अशुभ/पापरूप ही होता है।

भाव से प्रभावित कर्म और कर्म से प्रभावित भाव जैसे–शराब पीने से पीने वाले के शरीर, मन, नाड़ी–तन्त्र, क्रिया–कलाप प्रभावित होते हैं, वैसे ही जीव के योग (आत्म प्रदेशों के कम्पन) एवं उपयोग (भाव–विचार–संवेग–आवेग) से भी कर्म प्रभावित होते हैं। शुभयोग–उपयोग कर्मपरमाणु पुण्य–प्रशस्त–सुखदायक कर्म–रूप में परिणमन करते हैं, तो अशुभ योग–उपयोग से वे ही कर्म–परमाणु पाप–कर्म–रूप (अशुभ–अप्रशस्त–दु:खदायी) से परिणमन कर लेते हैं तथा शुद्धोपयोग (आत्मा के निर्मल परिणाम) से कर्म–परमाणु पुण्य या पाप किसी भी रूप से परिणमन नहीं करते हैं, शुभ–अशुभ और शुद्ध–योग–उपयोग से केवल बँधने वाले नवीन पुद्गल–परमाणुओं में ही परिणमन नहीं होता, अपितु नवीन के साथ–साथ पूर्व–बद्ध कर्म–परमाणुओं में भी परिवर्तन होते हैं, अर्थात् पूर्व–बद्ध–कर्म भी प्रभावित होते हैं। शुद्ध परिणामों से बँधे हुए प्राचीन कर्म–परमाणुओं के बन्धन में शिथिलता (ढीलापन) आती है और उनकी निर्जरा या क्षय हो जाता है। इस सिद्धान्त को मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, चिकित्सा–विज्ञान, जीनोमथ्योरी, विधिकानून आदि भी स्वीकार करते हैं तथा अनुभव में भी आता है। देखिये–

शरीर विज्ञान के अनुसार अच्छे भावों से शरीर–ग्रंथियों से स्रवित–रस बड़ा गुणकारी होता है और दूषित भावों से स्रवित रस हानिकारक होता है। प्रेम एवं वात्सल्य भाव से पिलाया गया माँ का दूध अमृत–तुल्य प्रभावक होता है और दूषित परिणामों से वही दूध विष–तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार आत्म–विश्वास व अनुकूल सद्विचार आदि अच्छे परिणामों से रोग–प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है और रोग शीघ्र दूर होते हैं। इसके विपरीत आत्म–विश्वास की कमी प्रतिकूल विचार आदि से प्रतिरोधक शक्ति घटती है और रोग शीघ्र दूर नहीं होते। दुश्चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, तनाव, आवेग, उद्वेग आदि दूषित भावों से विभिन्न शारीरिक, मानसिक रोग होते हैं तथा दया, सेवा, परोपकार, क्षमा, नम्रता, सरलता और सद्विचारों से प्राय: आधि–व्याधि नहीं होती, रोग–प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है, श्वेत–रक्त कणिकाओं में वृद्धि होती है, आभा–मंडल उद्दीप्त होता है।

जीनोमथ्योरी के अनुसार–जीनों की विविधतानुसार भाव, रोग, अंग–उपांग होते हैं। जीव परिवर्तन के साथ जीन–सम्बन्धी भाव आदि में भी परिवर्तन करता हुआ पुन: दोष न करने की प्रतिज्ञा लेता है, उसके भावों में निर्मलता आती है, तनाव दूर होता है। गुरु भी उसे दोष–मुक्त कर कम दण्ड देते हैं। अमूर्तिक सूक्ष्म भावों में बाहर के जड़ तथा चेतन पदार्थों को प्रभावित करने की विचित्र सामर्थ्य होती है, यह इससे स्पष्ट होता है।

3.3 बन्ध के कारण और भेद–

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग,–ये 5 बन्ध के कारण शास्त्रों में कहे गऐ हैं। कषाय–सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गल स्कन्धों का जो ग्रहण करता है, वह बन्ध है। बन्ध के योग्य सूक्ष्म अनन्त–अनन्त पुद्गल वर्गणाएँ लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर स्थित हैं। काजल की डिब्बी की भाँति ये सम्पूर्ण लोक में परिव्याप्त हैं। अत: ये जीव के आत्म–प्रदेशों में भी स्थित हैं। बन्ध–योग्य इन वर्गणाओं को "विस्रसोपचय" कहते हैं। जीव के राग–द्वेषादि भावों का निमित्त पाकर ये ही द्रव्य–कर्म और नो–कर्मरूप से परिणत हो जाती हैं द्रव्यकर्मरूप कार्मणवर्गणाएँ आत्म–प्रदेशों पर एकक्षेत्रावगाही द्रव्य से स्थित होकर एक सूक्ष्म शरीर की रचना करती हैं, जिसे 'कार्मण शरीर' कहते हैं। यही संसारी जीव का मूलभूत शरीर है, जो जीव की एक पर्याय समाप्त होने पर भी जीव का साथ नहीं छोड़ता। अनादिकाल से ही यह जीव के साथ बँधा चला आ रहा है। इसमें यद्यपि प्रतिक्षण कुछ पुराने कर्मप्रदेश झड़ते हैं और कुछ नये प्रदेश जुड़ते चले आते हैं, तो भी संतान क्रम से यह ध्रुव बना रहा है। जीव के बाह्य शरीरों का और रागादि भावों का प्रेरक यही जो कार्मण शरीर है, उसके पूर्णनाश/क्षय होने पर ही मुक्ति होती है। मुमुक्षु साधक इसी को पाने के लिए सतत् साधना–रत रहते हैं। मुक्त जीव फिर कर्म–बन्धन में नहीं पड़ते। जैसे–घी फिर दूध नहीं बनता।

बन्ध–भेद—प्रकृति बन्ध, स्थिति–बन्ध, अनुभाग–बन्ध और प्रदेश–बन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार का है।

(क) प्रकृति बन्ध–आत्मा के सम्बन्ध को पाकर कर्मों के स्वभावों को प्रकट होना प्रकृति–बन्ध है; प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे–नीम का स्वभाव कड़वा और ईख का स्वभाव मीठा। जीव का स्वभाव जानना–देखना और पुद्गल का स्वभाव रूप–रसादि है। जैसा–जैसा चित्र–विचित्र योग तथा उपयोग यह जीव करता है, वैसा–वैसा विचित्र स्वभाव इस कार्मण शरीर में पड़ जाता है। जैसे–यह शरीर चलने–बोलने, देखने–सुनने आदि विभिन्न प्रकृतियों (स्वभावों) को पाकर अनेक अंगोपांग वाला हो जाता है, वैसे ही यह एक कार्मण–शरीर भी विभिन्न स्वभावों को पाकर अनेक भेदों वाला हो जाता है। इस तरह द्रव्यकर्म की ज्ञानावरणादि 8 मूल प्रकृतियाँ और 148 उत्तर प्रकृतियाँ कर्म–सिद्धान्त के शास्त्रों में कही गई हैं।

कर्म की आठ प्रकृतियाँ और उनका स्वभाव–(1) **ज्ञानावरण**–जो ज्ञान को ढके, वह ज्ञानावरण; इसका स्वभाव देवता के मुख पर वस्त्र जैसा है। देवता–विशेष के मुख पर पड़ा वस्त्र उस देवता–विशेष के ज्ञान होने में बाधक बनता है। (2) **दर्शनावरण**–जो वस्तु को नहीं देखने देवे, वह दर्शनावरण; जैसे–प्रतिहार अर्थात् राजद्वार पर बैठा पहरेदार। यह राजा को देखने (मिलने) से रोकता है। इसी तरह दर्शनावरण वस्तु का दर्शन नहीं होने देता। (3) **वेदनीय**–सुख–दुःख का वेदन/अनुभव कराता है, वह वेदनीय, इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवार की तरह है, जिसे चखने पर कुछ सुख मिलता है, पर जीभ के कटने से अत्यन्त दुःख होता है। इसी तरह साता–असाता वेदनीय कर्म सुख–दुःख को उत्पन्न करते और उनका अनुभव कराते हैं। (4) **मोहनीय**–मोहित/अचेत करना। इसका स्वभाव मदिरा जैसा होता है। मद्य अर्थात् मदिरा शराबी को मदहोश/अचेत/असावधान कर देती है। उसे अपने स्वरूप का/अपने आप का कुछ भी विचार नहीं रहता। इसी तरह मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित/बेभान बना देता है, जिससे उसे अपने स्वरूप का विचार/बोध ही नहीं हो पाता। (5) **आयुकर्म**–जो पर्याय धारण करने के निमित्त प्राप्त हो अर्थात् जो किसी पर्यायविशेष में रोके रखे। इसका स्वभाव लोहे की साँकल या काठ के यंत्र की तरह है। जैसे–साँकल या काठयंत्र पुरुष को अपने स्थान में ही रोके रखते हैं, अन्यत्र नहीं जाने देते, वैसे ही आयुकर्म मनुष्यादि पर्यायों में रोके रखता है। आयु–समाप्ति के पूर्व अन्य पर्याय में नहीं जाने देता। (6) **नामकर्म**–जो नाना तरह के चित्र बनाता है, उसी तरह नामकर्म जीव के नाना रूपों का निर्माण करता है। (7) **गोत्रकर्म**–ऊँच–नीचपने को प्राप्त करना। इसका स्वभाव कुम्हार के समान है। जैसे–कुम्हार मिट्टी के छोटे–बड़े बर्तन बनाता है, वैसे ही गोत्र–कर्म ऊँच–नीच गोत्रों में जन्म कराता है। जीव की ऊँच नीच अवस्था बनाता है। (8) **अन्तराय**–जो अन्तर/व्यवधान बाधा पैदा करे, वह अन्तराय कर्म है। इसका स्वभाव भंडारी (खजांची) की तरह है। जैसे–भंडारी दूसरे को दान देने में विघ्न करता है, वैसे ही अन्तराय कर्म दान–लाभ आदि में बाधा उपस्थित करता है।

घाती–अघाती प्रकृतियाँ–जीव में दो प्रकार के विकार होते हैं–(1) द्रव्य–प्रदेश–विकार, और (2) भाव–विकार। 1. प्रदेश–विकार अर्थात् बाह्य संयोग–वियोग। जैसे–जीव का शरीर काला–गोरा, दुबला–पतला या छोटा–बड़ा होना। भाव विकार से तात्पर्य है जीव के राग–द्वेष मोह–भावों का होना, ज्ञान की हानि–वृद्धि होना। जीव के अन्तरंग/शुद्धभाव मुख्यतः ज्ञान–दर्शन सुख–वीर्य हैं। घाती–कर्म जीव के इन्हीं गुणों को प्रकट नहीं होने देते। ये जीव के भावों को आच्छादित/विकृत करते हैं। अतः ये घातिया कहलाते हैं। उल्लिखित कर्म की 8 मूल प्रकृतियों में से चार–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय घातिया कर्म हैं। ये भी सर्वघाती और देशघाती के भेद से दो प्रकार की हैं। कर्मों की कुल 148 प्रकृतियों में से सर्व–घाती 20 और देशघाती 26 उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

2. जीव के यदि मोह–मिथ्या नहीं हैं, तो उसके प्रदेश–विकारों का/बाह्य संयोग–वियोगरूप द्रव्य विकारों का उसके शुद्ध स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे–अरिहन्त अवस्था में अघातिया कर्मों के रहते हुए भी उनके ज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता। अघाती कर्मों के रहते हुए भी जीव के राग–द्वेषात्मक भाव विकार नहीं होते, जीव के स्वाभाविक गुणों का घात नहीं होता। इसलिए ये अघातिया कहे जाते हैं। ये मूलतः चार हैं–वेदनीय, आयु, नाम

और गोत्रकर्म। अघातिया कर्मों के भी दो भेद हैं–1. प्रशस्त (पुण्यरूप) और 2. अप्रशस्त (पापरूप) प्रकृतियां। प्रशस्त–प्रकृतियों की संख्या भेद की विवक्षा से 68 और अभेद विवक्षा से 42 हैं। अप्रशस्त प्रकृतियों की संख्या भेद–विवक्षा से बन्ध रूप 98 और उदय रूप 100 हैं तथा अभेद विवक्षा से बंध योग्य 82 और उदययोग्य 84 प्रकृतियाँ हैं। 5 वर्ण, 5 रस, 2 गंध, 8 स्पर्श आदि–ये 20 प्रकृतियाँ प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों रूप में होती हैं। अतः इनकी गणना दोनों में होती है।

वेदनीय को अघातिया कर्मों में गिनाया गया है, परन्तु यह सर्वथा अघातिया नहीं हैं। मोहनीयकर्म के सद्भाव में यह सुख–दुःख का (साता–असाता) का तीव्र वेदन कराती हैं। अतः वेदनीय की मूल प्रवृत्ति अघातिया होते हुए भी घातियावत् मानी गई है। यह मोही जीवों को ही सुख–दुःख का वेदन कराती है, निर्मोही वीतरागी साधकों को नहीं।

(ख) स्थिति बन्ध–जीव के रागादि भावों के निमित्त से कार्मण–वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि 8 मूल प्रकृतियों के रूप में परिणमन हो जाने के बाद जितनी अवधि तक वह जीव के आत्म–प्रदेशों के साथ बद्धरूप से टिकी रहे, उतना काल उस बन्ध की स्थिति का कहलाता है। अर्थात् बद्धकर्म में स्थिति/कालावधि का निश्चित होना स्थितिबन्ध है। जघन्य स्थिति में लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक इसके अनेक भेद हैं। सबसे जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है। प्रत्येक कर्मप्रकृति की जघन्य, उत्कृष्ट अथवा मध्यम बन्ध–रूप स्थिति अवश्य होती है। दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा–कोड़ी सागर की है। आठों कर्मों की स्थिति में यह सर्वोत्कृष्ट है। चारित्रमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ा–कोड़ी सागर की है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। नाम और गोत्रकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ा–कोड़ी सागर है तथा आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरमात्र है। वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त, नाम और गोत्र कर्मों की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त तथा शेष सभी कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

बन्ध–सत्त्व–उदय–निर्जरा–बद्ध कर्म–विशेष बन्ध की स्थिति के काल से लेकर जितने काल तक बिना फल दिए बेकार–सा पड़ा रहता है, उसे "कर्म की सत्ता" कहा जाता है; परन्तु बन्ध स्थिति–काल के पूरा होने पर वह कर्म फलोन्मुख होता है, जीव के भावों पर अपना प्रभाव डालने के लिए तत्पर होता है, तो यह उसका परिपाक या उदयकाल कहलाता है। स्थिति–काल का अन्तिम क्षण ही वस्तुतः उदय–काल का प्रारम्भ है, क्योंकि उस क्षण में वह फल देकर उत्तरवर्ती क्षण में ही वह आत्म–प्रदेशों से छूटकर पुनः कार्मण वर्गणाओं में मिल जाता है। इसे ही कर्मों का झड़ना या निर्जरा कहा जाता है।

निषेक रचना–समय–समय में जो कर्म खिरैं, उनके समूह को निषेक कहते हैं। कर्मों की स्थिति में निषेकों की रचना होती है। किसी एक समय में बँधा हुआ कर्म–वर्गणाओं का समूह "एक समय प्रबद्ध" कहलाता है, इसमें आठों कर्म–प्रकृतियों के कार्मण–स्कन्ध शामिल रहते हैं। प्रत्येक प्रकृति के स्कन्ध में अनन्तों कार्मण–वर्गणाएँ होती हैं, जो समान स्थिति वाली नहीं होतीं। कुछ की स्थिति सबसे–कम होती है, कुछ वर्गणाओं की स्थिति सबसे–अधिक होती है। यही उस विवक्षित कर्म की सामान्य स्थिति कही जाती हैं

कर्मविशेष की विवक्षित स्थिति के समयों को ईटों की भाँति नीचे–ऊपर क्रम से स्थापित करके एक–समय–प्रबद्ध की एक–एक प्रकृति के द्रव्य को वर्गणाओं में विभाजित कर उन क्रमबद्ध समयों पर नीचे से ऊपर की ओर स्थापित करें। सबसे अधिक वर्गणाएँ उसके ऊपर दूसरे समय पर स्थापित करें। उससे कुछ कम तीसरे समय पर रखें। इस प्रकार हानि क्रम से प्रत्येक समय पर कुछ–कुछ वर्गणाएँ रखते जाएँ। सबसे ऊपर अन्तिम समय पर सबसे कम अन्तिम शेष भाग रखकर उस विवक्षित द्रव्य को समाप्त करें। इस प्रकार एक–एक समय पर स्थापित वर्गणाओं का पिण्ड ही उस–उस समय का निषेक होता है।

उदय–सत्तारूप से निश्चेष्ट पड़ा कर्म जब फलोन्मुख होता है, तब वह उदय में आया कहा जाता है, परन्तु उदयोन्मुख होने पर भी नींद से उठे व्यक्ति की खुमारी की तरह वह कर्म कुछ काल तक फल देने में समर्थ नहीं हो पाता,

उतने काल को शास्त्रों में "आबाधा–काल" कहा जाता है। इस आबाधाकाल की समाप्ति पर अनन्तरवर्ती क्षण से ही उदय काल प्रारंभ हो जाता है।

एक समय प्रबद्ध कर्म का सारा द्रव्य एक ही बार फल देकर नहीं खिरता, अपितु उपर्युक्त निषेक रचना के अनुसार प्रति–समय क्रम से एक–एक निषेक उदय में आकर फल देकर खिरता है। इस क्रम से खिरते हुए अन्तिम समय पर स्थित अन्तिम निषेक उदय में आकर झड़ जाता है। इस प्रकार खिरते हुए जितने समयों में कुल द्रव्य खिर जाता है, वह उस विवक्षित कर्म की सामान्य स्थिति कही जाती है तथा जितने–जितने काल के पश्चात् जो–जो निषेक खिरता है, उतने–उतने काल–प्रमाण उस निषेक की "विशेष–स्थिति" कहलाती है। यह विशेष स्थिति एक विवक्षित निषेक की अपेक्षा केवल एक सूक्ष्म समय प्रमाण होती है। उदय–गत निषेक के अलावा आगामी समयों पर स्थित निषेक "सत्तागत निषेक" कहलाते हैं। उदय में आने पर ही ये अपना अच्छा या बुरा फल देते हैं।

(ग) अनुभाग बन्ध–"विपाकोऽनुभवः" बद्धकर्म का परिपाक होना, उसमें फलदान शक्ति का पड़ना "अनुभाग–बन्ध" है। दूसरे शब्दों में कर्म की फलदान–शक्ति की तारतम्यता का नाम अनुभाग है, जो भावात्मक होता है। इसलिए इसका माप "अविभागप्रतिच्छेद" से किया जाता है। आज की भाषा में अनुभाग प्रतिच्छेद को "डिग्री" कह सकते हैं। ताप का माप डिग्री में किया जाता है। शक्ति अंश या भावनात्मक यूनिट का नाम अविभाग प्रतिच्छेद है।

प्रकृति और अनुभाग में अन्तर है। प्रकृति कर्म के स्वभाव को बतलाती है, जबकि अनुभाग कर्म की तीव्र या मन्द फलदान शक्ति को (रस की मात्रा को) बता जाता है। प्रकृति सामान्य है और अनुभव उसका विशेष है। जैसे–आम की प्रकृति सामान्यतः उसका मीठापन (मिठास) है, परन्तु वह कितना मीठा है ? ..... कम या अधिक ? यह उसका अनुभाग है, इसी प्रकार दूध भी सभी समान प्रकृति वाले होते हैं, परन्तु भैंस के दूध में गाय की अपेक्षा ज्यादा चिकनाहट होती है और बकरी के दूध में उससे कम। इसी तरह बद्धकर्म में फलदान शक्ति की तारतम्यता का नाम 'अनुभाग' है।

राग–द्वेषात्मक भावकर्म की तीव्रता और मन्दता के अनुसार ही कर्मों में फल–दान की शक्ति पड़ती है। अधिक तीव्रता वाले भावकर्म से अधिक अनुभाग वाले द्रव्यकर्म का बन्ध होता है और हीन या मन्द कषाय वाले भावकर्म से हीन अनुभाग युक्त द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। यह अनुभाग बंध ही जीव के गुणों के विकास में बाधक है, प्रकृति नहीं।

घातिया कर्मों की फल देने की शक्ति–लता काठ, हड्डी और पत्थर के समान है। इनमें जैसा क्रम से अधिक–अधिक कठोरपना है, वैसा ही इनके अनुभाग में होता है। दारू भाग के अनन्तवें भाग तक शक्ति–रूप–स्पर्द्धक देश– घाती हैं और शेष बहुभाग से लेकर शैल–भाग तक के स्पर्द्धक सर्व–घाती हैं। इनके उदय होने पर आत्मा के गुण प्रकट नहीं होते। अघातिया कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों के शक्ति–भेद–गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर मीठापन लिए हुए हैं। अप्रशस्त प्रकृतियों के शक्ति–भेद—नीबू, कांजीर विष और हालाहल के समान जानना चाहिए अर्थात् सांसारिक सुख–दुख के कारण दोनों ही पुण्य–पाप कर्म प्रकृतियों की शक्तियों को चार–चार तरह से तारतम्य–रूप से समझना अपेक्षित है।

(घ) प्रदेशबन्ध–बद्ध कर्म–स्कन्ध में स्थित परमाणुओं की संख्या प्रदेश–बन्ध है। इससे बद्ध कर्म के प्रदेशों का बोध होता है। द्रव्यकर्म की प्रत्येक प्रकृति में जितने कर्म परमाणु बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हें उस कर्म–प्रकृति का प्रदेश बन्ध कहते हैं। एक समय–प्रबद्ध की तो बात ही क्या है, एक–एक निषेक में भी अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं। आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि प्रति–समय योगविशेष से कर्मप्रकृतियों के कारणभूत एक क्षेत्रावगाहीरूप से स्थित सूक्ष्म अनन्तानन्त पुद्गल–परमाणु सब ओर से आत्म–प्रदेशों में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि प्रदेश बन्ध से जीव को कोई हानि या लाभ नहीं होता, क्योंकि कम प्रदेश हो या अधिक प्रदेश हो, फल तो तीव्र या मन्द अनुभाग का ही होता है, प्रदेश संख्या का नहीं।

समय–प्रबद्ध का 8 कर्म–प्रकृतियों में बँटवारा–एक समय में ग्रहण किया हुआ समय–प्रबद्ध 8 मूल–

प्रकृति–रूप परिणमता है। सभी मूल–प्रकृतियों में आयु कर्म का हिस्सा सबसे थोड़ा है। नामकर्म और गोत्रकर्म का भाग आपस में बराबर होता है, पर आयुकर्म से अधिक होता है। अन्तराय, दर्शनावरण और ज्ञानावरण इत्यादि इन तीनों का भाग भी आपस में समान है, तो भी नाम और गोत्रकर्मों से अधिक है। इससे भी अधिक मोहनीय कर्म का हिस्सा है तथा मोहनीय से भी अधिक भाग वेदनीय कर्म का रहता है। चूँकि वेदनीय कर्म सुख–दुःख का कारण है। अतः इसकी निर्जरा अधिक होती है। इसी से द्रव्यकर्म का सबसे अधिक भाग इस वेदनीय कर्म के खाते में जाता है। बाकी सब मूल प्रकृतियों के द्रव्य का स्थिति के अनुसार बँटवारा होता है। जिसकी स्थिति अधिक होती है, उसे अधिक हिस्सा, जिसकी स्थिति कम होती है, उसे कम हिस्सा तथा समान स्थिति वाले को समान द्रव्य हिस्से में आता है।

उपर्युक्त चारों में से प्रकृति और प्रदेश–बन्ध जीव के योगों के द्वारा होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग–बन्ध कषाय–रंजित उपयोग द्वारा होते हैं। इन चारों में स्थिति और अनुभाग बन्ध ही घातक हैं। इन्हें रोकने के लिए आत्म–हितैषियों को सतत सावधान रहना चाहिए।

3.4 सभी कार्य स्वभाव से ही निष्पन्न होते हैं–

ये चारों प्रकार के बन्धों के कार्य–द्रव्यकर्म के बन्ध, उदय आदि कार्य सहज स्वभाव से ही निमित्त–नैमित्तिक भाव के द्वारा निष्पन्न होते रहते हैं। इनका कोई संचालक, दिशा–निर्देश या नियन्त्रण कर्ता नहीं है। संसार के सारे क्रिया–कलाप अपने आप कर्मसिद्धान्तानुसार संचालित होते रहते हैं। इन कार्यों के निष्पादन के लिए किसी भी नियन्ता की आवश्यकता नहीं होती। जब तक द्रव्यकर्म और भावकर्म का निमित्त–नैमित्तिक संबंध रहेगा, तब तक संसार इसी भाँति चलता रहेगा। भावों की शुद्धिपूर्वक साधनारत रहकर संसार का अन्त किया जा सकता है।

3.5 स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध की मुख्यता–

उपर्युक्त चारों बंधों में स्थिति और अनुभाग बन्ध ही जीव के लिए हानिकारक और बाधक हैं, प्रकृति और प्रदेशबन्ध नहीं, क्योंकि कम अनुभाग वाले अधिक प्रदेशों का उदय जीव को थोड़ी ही बाधा पहुँचाता है, जबकि अधिक अनुभाग वाले थोड़े भी प्रदेशों का उदय अधिक हानि पहुँचा सकता है। जैसे–खौलते हुए जल की एक कटोरी भी देह में फोड़े और जलन पैदा कर देती है, जबकि कम गरम जल की एक बाल्टी भी व्यक्ति को उतनी या कोई हानि नहीं पहुँचाती। अतः कर्म–सिद्धान्त में सर्वत्र स्थिति और अनुभाग के बंध, उदय, उत्कर्षण आदि ही मुख्य हैं, प्रकृति बंध और प्रदेश बंध नहीं।

3.6 कर्म–संगति से जीव दुःखी है–

कर्म जड़ हैं, निर्बल हैं। जीव चेतन है, सबल है, अनन्त शक्ति सम्पन्न है, परन्तु अनादिकाल से कर्मों की संगति से दुर्गतियों के दुःखों को भोग रहा है। **"कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।।"**

विश्व–वैविध्य का वैज्ञानिक तर्क–पूर्ण समुचित समाधान–कारक, संसार–संचरण का सटीक, सरल, बोध–गम्य व्याख्या कारक, कर्म–बन्ध–प्रक्रिया और उससे मुक्ति हेतु मोक्षमार्ग का प्रेरक, ईश्वर कर्तृत्ववाद, भाग्यवाद, नियतिवाद–जैसी मिथ्या, भ्रान्त एवं एकान्त मान्यताओं का सयुक्तिक निराकरणकर्ता, कर्मविषयक सत्य तथ्यों का उद्घाटक जीवकर्म के अनादिसम्बन्ध का उद्घोषक, सच्चे सुख–शान्ति के सन्मार्ग का प्रकाशक, आत्मा की अनन्त शक्तियों के उद्घाटन का प्रेरक, थर्मामीटर की भाँति जीव के ऊँच–नीच भावों / परिणामों का अच्छा परिचायक, जीव और कर्म दोनों की स्वतन्त्र सत्ता का दिग्दर्शक, जैन सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान में सुदृढ़ आस्था का कारक, जीव को स्वयं के सुख–दुःख का कर्ता–भोक्ता– हर्ता का शुभ सन्देश देकर/बोध कराके सन्तोषी स्वावलम्बी और आत्मनियन्ता बनने की प्रेरणा देने वाला जैनाभिमत यह कर्म–सिद्धान्त जीवन और दृश्य जगत् के अनेक रहस्यों का उद्घाटन कर चिन्तकों को चमत्कृत करता है।

3.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-इनमें से शुभ राग कौन सा है ?

(क) दान देना ☐ (ख) हिंसा करना ☐ (ग) चोरी करना ☐

प्रश्न 2-द्रव्यकर्म की मूल प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) दो ☐ (ग) एक सौ बीस ☐

प्रश्न 3-जो किसी पर्याय विशेष में रोके रखे वह.....कर्म है।

(क) वेदनीय ☐ (ख) आयु ☐ (ग) ज्ञानावरण ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-भावकर्म को कितने भेदों में विभक्त किया है, नाम बताइए ?

प्रश्न 2-राग कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 3-ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 4-जीव में कितने प्रकार के विकार होते हैं ? संक्षेप में समझाइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-बंध के कितने भेद हैं ? नाम सहित विस्तार से समझाइए ?

पाठ 4—कर्म के भेद-प्रभेद

4.1 कर्म सिद्धान्त—

जिनके द्वारा आत्मा को परतंत्र किया जाये, उसे कर्म कहते हैं। जीव और कर्म का अनादिकाल से संबंध है और इन दोनों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।

जीव कर्म को कैसे ग्रहण करता है?—यह जीव शरीर नामकर्म से सहित होकर कर्म और नोकर्म वर्गणाओं को प्रति समय सम्पूर्ण तथा चारों तरफ से ग्रहण करता है जैसे कि अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

एक समय में कितने पुद्गल परमाणु कर्मरूप होते हैं?—यह जीव एक समय में सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि के अनन्तगुणे, ऐसे अनंत पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है। एक समय में ग्रहण करने से 'समयप्रबद्ध' कहते हैं। यह सामान्य कथन है। योगों से कुछ विसदृशता भी हो जाती है।

एक समय में कितने कर्म खिरते हैं—एक-एक समय में कर्म परमाणु एक-एक समयप्रबद्ध फल देकर खिर जाया करते हैं। कदाचित् कुछ तपश्चरण आदि के निमित्त से अनेक समयप्रबद्ध भी एक समय में झड़ जाया करते हैं। फिर भी कुछ कम डेढ़ गुणहानि प्रमाण समयप्रबद्ध कर्म सत्ता में अवस्थित रहा ही करते हैं।

कर्म कितने हैं?—सामान्यपने से कर्म एक है, उसमें भेद नहीं है। द्रव्य-भाव के भेद से दो भेद हैं। उसमें ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल द्रव्य का पिण्ड 'द्रव्यकर्म' है और द्रव्यपिण्ड में फल देने की जो शक्ति है वह 'भावकर्म' है अथवा कार्य में कारण का व्यवहार होने से उस शक्ति से उत्पन्न हुए जो अज्ञानादि व क्रोधादिरूप परिणाम हैं, वे भी भावकर्म हैं।

कर्म के सामान्य से आठ भेद हैं अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोकप्रमाण भी उसके भेद होते हैं।

उन आठ कर्मों के घातिया और अघातिया से दो भेद हैं।

आठ कर्म के नाम—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। घातिकर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। अघातिकर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।

घातिया कर्म का लक्षण—जो जीव के केवलज्ञान आदि क्षायिकभाव और क्षायोपशमिक भावों का घात करे।

अघाति कर्म का लक्षण—जो जीव के गुणों का पूर्णतया घात न करे।

4.2 आठ कर्मों का स्वभाव-

ज्ञानावरण—जो आत्मा के ज्ञान गुण को ढके-प्रकट न होने दे, जैसे—देवता के मुख पर पड़ा हुआ वस्त्र।

दर्शनावरण—जो आत्मा का दर्शन न होने दे, जैसे—राजा का पहरेदार।

वेदनीय—जो जीव को सुख-दुःख का वेदन-अनुभव करावे, जैसे—शहद लपेटी तलवार की धार।

मोहनीय—जो आत्मा को मोहित—अचेतन करे, जैसे—मदिरापान।

आयु—जो जीव को उस-उस स्थान में—पर्याय में रोक रखे, जैसे—सांकल अथवा काठ का यंत्र।

नामकर्म—जो अनेक तरह के शरीर की रचना करे, जैसे—चित्रकार।

गोत्रकर्म—जो ऊँच-नीचपने को प्राप्त करावे, जैसे—कुम्भकार।

अन्तराय—जो दाता और पात्र में अन्तर—व्यवधान करे, जैसे—भंडारी दूसरे के लिए दान देते समय राजा को रोक देता है।

आठ कर्मों के उत्तर भेद—ज्ञानावरण के 5, दर्शनावरण के 9, वेदनीय के 2, मोहनीय के 28, आयु के 4, नाम के 93, गोत्र के 2 और अन्तराय के 5, ऐसे कुल 5+9+2+28+4+93+2+5=148 भेद होते हैं।

4.3 ज्ञानावरण के पाँच भेद-

मतिज्ञानावरण—जो जीव के मतिज्ञान को आवृत करे-ढके।

श्रुतज्ञानावरण—जो श्रुतज्ञान का आवरण करे।

अवधिज्ञानावरण—जो अवधिज्ञान का आवरण करे।

मन:पर्ययज्ञानावरण—जो मन:पर्यय ज्ञान का आवरण करे।

केवलज्ञानावरण—जो जीव के पूर्णज्ञान को प्रकट न होने दे।

4.4 दर्शनावरण के नौ भेद-

1. **चक्षुदर्शनावरण**—जो चक्षु से दर्शन नहीं होने देवे।
2. **अचक्षुदर्शनावरण**—जो नेत्र के सिवाय दूसरी चारों इन्द्रियों से सामान्यावलोकन नहीं होने देवे।
3. **अवधिदर्शनावरण**—जो अवधि द्वारा दर्शन न होने देवे।
4. **केवलदर्शनावरण**—जो त्रिकाल में रहने वाले सब पदार्थों के दर्शन का आवरण करे।
5. **निद्रा**—जिसके उदय से मद, खेद आदि दूर करने के लिए केवल सोना हो।
6. **निद्रानिद्रा**—जिसके उदय से, गहरी निद्रा से आँख की पलक नहीं उघाड़ सके।
7. **प्रचला**—जिसके उदय से शरीर की क्रिया आत्मा को चलावे, निद्रा में कुछ काम करे, उसकी याद भी रहे।
8. **प्रचलाप्रचला**—जिसके उदय से मुख से लार बहती रहे, हाथ वगैरह अंग चलते रहें।
9. **स्त्यानगृद्धि**—जिसका उदय होने पर यह जीव नींद में ही उठकर बहुत पराक्रम का तो काम करे, परन्तु जाग्रत होने पर उसे भान नहीं रहे कि क्या किया था, उसे स्त्यानगृद्धि निद्रा कहते हैं।

4.5 वेदनीय के दो भेद-

सातावेदनीय—जिसके उदय से देवादि गति में जीव को शारीरिक तथा मानसिक सुखों की प्राप्तिरूप साता का वेदन—अनुभव होवे, उसे सातावेदनीय कर्म कहते हैं।

असातावेदनीय—जिसके उदय से अनेक प्रकार के नरकादि गति के दु:खों का अनुभव होवे, वह असातावेदनीय कर्म कहलाता है।

4.6 मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद-

मोहनीय के मूल में दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति।

मिथ्यात्वकर्म—जिसके उदय से मिथ्या श्रद्धान हो, सर्वज्ञकथित वस्तु के यथार्थ स्वरूप में रुचि न हो।

सम्यक्मिथ्यात्व—जिसके उदय से परिणामों में वस्तु का यथार्थ श्रद्धान और अयथार्थ श्रद्धान दोनों ही मिले हुए हों।

सम्यक्त्वप्रकृति—जिसके उदय से जीव के सम्यक्त्व गुण का घात तो न हो परन्तु परिणामों में चल, मलिन दोष आ जावें, उसे सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का कुछ धुला हुआ अंश है।

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय, नोकषाय वेदनीय।

कषाय वेदनीय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इनके क्रोध, मान, माया और लोभ, ऐसे चार-चार भेद कर देने से सोलह भेद हो जाते हैं।

अनन्तानुबंधी क्रोध—अनन्त नाम संसार का है और उसका जो कारण है, वह अनन्तानुबंधी है, जिसके उदय से अनन्त संसार के लिए कारणभूत क्रोध उत्पन्न होवे, वह अनन्तानुबंधी क्रोध है।

अनन्तानुबंधी मान—जिसके उदय से अनन्त संसार के लिए कारणभूत मान कषाय उत्पन्न होवे।

अनन्तानुबंधी माया—जिसके उदय से विशेष मायाचार प्रवृत्ति हो।

अनन्तानुबंधी लोभ—जिसके उदय से तीव्र लोभ बना रहे। यह अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्वगुण का घात करती है।

अप्रत्याख्यानावरण—जो 'अ' अर्थात् 'ईषत्'—थोड़े से भी प्रत्याख्यान—त्याग को न होने देवे-एकदेशव्रत को भी न होने देवे, उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। यह कषाय जीव के अणुव्रतों को नहीं होने देती। इसके भी क्रोध, मान आदि चारों भेद घटित कर लेना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण—जिसके उदय से प्रत्याख्यान-पूर्ण त्याग का आवरण हो, महाव्रत नहीं हो सकें। इसके भी क्रोध आदि चारों भेद होते हैं।

संज्वलन—जिसके उदय से 'सं' एकरूप होकर 'ज्वलति'—प्रकाश करे, जिसके उदय से कषाय अंश से मिला हुआ संयम रहे। कषाय रहित निर्मल यथाख्यात संयम न हो सके। इसमें भी क्रोध आदि चारों भेद होते हैं, इस प्रकार से कषाय वेदनीय के 16 भेद कहे।

नोकषाय वेदनीय—जो 'नो' ईषत्—थोड़ा हो-प्रबल न हो, उसे नोकषाय कहते हैं, इसके 9 भेद होते हैं।

हास्य—जिसके उदय से हास्य प्रकट हो।

रति—जिसके उदय से देश, धन, पुत्रादि में विशेष प्रीति हो।

अरति—जिसके उदय से देश आदि में अप्रीति हो।

शोक—जिसके उदय से इष्ट के वियोग होने पर क्लेश हो।

भय—जिसके उदय से उद्वेग हो।

जुगुप्सा—जिसके उदय से ग्लानि या अपने दोष को ढंकना और दूसरे के दोष को प्रकट करना हो।

स्त्रीवेद—जिसके उदय से स्त्री संबंधी भाव, मायाचार की अधिकता, नेत्र विभ्रम आदि द्वारा पुरुष के साथ रमने की इच्छा हो।

पुरुषवेद—जिसके उदय से स्त्री में रमण की इच्छा आदि परिणाम हों।

नपुंसकवेद—जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों में रमण करने की इच्छा आदि मिश्रित भाव हों।

इस तरह से नव नोकषाय और सोलह कषाय मिलकर पच्चीस भेद चारित्र मोहनीय के और तीन दर्शन मोहनीय के सब मिलकर मोहनीय के अट्ठाइस भेद हो जाते हैं।

4.7 आयु के चार भेद-

नरकायु—जो आत्मा को नरक शरीर में रोक रखे।

तिर्यञ्चायु—जो आत्मा को तिर्यञ्च पर्याय में रोक रखे।

मनुष्यायु—जो आत्मा को मनुष्य शरीर में रोक रखे।

देवायु—जो आत्मा को देव शरीर में रोक रखे।

4.8 नामकर्म के तिरानवे भेद-

गतिनामकर्म—जिसके उदय से यह जीव एक पर्याय से दूसरी पर्याय को 'गच्छति' प्राप्त हो, वह गति नामकर्म है। उसके चार भेद हैं—जिसके उदय से जीव नारकी के आकार, तिर्यंच शरीराकार, मनुष्य शरीराकार हो, उसे क्रम से

नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति तथा देवगति कहते हैं।

जाति नामकर्म—जो उन गतियों में अव्यभिचारी-सदृश धर्म से जीवों को इकट्ठा करे। एकेन्द्री, दोइन्द्री आदि जीव समान स्वरूप होकर आपस में एक-दूसरे से मिलते नहीं, यह तो अव्यभिचारीपना और एकेन्द्रियपना सब एकेन्द्रियों में सदृश है यह हुआ सदृशपना, यह अव्यभिचारी धर्म एकेन्द्रियादि जीवों में रहता है अतः एकेन्द्रियादि जाति शब्द से कहे जाते हैं।

जातिकर्म के पाँच भेद हैं—जिसके उदय से यह आत्मा एकेन्द्री, दोइन्द्री, तेइन्द्री, चौइन्द्री अथवा पंचेन्द्री कही जाये, उसे क्रम से एकेन्द्रीजाति, दो इन्द्रीजाति, तीन इन्द्रीजाति, चार इन्द्रीजाति तथा पंचेन्द्रीजाति नामकर्म कहते हैं।

शरीर नामकर्म—जिसके उदय से शरीर बने। शरीर के पाँच भेद हैं—जिसके उदय से औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर उत्पन्न हो, उसे क्रम से औदारिक शरीर, वैक्रियिक, शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर तथा कार्मण शरीर कहते हैं।

बंधन नामकर्म—शरीर नामकर्म के उदय से जो आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कंध इस जीव ने ग्रहण किये थे, उन पुद्गल स्कंध के प्रदेशों का जिस कर्म के उदय से आपस में संबंध हो, उसे बंधन कहते हैं। उसके औदारिक बंधन, वैक्रियिक बंधन, आहारक बंधन, तैजस बंधन, कार्मण बंधन, ऐसे पाँच भेद हैं।

संघात नामकर्म—जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु आपस में मिलकर छिद्र रहित बंधन को प्राप्त होकर एक रूप हो जावें, उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी औदारिक संघात, वैक्रियिक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात, कार्मण संघात, इस तरह पाँच भेद हैं।

संस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर का आकार बने। उसके छह भेद हैं—

समचतुरस्त्र संस्थान—जिसके उदय से अंगोपांगों की लम्बाई, चौड़ाई सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार ठीक-ठीक बनी हों।

न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान—जिसके उदय से शरीर का आकार न्यग्रोध के (वट वृक्ष के) सरीखा नाभि के ऊपर मोटा और नाभि से नीचे पतला हो।

स्वाति संस्थान—जिसके उदय से स्वाति नक्षत्र के अथवा सर्प की वामी के समान ऊपर से पतला और नाभि के नीचे मोटा हो।

कुब्जक संस्थान—जिसके उदय से कुबड़ा शरीर हो।

वामन संस्थान—जिसके उदय से बौना शरीर हो।

हुंडक संस्थान—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंगोपांग किसी खास शक्ल के न हो।

अंगोपांग—जिसके उदय से अंग-उपांगों का भेद हो, उसके तीन भेद हैं—औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग।

संहनन नामकर्म—जिसके उदय से हाड़ों के बंधन में विशेषता हो। संहनन के छह भेद हैं—

वज्रर्षभनाराच संहनन—जिस कर्म के उदय से ऋषभ (बेठन), नाराच (कीला), संहनन (हाड़ों का समूह) वज्र के समान हो अर्थात् इन तीनों का किसी से छेदन-भेदन न हो सके।

वज्रनाराच संहनन—जिसके उदय से शरीर में वज्र के हाड़ और वज्र की कीली हों परन्तु बेठन वज्र के न हों।

नाराच संहनन—जिसके उदय से शरीर में वज्र रहित बेठन और कीली सहित हाड़ हों।

अर्धनाराच संहनन—जिसके उदय से हाड़ों की सन्धियाँ आधी कीलित हों।

कीलित संहनन—जिसके उदय से हाड़ परस्पर कीलित हों।

असंप्राप्त सृपाटिका संहनन—जिसके उदय से जुदे-जुदे हाड़ नसों से बंधे हों-परस्पर में कीले हुए न हों।

वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में वर्ण हो, उसके पाँच भेद हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत।

गंध नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में गंध हो। गंध के दो भेद हैं—सुरभिगंध, असुरभिगंध।

रस नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में रस हो, उसके पाँच भेद हैं—तिक्तरस, कटुरस, कषायरस, आम्लरस, मधुरस।

स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो, उसके आठ भेद हैं—कर्कशस्पर्श, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष।

आनुपूर्व्य नामकर्म—जिसके उदय से विग्रह गति में मरण से पहले के शरीर के आकार से आत्मा के प्रदेश बने रहे अर्थात् पहले शरीर के आकार का नाश न हो। उसके चार भेद हैं—

नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य—जिसके उदय से नरकगति को प्राप्त होने के सन्मुख जीव के शरीर का आकार विग्रह गति में पूर्व शरीराकार का रहे। इसी प्रकार तिर्यञ्चगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगति प्रायोग्यानुपूर्व्य में भी समझना।

अगुरुलघुनामकर्म—जिस कर्म के उदय से, ऐसा शरीर मिले जो लोहे के गोले की तरह भारी न हो आक की रुई की तरह हल्का न हो।

उपघात—जिसके उदय से बड़े सींग अथवा मोटा पेट इत्यादि अपने ही घातक अंग हों।

परघात—जिसके उदय से तीक्ष्ण सींग, नख, सर्प आदि की दाढ़ इत्यादि पर के घात करने वाले शरीर के अवयव हों।

उच्छ्वास—जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास हो।

आतप—जिसके उदय से पर को आताप करने वाला शरीर हो।

यह आतप नामकर्म का उदय सूर्यबिंब के विमान के पृथ्वीकायिक बादर जीव के रहता है, उसके मात्र किरणों में ही उष्णता रहती है, मूल में नहीं।

उद्योत—जिस कर्म के उदय से प्रकाशरूप शरीर हो। यह उद्योत कर्म चन्द्रबिंब के विमान में स्थित एकेन्द्रिय बादर पृथ्वीकायिक जीव के होता है जुगनू आदि के भी इस कर्म का उदय रहता है।

विहायोगति—जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसके दो भेद हैं—प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति।

त्रसनामकर्म—जिसके उदय से दो इन्द्रियादि जीवों की जाति में जन्म हो।

बादर—जिसके उदय से ऐसा शरीर हो, जो कि दूसरे को रोके और दूसरे से आप रुके।

पर्याप्ति—जिसके उदय से जीव अपने-अपने योग्य आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन पर्याप्तियों को पूर्ण करे।

प्रत्येक—जिसके उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

स्थिर—जिसके उदय से शरीर के रसादि धातु और वात, पित्त आदि धातु, उपधातु अपने-अपने ठिकाने पर स्थिर रहें। इससे शरीर में रोग शांत रहता है।

शुभ नामकर्म—जिसके उदय से मस्तक वगैरह शरीर के अवयव और शरीर सुन्दर हो।

सुभग—जिस कर्म के उदय से दूसरे जीवों को अच्छा लगने वाला शरीर हो।

सुस्वर—जिसके उदय से अच्छा स्वर हो।

आदेय—जिसके उदय से कांति सहित शरीर हो।

यशस्कीर्ति—जिसके उदय से अपना पुण्य गुण जगत् में प्रगट हो।

निर्माण—जिसके उदय से शरीर के अंगोपांगों की रचना ठीक-ठीक हो।

तीर्थंकर—जो श्रीमत् अर्हंत पद का कारण हो। इस प्रकृति के बंध हो जाने से जीव तीनों लोकों में आश्चर्य और शांति उत्पन्न करने वाला महान् भगवान कहलाता है।

स्थावर—जिसके उदय से एकेन्द्रिय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति) में जन्म हो।
सूक्ष्म—जिसके उदय से ऐसा सूक्ष्म शरीर हो, जो कि न तो किसी को रोके और न किसी से रुके।
अपर्याप्त—जिसके उदय से कोई भी पर्याप्ति पूर्ण न हो अर्थात् लब्ध्यपर्याप्त अवस्था हो।
साधारण—जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों।
अस्थिर—जिसके उदय से धातु और उपधातु अपने-अपने ठिकाने न रहें। इससे शरीर रुग्ण रहता है।
अशुभ—जिससे शरीर के मस्तक आदि अवयव सुन्दर न हों।
दुर्भग—जिसके उदय से रूपादिगुण सहित होने पर भी दूसरे को अच्छा न लगे।
दुःस्वर—जिसके उदय से स्वर अच्छा न हो।
अनादेय—जिसके उदय से प्रभा रहित शरीर हो।
अयशःकीर्ति—जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा न हो।
इस प्रकार से नामकर्म के 93 भेद हुए।

4.9 गोत्र के दो भेद—

उच्चगोत्र—जिसके उदय से लोक पूजित कुल में जन्म हो, उसे उच्चगोत्र कहते हैं।
नीचगोत्र—जिसके उदय से लोक निंदित कुल में जन्म हो, वह नीच गोत्र है।

4.10 अन्तराय के पाँच भेद—

दानांतराय—जिसके उदय से दान देना चाहे परन्तु न दे सके।
लाभान्तराय—जिसके उदय से लाभ की इच्छा होते हुए भी लाभ न हो सके।
भोगांतराय—जिसके उदय से पुष्पादि और अन्नादि वस्तुओं को भोगना चाहे परन्तु भोग न सके।
उपभोगान्तराय—जिसके उदय से स्त्री आदि उपभोग वस्तु का उपभोग न कर सके।
वीर्यान्तराय—जिसके उदय से अपनी शक्ति प्रगट करना चाहे परन्तु प्रगट न कर सके।
इस प्रकार आठ कर्मों के 148 भेद होते हैं।

4.11 पुण्य पाप प्रकृतियाँ—

इन कर्मों में प्रशस्त अप्रशस्त, ऐसे दो भेद भी होते हैं—जो प्रकृतियाँ सांसारिक सुख देवें, वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं एवं अशुभ फल देने वाली पाप प्रकृतियाँ हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ—1 साता वेदनीय, 3 तिर्यंच, मनुष्य, देवायु, 1 उच्चगोत्र, 2 मनुष्यजाति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, 2 देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, 1 पंचेन्द्रिजाति, 5 शरीर, 5 बंधन, 5 संघात, 3 अंगोपांग, 20 शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, 1 समचतुरस्रसंस्थान, 1 वज्रर्षभनाराच संहनन, उपघात के बिना अगुरुलघु आदि 6, 1 प्रशस्तविहायोगति और त्रस आदि 12, इस प्रकार से 68 प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं।

पाप प्रकृतियाँ—चारों घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ 47, 1 नीचगोत्र, 1 असातावेदनीय, 1 नरकायु, 2 नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, 2 तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, 4 एकेन्द्रियादि जाति, समचतुरस्र को छोड़कर 5 संस्थान, पहले संहनन के सिवाय 5 संहनन, अशुभ वर्ण, रस, गंध, स्पर्श ये 20, 1 उपघात, 1 अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर आदि 10, ये 100 पाप प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार 68+100=168 भेद हो गये। पहले 148 प्रकृतियाँ ही गिनाई हैं। मतलब यह है कि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की जो बीस प्रकृतियाँ हैं, वे पुण्य और पाप दोनों में सम्मिलित हो जाती हैं।

4.12 कषायों का वासनाकाल—

संज्वलन कषायों की वासना का काल, अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान का पन्द्रह दिन, अप्रत्याख्यान का छह महीना तथा अनन्तानुबंधी का संख्यात, असंख्यात और अनन्तभव समझना।

वासना का लक्षण—किसी ने क्रोध किया, पीछे वह दूसरे काम में लग गया, वहाँ पर क्रोध का उदय नहीं है, परन्तु जिस पुरुष पर क्रोध किया था उस पर क्षमा भी नहीं है, इस प्रकार जो क्रोध का संस्कार चित्त में बैठा हुआ है, उसी की वासना का काल यहाँ पर कहा गया है।

4.13 कर्म के करण-

करण—हर एक प्रकृति के दश करण (अवस्थाएं) होते हैं, उन्हीं का नाम करण है। उनके नाम—बंध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

बंध—कर्मों का आत्मा से संबंध होना अर्थात् मिथ्यात्वादि परिणामों से जो पुद्गल द्रव्य का ज्ञानावरणादिरूप होकर परिणमन करना, जो कि ज्ञानादि का आवरण करता है, वह बंध है।

उत्कर्षण—जो कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ना है, वह उत्कर्षण है।

संक्रमण—बंधरूप प्रकृति का दूसरी प्रकृतिरूप परिणमन कर जाना।

अपकर्षण—स्थिति तथा अनुभाग का कम हो जाना।

उदीरणा—उदयकाल के बाहर स्थित अर्थात् जिसके उदय का अभी समय नहीं आया है, ऐसा जो कर्म द्रव्य उसको अपकर्षण के बल से उदयावली काल में प्राप्त करना उदीरणा है।

सत्त्व—पुद्गल का कर्मरूप रहना सत्त्व है।

उदय—कर्म का अपनी स्थिति को प्राप्त होना अर्थात् फल देने का समय प्राप्त हो जाना उदय है।

उपशान्त—जो कर्म उदयावली से प्राप्त न किया जाये अर्थात् उदीरणा अवस्था को प्राप्त न हो सके, वह उपशान्तकरण है।

निधत्ति—जो कर्म उदयावलि में भी प्राप्त न हो सके और संक्रमण अवस्था को भी प्राप्त न हो सके, उसे निधत्तिकरण कहते हैं।

निकाचना—जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण, ये चारों ही अवस्थाएं न हो सकें, उसे निकाचितकरण कहते हैं।

यह निकाचित कर्म प्रायः फल देकर ही छूटता है, इसके बंध में कारण बतलाये गये हैं कि देव, शास्त्र गुरु की आसादना आदि करने से ऐसी जाति का कर्म बंध जाता है।

इन कर्मों की बंध, उदय और सत्त्व अवस्थाएं अधिक प्रसिद्ध हैं।

4.14 बंधयोग्य प्रकृतियाँ—

5 बंधन, 5 संघात ये 5 शरीर के साथ अविनाभावी हैं अतः इन्हें शरीर में सम्मिलित कर दीजिए, तब 15-10=5 ही रह गई, दस घट गई। 5 वर्ण, 5 रस, 2 गंध और 8 स्पर्श इन 20 को 8 में ही शामिल कर दीजिए तथा दर्शन मोहनीय के 3 भेद में मिथ्यात्व का ही बंध होता है। सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का बंध नहीं होता है अतः ये दो घट गईं, मतलब 10+16+2=28, 148-28 घटने से 120 प्रकृतियाँ ही बंध योग्य हैं।

4.15 उदय योग्य प्रकृतियाँ—

बंध योग्य 120 में सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति मिला देने से 122 प्रकृतियाँ उदय योग्य होती हैं।

4.16 सत्त्व प्रकृतियाँ—

ऊपर कही हुई 148 प्रकृतियाँ सभी सत्ता में रहने योग्य हैं।

गुणस्थान, मार्गणाओं की अपेक्षा इन प्रकृतियों का बंध, उदय, सत्त्व विशेष रूप से गोम्मटसार कर्मकाण्ड और पंचसंग्रह आदि ग्रंथों से समझना चाहिए।

4.17 आठों कर्मों के आस्रव–

ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म के आस्रव—ज्ञान और दर्शन में किये गये प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात, ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं।

प्रदोष—किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

निन्हव—किसी कारण से ज्ञान को छुपाना निन्हव है।

मात्सर्य—वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी पण्डित हो जावेगा, ऐसा विचार कर किसी को न पढ़ाना मात्सर्य है।

अन्तराय—किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादन—दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना आसादन है।

उपघात—सच्चे ज्ञान में दोष लगाना उपघात है।

वेदनीय के आस्रव—निज पर तथा दोनों के विषय में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन, ये असाता वेदनीय के आस्रव हैं।

दुःख—पीड़ारूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

शोक—अपना उपकार करने वाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप—संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से पश्चात्ताप करना ताप है।

आक्रन्दन—पश्चात्ताप से अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वध—आयु आदि प्राणों का वियोग करना वध है।

परिदेवन—संक्लेश परिणामों का अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे, सो परिदेवन है।

यद्यपि शोक आदि दुःख के ही भेद हैं तथापि दुःख की जातियाँ बतलाने के लिए सबका ग्रहण किया है।

साता वेदनीय के आस्रव—भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सराग संयमादि, योग, क्षान्ति, शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि ये साता वेदनीय के आस्रव हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा—भूत-संसार के समस्त प्राणी पर दया करना भूतानुकम्पा और व्रती, अणुव्रती या महाव्रती जीवों पर दया करना, सो व्रत्यनुकम्पा है।

दान—निज और पर के उपकार योग्य वस्तु के देने को दान कहते हैं।

सराग संयमादि—पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और राग सहित संयम को सराग संयम कहते हैं।

यहाँ आदि शब्द से संयमासंयम (श्रावक के व्रत), अकाम निर्जरा (बन्दीखाने आदि में संक्लेश रहित भोगोपभोग का त्याग करना) और बालतप-(मिथ्यादर्शन सहित तपस्या करना) का भी ग्रहण होता है।

योग—इन सबको अच्छी तरह धारण करना योग कहलाता है।

क्षान्ति—क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षान्ति कहते हैं।

शौच—लोभ का त्याग करना शौच है।

इति शब्द से अर्हद्भक्ति, मुनियों की वैयावृत्ति आदि का ग्रहण करना चाहिए।

दर्शन मोहनीय का आस्रव—केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

अवर्णवाद—गुणवानों को झूठे दोष लगाना, सो अवर्णवाद है।

केवली का अवर्णवाद—केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं इत्यादि कहना, सो केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद—शास्त्र में मांस भक्षण करना आदि लिखा है, ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद—ये साधु शूद्र हैं, मलिन हैं, निन्द्य हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं है, उसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद—देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना देव का अवर्णवाद है।

चारित्र मोहनीय के आस्रव—कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव हैं।

नरक आयु के आस्रव—बहुत आरंभ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है।

तिर्यंच आयु के आस्रव—माया, छल-कपट करना तिर्यंच आयु का आस्रव है।

मनुष्य आयु का आस्रव—थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है। स्वभाव से ही सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु का आस्रव है।

सब आयुओं का आस्रव—दिग्व्रतादि 7 शील और अहिंसा आदि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं का आस्रव है।

शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में अत्यन्त तीव्रता, तीव्रता, मन्दता और अत्यन्त मन्दता होती है, तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव के कारण होते हैं।

देव आयु का आस्रव—सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तप, ये देव आयु के आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शन से भी देवायु का आस्रव होता है।

सम्यग्दर्शन से वैमानिक देवों का आस्रव ही होता है अन्य देवों का नहीं। यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी आस्रवरूप नहीं है, तो भी उसके साथ जो रागांश है, उससे बंध होता है।

अशुभ नामकर्म का आस्रव—योगवक्रता और विसंवाद से अशुभकर्म का आस्रव होता है।

शुभ नामकर्म का आस्रव—योगवक्रता और विसंवाद के विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव-

1. **दर्शनविशुद्धि**—पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शन।
2. **विनय सम्पन्नता**—रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय।
3. **शीलव्रतेष्वनतिचार**—अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोधत्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति।
4. **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**—निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना।
5. **संवेग**—संसार से भयभीत रहना।
6. **शक्तितस्त्याग**—यथा शक्ति दान देना।
7. **शक्तितस्तप**—उपवासादि तप करना।
8. **साधु समाधि**—साधुओं का उपसर्ग दूर करना या समाधि सहित वीर मरण करना।

9. वैयावृत्यकरण—रोगी तथा बाल-वृद्ध मुनियों की सेवा करना।

10. अर्हद्भक्ति—अर्हंत भगवान की भक्ति करना।

11. आचार्यभक्ति—आचार्य की भक्ति करना।

12. बहुश्रुतभक्ति—उपाध्याय की भक्ति करना।

13. प्रवचनभक्ति—शास्त्र की भक्ति करना।

14. आवश्यकापरिहाणि—सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना।

15. मार्ग प्रभावना—जैनधर्म की प्रभावना करना।

16. प्रवचन वात्सल्य—धर्मी में गोवत्स के समान प्रेम-स्नेह रखना। ये सोलह भावनाएं तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव हैं। इन 16 भावनाओं में दर्शनविशुद्धि नामक प्रथम भावना मुख्य है। इस भावना के साथ अन्य 15 भावनाएं हों, चाहे कम हों तो भी तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव हो सकता है।

नीच गोत्र कर्म का आस्रव—दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना तथा दूसरे के मौजूद गुणों को ढांकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, ये नीच गोत्र के आस्रव हैं।

उच्च गोत्र का आस्रव—नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् पर प्रशंसा तथा आत्म-निन्दा और नम्र वृत्ति तथा मद का अभाव ये उच्च गोत्र कर्म के आस्रव हैं।

अन्तरायकर्म का आस्रव—पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

आस्रव के इन समस्त कारणों को जानकर प्रत्येक प्राणी को अशुभ कर्मों के आस्रव से बचने का सतत प्रयास करना चाहिए।

4.18 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-आठों कर्मों के उत्तर भेद कितने हैं ?

(क) 143 ☐ (ख) 148 ☐ (ग) 145 ☐

प्रश्न 2-तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म आस्रव की कितनी भावनाएँ हैं ?

(क) 16 ☐ (ख) 15 ☐ (ग) 25 ☐

प्रश्न 3-कुशल कार्य में अनादर करना कहलाता है ?

(क) कषाय ☐ (ख) प्रमाद ☐ (ग) संवेग ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-घातिया और अघातिया कर्म का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 2-आठों कर्मों का स्वभाव बताइए ?

प्रश्न 3-दर्शनावरण के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 4-नोकषाय किसे कहते हैं ? ये कितनी होती हैं, नाम बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के उत्तर भेद कितने और किस प्रकार होते हैं सभी नाम सहित बताइए ?

इकाई–2 संसार भ्रमण के कारण-अष्टकर्म

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) आत्मा की प्रभा को धूमिल करने वाले ज्ञानावरण–दर्शनावरण

(2) सुख–दुःख प्रदाता वेदनीय एवं कर्मों का राजा मोहनीय

(3) चतुर्गति यात्रा संवाहक आयुकर्म एवं शरीर निर्माता नामकर्म

(4) गोत्र एवं अन्तरायकर्म की फलःस्थिति

पाठ 1–आत्मा की प्रभा को धूमिल करने वाले ज्ञानावरण-दर्शनावरण

1.1 अष्टकर्म–

ज्ञान रवि का आच्छादक ज्ञानावरण कर्म—

कर्म शब्द कर्त्ता, कर्म और भाव तीनों साधनों में निष्पन्न होता है और विवक्षानुसार तीनों यहाँ परिगृहीत हैं। वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा निश्चय नय से आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गलपरिणाम तथा व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्मपरिणाम, जो भी किये जायें वह कर्म है।

साध्य–साधनभाव की विवक्षा न होने पर, स्वरूप मात्र कथन करने से कृति को भी कर्म कहते हैं।

"जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति परतन्त्री क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि, जीवने वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामेः क्रियन्ते इति कर्माणि।" अर्थात् जीव को जो परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परन्तन्त्र किया जाता है उन्हें **कर्म** कहते हैं अथवा जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं वे **कर्म** हैं।

सामान्य से कर्म आठ प्रकार का भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद हैं। **सामान्य से जो आठ भेद हैं, वह इस प्रकार हैं—**

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणियं।
आउगणामं गोदंतरायमिदि अट्ठ पयडीओ।।8।।

अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

1.2 कर्म स्वभाव—

प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची हैं। जिस प्रकार पाषाण में किट्ट कालिमा का अनादि संबन्ध है, उसी प्रकार जीव और शरीर (कार्मण) का अनादि से सम्बन्ध है। दोनों का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है। जो स्वभाव को प्रकट न होने दे, उस स्वभाव को ढक देता है अथवा जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। ये द्रव्यकर्म आत्मा के स्वभाव को व ज्ञानादि गुण को प्रगट नहीं होने देते हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती है। इसके कारण जीव के अनुजीवी गुणों का पूर्णरूप से घात होता है। यह ज्ञान गुण को प्रकट नहीं होने देता है।

"बहिरंगार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धक–ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम्।" अर्थात् बहिरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है अर्थात् जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को प्रकट न होने दे अथवा ज्ञान गुण के अविकास में जो निमित्त हो वह ज्ञानावरण कर्म है। जो देवता के मुख पर ढके वस्त्र के समान अर्थात् इसका स्वभाव है कि जैसे देवता के मुख का ढका वस्त्र देवता के ज्ञान को नहीं होने देता, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को

आच्छादित करता है।

ज्ञान का सामान्य अर्थ—ज्ञान, अवबोध, अवगम और परिच्छेद ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। उस ज्ञान को जो आवरण करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है अथवा **''जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्''** जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है, या जानना मात्र ज्ञान है।

''सहजशुद्धकेवलज्ञानमभेदेन केवलज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं ज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं वा आवृणोतीति ज्ञानावरणं।'' सहज शुद्ध केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों के आधारभूत ज्ञान शब्द का वाच्य परमात्मा जिसके द्वारा आवृत होता है वह ज्ञानावरण कर्म है।

सौन्दर्यमयी प्रकृति पर संध्या की अरुणाई सरोवर को सुशोभित कर रही थी। सुन्दर सी लहरें लहरा रही थीं– अचानक क्या हुआ ? सरोवर उदासीनता में सिमट गया, क्यों ? किसे पता था ? कुछ समझ में नहीं आया। आश्चर्य था जिन कमलों को प्यार से पालकर बड़ा किया वे ही सौरभ एवं शोभा के केन्द्र उसी तालाब की गोद में मुरझा गये। चिंता से चिंतित, रात्रि भर पुत्रों की याद में सरोवर तड़प उठा। साँय–साँय कर मानो आँसू भर–भर कर उभर रहा था एक साथ हजारों पुत्रों का वियोग। ओह! जन–जन की निद्रा को दूर करने वाले सूर्य का हृदय द्रवित हो उठा। प्रातःकालीन स्वर्णिम लालिमा को बिखेरते हुए सूर्य ने अपनी किरणों के बाणों को मृतप्राय कमल–पुत्रों पर फेंकना शुरू कर दिया। बाणों के लगते ही सारे कमल विकसित हो गये। ''तालाब कमल'' सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही प्रफुल्लित हो गये।

एक मानव के पास अनेकों कमल थे पर सभी विकसित थे किन्तु एक कमल मुरझाया हुआ था अतः मानव का चेहरा उदासीन था। आप जानते हैं सुन्दर सी गाड़ी में बुद्धिमान ड्राइवर, योग्य यात्री हैं पर ब्रेक नहीं है तो किस समय मृत्यु का मुख देखना पड़ जाये, पता नहीं ठीक इसी प्रकार सारे कमल विकसित हों परन्तु यदि एक अविकसित हुआ तो जीवन दुःखों का घर बन जाता है। आप सोचेंगे कौन से हैं कमल ? तो आइये देखें !

1. मुखकमल, 2. हृदयकमल, 3. करकमल, 4. चरणकमल, 5. भव्यकमल, 6. ज्ञानकमल आदि।

मुखकमल—मुखकमल जो असत्, कठोर, कर्कश वाणी से मुरझाया हुआ था आज हित–मित, प्रियवाणी, मधुर स्तुति, शक्ति, भजनादि के द्वारा मानव ने इसे मुस्कान भरा बना लिया है। मुखकमल मधुर वाणी रूपी किरणों से विकसित हो अपने चारों ओर खुशबू फैला रहा है।

हृदयमल—हृदय में निरन्तर शुभाशुभ विचारों की शहनाई गूँज रही थी फलतः अनादिकाल से इसको विकास के लिए कहीं स्थान ही नहीं प्राप्त हुआ, पर आज शुभ विचारों का केन्द्र बनकर विकसित हो उठा। शुभ विचार रूपी किरणों के स्पर्श से हृदयकमल की एक–एक पंखुड़ी खिल उठी, मन मयूर नाच उठा।

करकमल—करकमल मारकाट, हिंसादि आरंभ की क्रियाओं के कारण डंडे की तरह दुःख के कारण बने हुए थे। आज ये करकमल मुनियों के आहारदान, जिनपूजा आदि का सौभाग्य पाते ही विकसित हो सुगन्धित हो गये हैं।

चरणकमल—जो चरणकमल व्यर्थ के पंचपरावर्तन की भटकन से मुरझाए दुर्गन्धित हो रह थे वे ही आज तीर्थवन्दना, अकृत्रिम जिनवन्दनादि रूपी किरणों के स्पर्श से खिलकर महक रहे हैं।

भव्यकमल—जो भव्यकमल मिथ्यात्व की चकाचौंध में मुरझाया नजर आ रहा था वही आज गुरु उपदेश, दिव्यध्वनि से सम्यक्त्वरूपी सूर्य के उदय होते ही पूर्ण विकसित हो अपनी सौरभ से चारों दिशाओं को सुरभित कर रहा है।

ज्ञानकमल—सभी कमल विकसित हो सुरभि बिखेर रहे हैं पर ज्ञानकमल की मुकुलित अवस्था ने मानव को झकझोर दिया है। ज्ञानकमल के विकास के बिना सारे कमलों की सौरभ भी मन को मोहित नहीं कर पाती है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति।।

अर्थात् आत्मा का स्वभाव परद्रव्यों के भावों से भिन्न है। यह ज्ञान से पूर्ण लबालब भरा हुआ, अनादि, अनंत एक ज्ञानपुंज है पर आज वह ज्ञानकमल सुगंधि क्यों नहीं बिखेर रहा है ? सुगंधि से पृथ्वीतल तभी सुरभित होगा जब संकल्प–विकल्पों का जाल विलीन होगा। ज्ञानावरण कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागर व जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

ज्ञानावरण कर्म का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है, उदय बारहवें गुणस्थान तक तथा सत्ता दसवें गुणस्थान तक रहती है।

1.3 ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं—

1. मतिज्ञानावरण, 2. श्रुतज्ञानावरण, 3. अवधिज्ञानावरण, 4. मन:पर्ययज्ञानावरण और 5. केवलज्ञानावरण।

मतिज्ञानावरण—जिस कर्म के उदय से जीव का मतिज्ञान प्रकट न हो वह मतिज्ञानावरण कर्म है।

श्रुतज्ञानावरण—जो जीव के श्रुतज्ञान को प्रकट न होने दे वह श्रुतज्ञानावरण कर्म है।

अवधिज्ञानावरण—जो जीव के अवधिज्ञान का आवरण करे वह अवधिज्ञानावरण है।

मन:पर्ययज्ञानावरण—जो कर्म मन:पर्यय ज्ञान को प्रकट न होने दे उसे मन:पर्ययज्ञानावरण कर्म कहते हैं।

केवलज्ञानावरण—जो कर्म केवलज्ञान को प्रकट न होने दे वह केवल ज्ञानावरण कर्म है।

त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाला ज्ञानकमल आज भी मुकुलित है। जैसे बादलों के आवरण में छिपा सूर्य अपनी किरणों को बिखेर नहीं पाता वैसे ही प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात जैसे मलों की रज में पड़ा ज्ञानकमल अपनी सौरभ को बिखेरने में असमर्थ हो रहा है।

1.4 ज्ञानावरण कर्म के आश्रव के कारणों को बताते हुए श्री उमास्वामी आचार्य लिखते हैं–

''तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।''

अर्थ—प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं।

(1) प्रदोष—किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

''ज्ञानकीर्तनान्तरमनाभिव्याहरतोऽन्तः पैशून्यं प्रदोषः'' अर्थात् ज्ञानकथा के समय मुँह से कुछ न कहकर भीतर ही भीतर ईर्ष्या के परिणामों का होना प्रदोष है अथवा "मोक्ष का मूलसाधन" जो मत्यादिक ज्ञान हैं अर्थात् कोई प्रशंसा करे सो अन्तरंग में बुरी लगे, सुहावे नहीं सो प्रदोष है अथवा तत्त्वज्ञान की कथनी में हर्ष का अभाव सो प्रदोष है।"

इस प्रदोष को दूर कर अप्रदोष का पालन करने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रदोष ज्ञान का बाधक है अतः ज्ञानप्राप्ति का हेतुभूत अप्रदोष है। किसी धर्मात्मा के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्रशंसा सुनकर मन में आल्हादित होना, धर्मात्मा के ज्ञान की प्रशंसा करना 'अप्रदोष' है।

एक धर्मात्मा पति अपनी शीलवती धर्मपत्नी सहित मंदिरजी में अष्टमी, चतुर्दशी आदि दिनों में तत्त्वज्ञान, स्वाध्यायादि किया करता था। दोनों के तत्त्वज्ञान की प्रशंसा लोकप्रसिद्ध हो गई। अज्ञानी व्यक्ति ईर्ष्या से जाग उठा फलतः उसने स्वाध्याय करते हुए पति–पत्नी को तलवार से मृत्यु के घाट उतार दिया। दोनों भव्यात्मा स्वर्ग में देव–देवियाँ हो गये और यह अज्ञानी व्यक्ति नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ राजपुत्र हो गया परन्तु एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं था। अपने अज्ञान का कारण पूछने पर मुनिराज ने पूर्वकृत पाप कार्य का वर्णन किया। वह मुनिदीक्षा लेकर मौनव्रत से रहने लगा और अपने अन्दर में पूर्वकृत पापों की निन्दा, गर्हा करने लगा। भाग्य से वही जोड़ा देवलोक से मुनिराज के दर्शन को आया। इन्होंने सब जानकर मुनि होकर भी उनसे अपने पूर्वकृत पाप की क्षमा माँगी। उनके तत्त्वज्ञान की भूरि–भूरि प्रशंसा एवं अपने दुष्कृत्य की मुनिराज निन्दा करने लगे। फलतः अप्रदोष गुण की वृद्धि होते ही उसी भव में केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हो गये।

(2) निह्नव—"पराभिसन्धानतो ज्ञानव्यपलापो निह्नवः"

किसी बहाने से "मैं नहीं जानता", इत्यादि रूप से ज्ञान का लोप करना निह्नव है।

"बहरि कोउ कारणकरि सम्यग्ज्ञान की कथनी पूछे, ताकू कहै, मैं नहीं जाणूं वा ऐसे नहीं है", ऐसे सम्यग्ज्ञान को छिपाना सो निह्नव है। उस निह्नव से बचने के लिए अनिन्ह्नव का पालन करना चाहिए।

अनिह्नव—किसी भी प्रकार से ज्ञान को नहीं छिपाना अनिह्नव है। एक उत्तम बुद्धि वाला बालक अपने ज्ञात विषयों को दूसरे से छिपाता है। सोचता है कहीं मेरा ज्ञान कम नहीं हो जाय या मेरा नंबर पीछे नहीं हो जाय। मान बड़ाई, ईर्ष्या आदि कई कारणों से ज्ञान को छिपाया जाता है फलतः ज्ञान कुण्ठित हो जाता है, उसके विकास को स्थान नहीं मिलने से लोप भी हो जाता है अतः ज्ञान को विकसित करने के लिए महान उपाय है कि अपने पास प्राप्त ज्ञान को छिपाना नहीं चाहिए। ज्ञानधन एक ऐसा धन है जिसे जितना व्यय करेंगे, उतना बढ़ेगा और जितना छिपाकर रखना चाहेंगे उतना ही आपसे छिप जाएगा, आपको कुंठित बना देगा। नीतिकार कहते हैं—

व्यये कृते वर्धति एव नित्यं, विद्याधनं सर्वधनं प्रधानम्।

और भी कहते हैं—

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं, विद्यते तव भारती।
व्ययतो वृद्धिमायाति, क्षयमायाति संचयात्।।

विद्याधन एक ऐसा अपूर्व खजाना है जो जितना व्यय किया जायेगा उतना बढ़ेगा और जितना संचय करोगे उतना घटेगा। कुएँ से पानी नहीं निकला तो सड़ जाता है, फल पकने पर वृक्ष ने छिपा लिया जो सड़ जायेगा। फूल खिलने पर प्रभु चरण में चढ़ाया नहीं तो मुरझा जायेगा, पैरों में रौंदा जायेगा। सरोवर ने कमल को अपनी ओट में छिपा लिया तो मुरझाकर सड़ जाएगा, सरोवर को ही गन्दा कर देगा और यदि निस्पृही होकर बाँट दिया, मनुष्य को दे दिया तो वही कमल अपने रूप से सबको अपनी बहार लुटाकर स्वयं भी हँसता है, दूसरे को भी हँसाता है। ठीक उसी प्रकार ज्ञानार्जन करके छिपाया, बाँटा नहीं तो ज्ञानकमल भी मुरझा जायेगा। ज्ञानकमल को विकसित करके उसकी सौरभ को चारों ओर बिखेरते चलें। ज्ञानपिपासु बाल, वृद्ध, शत्रु-मित्र, नर-नारियों आदि सभी को अपनी सौरभ से सुरभित करते चलें अन्यथा यह विकसित कमल मुरझाकर आत्मसरोवर को गन्दा कर संसाररूपी कीचड़ में ऐसा आकंठ फँसायेगा जहाँ से निकलना भी दुष्कर होगा।

(3) मात्सर्य–"यावद्यथावद्देयज्ञानमप्रदानं मात्सर्यम्।" अर्थात् देने योग्य ज्ञान को भी किसी बहाने से न देना मात्सर्य है अथवा बहुरि आपकरि अभ्यास किया सम्यग्ज्ञान देने के योग्य शिष्य के लिए नहीं देना सो मात्सर्य है।"

मात्सर्य का अभाव कर, अमात्सर्य को अपनाने से ज्ञानगुण प्रकट होता है।

अमात्सर्य—अपने द्वारा अर्जित ज्ञान को योग्य शिष्य में बिना किसी छल-कपट के दे देना अमात्सर्य है। देने योग्य ज्ञान को यदि योग्य शिष्य में दे दिया जाता है तो वह ज्ञानसंतति निरन्तर अबाधरूप से प्रवाहित रहती है और केवलज्ञान के लिए कारण बनती है अथवा वस्तुस्वरूप को जानकर यह भी पंडित हो जायगा अतः मेरा सम्मान या मेरी प्रतिष्ठा कम हो जायेगी ऐसे मात्सर्य भाव को नहीं रखते हुए प्राप्त ज्ञान को देना अमात्सर्य है।

मात्सर्य से ज्ञान की हीनता होती है। एक दृष्टान्त है—बौद्ध विद्वान् जैन बालकों को इसी मात्सर्य से नहीं पढ़ाते थे कि वस्तुतत्त्व का सही ज्ञान होने से यह हमारा खंडन करेंगे अतः अकलंक-निकलंक बालक बौद्धभेषी बनकर बौद्ध मठों में पढ़ते थे। एक दिन गुरूजी ने एक सूत्र लिखा। सूत्र अशुद्ध लिखा देख, विचक्षण बालकों ने गुरुजी की अनुपस्थिति में उसे सुधार दिया। गुरूजी ने जब यह देखा तो मात्सर्य जागृत हो उठा। अरे ! यह कौन है हमारा शत्रु ? इसे खत्म कर देना चाहिये। अंततोगत्वा दोनों बालकों की हत्या के कई उपाय हुए और निकलंक के प्राणों की बलि भी हो

गई परन्तु बालक अकलंक ने ज्ञान बल से बौद्धों को 'वाद' में हरा दिया। अकलंक मुनिराज ने जैनधर्म का झंडा विश्व में फहरा दिया अतः अमात्सर्य ज्ञानप्राप्ति का अमोघ उपाय है।

(4) अन्तराय—**"ज्ञानव्यवच्छेदकारणम् अन्तरायः"** अर्थात् कलुषता से ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। "बहुरि कोई धर्मानुरागी ज्ञान का अभ्यास करते होई, तिनके व्यवच्छेद करना, स्थान बिगाड़ देना, पुस्तक का संयोग बिगाड़ देना, पढ़ाने वाले का सम्बन्ध बिगाड़ देना सो अन्तराय है।" अन्तराय ज्ञान का बाधक है। अनन्तराय से ज्ञान में वृद्धि होती है।

अनन्तराय—किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना अनन्तराय है। उदाहरणार्थ, एक बालक पढ़ रहा था। माँ को काम था, जाकर असमय में पुस्तक बंद कर दी। रात्रि के समय बालक पढ़ रहा था। बिजली चालू रहने से पिताजी को नींद नहीं आ रही थी, बिजली बुझा दी। दो ज्ञानी आपस में चर्चा कर रहे थे, अज्ञानी वहाँ जाकर जोर-जोर से चिल्लाने लगा तत्व चर्चा में बाधा कर दी। मुनिराज स्वाध्याय कर रहे थे, जाकर जोर-जोर से नमोऽस्तु-नमोऽस्तु करना चालू कर दिया। स्वाध्याय या प्रवचन चल रहा है, श्रावकों की अपनी बातें चल रही हैं अतः इन सब कारणों से जीव तीव्र ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है और तीव्र अन्तराय करता है अतः ज्ञानप्राप्ति के उपाय हेतु पढ़ते हुए को कभी रोकना नहीं चाहिये। अपने सुख के लिए बिजली आदि बंद नहीं करना चाहिए। व्यर्थ जोर-जोर से बकवास नहीं करना चाहिए। ज्ञानियों की आपसी चर्चा को ध्यान से सुनना, प्रवचनादि में मौन रहना, बीच में आना-जाना नहीं होना चाहिए। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के उपायों में किसी प्रकार विघ्न नहीं करते हुए ज्ञानाभ्यासी को हर प्रकार से मदद करना, उनके विघ्नों को दूर करना यह अनंतराय ज्ञानप्राप्ति का उपाय है।

अन्तराय करने से हानि—एक बालक बुद्धिमान् था और परीक्षा में द्वितीय नम्बर से पास होता था। उसने मैं प्रथम नंबर आऊँ यह सोचकर, प्रथम नंबर आने वाले विद्यार्थी की पढ़ाई में अंतराय करना आरंभ कर दिया। पुस्तक फाड़ना, पढ़ते हुए की बिजली बन्द कर देना, चिल्लाना, पढ़ते समय तेज आवाज में चिल्लाना, रेडियो लगाना आदि विघ्न किये और इसी में समय पूरा कर दिया। पढ़ाई कुछ नहीं हो सकी फलतः योग्य बालक तो अपनी पूर्ववत् क्रिया करता हुआ प्रथम नम्बर से पास हो गया और बुद्धिमान् ईर्ष्यालु फेल हो गया अतः ज्ञानप्राप्ति के इच्छुक मानव को कभी भी ज्ञानाभ्यास में विघ्न नहीं डालना चाहिए।

(5) आसादना—**"वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम्"** अर्थात् दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान का काय या वचन के द्वारा वर्जन करना आसादन है। "बहुरि परकरि प्रकाश्या ज्ञानकूं वचनकरि वर्जन करना सो आसादन है।

अनासादन के द्वारा आसादन दोष को मिटा सकते हैं।

अनासादना—दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने वाले ज्ञान को नहीं रोकना अनासादन है। कोई लेखक, कवि, उपदेशक, तत्त्वज्ञानी एवं धर्मप्रभावक है ऐसे ज्ञानी के ज्ञान के प्रकाश का निरन्तर प्रयत्न करना ज्ञानप्राप्ति का अमूल्य उपाय है। यदि लेखक या कवि है तो सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों के प्रकाशन कराकर, उनके एवं स्वयं के ज्ञान का विकास करें। यदि उपदेशक है तो स्थान-स्थान पर प्रवचनादि का आयोजन कराके, उनके ज्ञान से स्वयं का एवं धर्मप्रिय जनता का ज्ञान विकास करें। तत्त्वज्ञानी हैं तो तत्त्वनिर्णय की पद्धति का ज्ञान स्वयं सीखें और अन्य को सिखाने की उनसे प्रार्थना कर उनके ज्ञान का प्रकाशन करते हुए अपना विकास करें। यदि धर्मप्रभावक हैं तो तीर्थवन्दना, रथयात्रा, पूजा, तप, त्याग आदि धर्मप्रभावक कार्यों से ज्ञानी के ज्ञान विकास में सहायक बनकर अपना ज्ञान कमल सुरभित करें, पुष्पित करें।

(6) उपघात—**"प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातं"**। अर्थात् बुद्धि और हृदय की कलुषता से प्रशस्तज्ञान में दूषण लगाना उपघात है अथवा "बहुरि अपनी बुद्धि की दुष्टताकरि प्रशंसा योग्य ज्ञानकूं दूषण लगावना सो उपघात है।"

आसादन में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन गुण-कीर्तन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में

ज्ञान को ही अज्ञान कहकर नाश किया जाता है।

अनुपघात——सच्चे ज्ञान में दोष नहीं लगाना अनुपघात है। ज्ञानियों को सबसे भारी उपसर्ग यही सहन करना पड़ता है कि अज्ञानी दुष्टजन उनके ज्ञान को सहन नहीं कर पाते हैं और किसी भी उपाय से ज्ञानी के निर्दोष ज्ञान को कलंकित कर जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं परन्तु सच्चा ज्ञानसूर्य बादलों की ओट में दबता नहीं अपितु अन्दर ही अन्दर तेजी से धधकता है और फलतः पूर्ण तेजपुञ्ज केवलज्ञान सूर्य तीन लोक के प्रकाशन करने में समर्थ कैवल्यज्योति को प्राप्त होता है।

(7) आचार्य, उपाध्याय के प्रतिकूल प्रवृत्ति, (8) अकाल अध्ययन, (9) अश्रद्धा, (10) अभ्यास में आलस्य, (11) अनादर के अर्थ सुनना, (12) तीर्थोपरोध अर्थात् दिव्यध्वनि के समय स्वयं व्याख्या करने लगना, (13) बहुश्रुतपने का गर्व करना, (14) मिथ्योपदेश से बहुश्रुत का अपमान करना, (15) स्वपक्ष का दुराग्रह, (16) दुराग्रहवश असम्बद्ध प्रलाप, (17) सूत्रविरुद्ध बोलना, (18) असिद्ध से ज्ञानप्राप्ति, (19) शस्त्र विक्रय आदि हिंसादि कार्यों रूपी कीचड़ में फंसा ज्ञान कमल मुरझा रहा है, ऐसे समय में आलस्य, निद्रा, संक्लेश, शोक, अधिक रोग, चिंता के दलदल में फंसे मानव का ज्ञान कमल ज्ञानावरणीय मेघों से आच्छादित होता जाता है।

स्वाध्याय——"स्वाध्यायः परमं तपः" अर्थात् स्वाध्याय से ज्ञान गुण की वृद्धि व अज्ञान का नाश होता है।

मन–वचन–काय की एकाग्रता, लोभी लालची मन, चंचल मन, चोर मन प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। वचनों की चंचलता, व्यर्थ बकवास, बिना प्रयोजन बोलना, असत्य बोलना, अपशब्दों का उच्चारण, अशुद्ध उच्चारण इस सबसे पूर्णतः बचना चाहिए। जो अशुभ, अशुद्ध, असत्य, अप्रिय, अश्लील वचनों को न बोलकर भाषा समिति का पालन करता है उसे शीघ्र ही ज्ञान की उपलब्धि होती है।

काय की चंचलता होने पर ज्ञान का विकास रुक जाता है। काय की शुद्धि, काय से दुष्चेष्टाओं का अभाव कर काय को वश में रखना काय की एकाग्रता है।

जिस प्रकार मन्दिर के लिए मूर्ति आवश्यक है,

पुत्र प्राप्ति के लिए विवाह या मोक्ष के लिए केवलज्ञान आवश्यक है,

केवलज्ञान के लिए शुक्लध्यान आवश्यक है,

शुक्लध्यान के लिए शुद्धोपयोग आवश्यक है,

शुद्धोपयोग के लिए मुनिव्रत आवश्यक है,

मुनिव्रत के लिए षष्ठम सप्तम गुणस्थान आवश्यक है,

ठीक इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन, वचन, काय की एकाग्रता आवश्यक है।

आलस्य भी ज्ञानप्राप्ति में बाधक है। ठीक ही कहा है——**"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः"** अथवा **"अलसस्य कुतो विद्या"**।

निद्रा——पंचेन्द्रिय मानव को एकेन्द्रियवत् कर देने वाली महादेवी निद्रा है। कहावत है——"सुआ पल चूका" जो सो गया वह पल चूक गया। अधिक निद्रा ज्ञान की बाधक है।

संक्लेश——इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग जनित अहंकार, ममकार बुद्धि रूप संक्लेश परिणाम जीव के ज्ञान विकास के बाधक हैं। शल्य भी ज्ञान की बाधक हैं।

जिस प्रकार सहस्रों किरणों वाले सूर्य को तेजपुञ्ज बादलों की ओट में छिपते ही ढक जाता है उसी प्रकार केवलज्ञान ज्योतिपुञ्ज चैतन्य आत्मा ज्ञानावरण कर्मरूपी बादलों से आच्छादित हो रहा है। विवेकी को चाहिए कि ज्ञान को आवृत्त करने वाले हेतुओं से बचकर, उसे प्रकाशमान करने वाले सच्चे पुरुषार्थ से, चैतन्य चमत्कार आत्मा को ज्ञान की किरणों

से जगमग करे। केवलज्ञानमयी आत्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये ज्ञानावरण कर्म के आने के द्वारों से बचना मुमुक्षु का कर्तव्य है।

1.5 दर्शनावरण कर्म : एक चिन्तन—

दर्शन धर्म का मूल है तथा धर्म मनुष्यों का अभिन्न अंग है। धर्म के बिना मनुष्य पशु सदृश माना गया है। कहा भी है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः।।

धर्म पुरुष के चार पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थों के नाम हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें काम और मोक्ष साध्य तथा अर्थ और धर्म उनके साधन हैं। मुमुक्षु को मोक्ष की कामना होती है। मनुष्य पर्याय पाकर मनुष्य मोक्ष के योग्य कार्य नहीं कर सका तो किसी पर्याय में नहीं कर सकेगा। पुरुष होने की सार्थकता इसी में है कि वह धर्म पुरुषार्थ की अनवरत साधना करे जिससे कि मोक्ष सध सके।

धर्म की साधना के लिए दर्शन का बोध अपेक्षित है। दर्शन को जाने-समझे बिना धर्म की सम्यक् साधना संभव नहीं है अतः यहाँ दर्शन की विवेचना ही अपेक्षित है।

1.6 दर्शन का सामान्य अर्थ—

दर्शन-देखने अर्थ में प्रसिद्ध दृश् धातु में ल्युट् प्रत्यय के संयोजन से निष्पन्न शब्द है। इसका सामान्य अर्थ है—देखना। **''पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्'** इस व्युत्पत्ति से 'जिसके द्वारा देखा जावे' यह भी दर्शन का एक अर्थ बताया गया है। इस व्युत्पत्ति से देखने के साधन आँख और प्रकाश आदि उपकरण दर्शन ज्ञात होते हैं किन्तु जैन दर्शन में देखने के उपकरणों को दर्शन नहीं माना गया। दर्शन पर्याय से परिणत आत्म दर्शन को दर्शन कहा गया है।

दार्शनिकों की दृष्टि में दर्शन का यह अर्थ नहीं होता। 'दर्शन' शब्द सुनते ही उनका ध्यान षड्दर्शन की ओर जाता है। वे दर्शन से बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय दर्शन समझते हैं।

1.7 आध्यात्मिक अर्थ—

सामान्यतः देखने का नाम दर्शन है। इसके दो भेद हैं—बाह्य दर्शन और आभ्यन्तर दर्शन। इनमें बाह्य दर्शन का अर्थ है-जगत् के पदार्थों को सामान्य रूप से देखना और आभ्यन्तर दर्शन का अर्थ है-पदार्थों को देखकर उनके भीतरी स्वरूप को जानना। दर्शन का आध्यात्मिक अर्थ भी यही है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दंसणपाहुड़ में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, त्रियोग में संयमी हो, ज्ञान की करणशुद्धि तथा कृत, कारित और अनुमोदना की शुद्धिपूर्वक खड़े होकर हाथ में आहार करने में दर्शन बताया है। गाथा है—

दुविहंपि पि गन्थचायं तीसु विजोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि।।14।।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ही बोधपाहुड में निर्ग्रंथ और ज्ञानमयी मोक्षमार्ग, सम्यक्त्व, संयम और आत्मा का धर्म दिखाने वाले को 'दर्शन' कहा है।

कुन्दकुन्द के इन उल्लेखों से अध्यात्म के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ है आत्मदर्शन, जिसका सम्बन्ध चर्मचक्षुओं से न रहकर आत्म चक्षुओं से रहता है।

1.8 दर्शन के अंग—

दर्शन के दो ही अंग दिखाई देते हैं—दर्शक और दृश्य। जैनदर्शन में छः द्रव्य बताये गये हैं, जिनमें जीव दर्शक है

और जो शेष पाँच द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं, इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्त्त होने से दृश्य है।

जीव का लक्षण चेतना है और पुद्गल का अर्थ है वे पदार्थ, जिनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाया जाय। पुद्गल रूपी और शेष द्रव्य अरूपी होते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य जीव की गति तथा स्थिति में सहकारी होते हैं, प्रेरक नहीं। आकाश सभी द्रव्यों को अवकाश देने में और काल जीवों के परिणमन में सहकारी होता है।

जीव में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीन गुण पाये जाते हैं। एक पर्याय से दूसरी पर्याय प्राप्त करना उसका उत्पाद, पूर्व पर्याय का न रहना व्यय और विभिन्न पर्यायों में चेतन का यथावत् बना रहना उसका ध्रौव्य है।

यथार्थ में द्रव्यों का न उत्पाद होता है और न व्यय। उनका अवस्थान्तरण होता है। जीव अपनी वर्तमान पर्याय का उसी प्रकार त्याग कर देता है जैसे मनुष्य कपड़े जीर्ण हो जाने पर उनका त्याग कर देते हैं और जीव नयी पर्याय उसी प्रकार धारण कर लेता है जैसे मनुष्य फटे वस्त्र त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेता है।

जीव का अवस्थान्तरण होने पर भी उसका चेतन अपरिवर्तित रहता है। उसके ध्रुवत्व गुण में कोई बाधा नहीं आती जैसे कोई सोने के मुकुट को मिटवाकर कंगन बनवा ले। इसमें मुकुट का नाश और कंगन का उत्पाद हो रहा है परन्तु स्वर्ण में कोई उत्पाद और विनाश नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

1.9 चेतन का अस्तित्व—

जीव अनादिनिधन है स्व कर्म के अनुसार वह विभिन्न शरीर धारण किये हुए है। सुख और दुःख का अनुभव करने वाला शरीर नहीं है, शरीर के भीतर रहने वाला चेतन है। चेतनविहीन शरीर में यह क्रिया नहीं देखी जाती अतः चेतन और शरीर दो विभिन्न द्रव्य समझ में आते हैं। शिशु की दुग्धपान क्रिया में भी उसके पूर्व संस्कार ही कारण हैं। जीवों के जातिस्मरण भी प्रमाणित हुए हैं। इससे स्वयंसिद्ध है कि चेतन का अविनाशी अस्तित्व है।

1.10 जीव और पुद्गल का सम्बन्ध—

जीव और पुद्गल दो ही द्रव्य हैं जिनका शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का परिणमन होता है। किसी भी द्रव्य का आप में आप रूप परिणमन शुद्ध परिणमन है और एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से मिलकर एकीभाव को प्राप्त होना अशुद्ध परिणमन है। जीव और पुद्गल (देह) का परिणमन अशुद्ध परिणमन है, जैसे—हल्दी और चूना अपने पीत और श्वेत रूप का त्याग कर, रक्त रूप धारण कर एक रूप हो जाते हैं, ऐसे ही जीव और पुद्गल संसार में एकरूप दिखाई दे रहे हैं। दोनों के एकरूप होने में कारण है—वैभाविक शक्ति, जो जीव और पुद्गल में ही पाई जाती है, अन्य द्रव्यों में नहीं। इस शक्ति के सिवाय दोनों के एकरूप होने से पुद्गल की स्निग्ध और रूक्ष पर्याय भी सहकारी होती है। जीव का विकृत परिणमन उसे एकरूप होने को बाध्य करता है। यह परिणमन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है। इनसे आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है और वे विकृत परिणमन योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार पुद्गल और जीव दोनों एक क्षेत्रावगाही हो जाते हैं। जीव और पुद्गल दोनों विजातीय होने से, इन दोनों का एक क्षेत्रावगाही होना विजातीय बन्ध कहलाता है।

1.11 दर्शन के भेद—

जीव को जो शरीर, वचन, मन, उच्छ्वास और निःश्वास तथा सुख-दुःख, जीवन और मरण प्राप्त हो रहे हैं, वे सब पुद्गल का संयोग बना हुआ है। कमल जल का संयोग पाकर भी जैसे जल से अलिप्त रहता है इसी प्रकार जीव विकार भावों से अलिप्त रहकर, यथार्थ भी देख सकता है और विकारग्रस्त होकर अयथार्थ भी।

जीव का ऐसा दर्शन जिससे जीव का कल्याण होता है, सम्यग्दर्शन है और जिस दर्शन से इसके विपरीत स्थिति

बनती है वह मिथ्यादर्शन है। दूसरे शब्दों में, बन्धमोचिनी दृष्टि सम्यग्दृष्टि और बन्धकारी दर्शन मिथ्यादर्शन है। जीव जैसे चाहे दृष्टि का उपयोग करने में स्वतंत्र है।

1.12 दर्शनप्रभावक तत्त्व—

सामान्यतः इन्द्रियों में चक्षु देखने का काम करती है, जिस पर आहार-विचारों एवं वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। पीत ज्वर के रोगी को पीला दिखाई देने में जैसे पीत ज्वर कारण है इसी प्रकार अच्छा-बुरा देखने में जीव के तद्रूप विचार कारण बनते हैं। जीव जब कामवासनाओं से ग्रस्त होता है, उस समय वह स्त्री के रूप पर मुग्ध हो जाता है किन्तु विषयों से विरक्त होने पर वही स्त्री उसे मांस-मज्जा का घर दिखाई देती है। यह है जीव के विचारों का उसकी दर्शनशक्ति पर प्रभाव।

आहार-विहार से भी दर्शनशक्ति प्रभावित होती है। अभक्ष्य भक्षण करने वालों और मांसभोजियों का दर्शन हिंसामय होता है। साधु-सन्तों के साथ रहने से अहिंसा के दर्शन होते हैं, अहिंसामय दृष्टि बनती है।

1.13 दर्शन, शक्ति और शरीर—

पाँच इन्द्रियों में चौथी इन्द्रिय का नाम चक्षु है जिसका कार्य है देखना। चक्षु को देखने की शक्ति देने वाला है चेतन। उसके अभाव में न चक्षु इन्द्रिय अपना काम कर पाती है और न उसके उपकरण। जब चेतन देह से निकल जाता है तब चक्षु इन्द्रिय और उसके उपकरण विद्यमान रहने पर भी उनसे देखने की क्रिया निष्पन्न नहीं हो पाती अतः दर्शन चेतन का गुण है, चक्षु का नहीं।

1.14 आवरण का सामान्य अर्थ—

आवरण का अर्थ है—आच्छादन। वस्तु को ढक लेना। जैसे मेघ वर्षा में सूर्य के तेज को ढक लेते हैं इसी प्रकार वस्तु को आच्छादित करने का नाम आवरण है।

1.15 कर्म—

दर्शन और आवरण के पश्चात् कर्म का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जीव में आकर्षण शक्ति होती है और पुद्गल में आकर्ष्य शक्ति अतः चुम्बक जैसे लोहे को अपनी ओर खींच लेता है और लोहा उसमें चिपक जाता है इसी प्रकार जीव योग के निमित्त से पुद्गल की कार्माण वर्गणाओं को आकर्षित करता है और उनमें आकर्ष्य शक्ति होने से वे आकर्षित हो जाती हैं तथा जीव का साथ कर लेती हैं, इन्हें ही कर्म कहते हैं। जीव का विकार भाव कर्म साथ लिए रहता है और कर्मों का सद्भाव रहने से जीव में विकारभाव होते रहते हैं, वह अपने स्वभाव को नहीं समझ पाता। जैसे धान से छिलका पृथक् करने पर चावल का रूप प्रकट हो जाता है ऐसे ही कर्मों का नाश होते ही जीव अपने स्वरूप को पा जाता है।

1.16 दर्शनावरण कर्म—

यह पदार्थों का प्रतिभास कराने वाली जीव की चेतना शक्ति में पदार्थ का सामान्य प्रतिभास नहीं होने देता। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शकों को राजा के दर्शन नहीं होने देता, दर्शकों को द्वार पर ही रोक लेता है, राजदरबार में नहीं जाने देता इसी प्रकार यह कर्म पदार्थ का समान्य प्रतिभास ही नहीं होने देता जिससे जीव, पदार्थ के विशेष प्रतिभास से वंचित हो जाता है। अनन्तदर्शन का भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाता।

यह कर्म एक बार जीव के साथ होकर बहुत समय तक साथ रहता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण काल तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त बताई गई है।

1.17 दर्शनावरण कर्म के नौ भेद—

दर्शनावरण कर्म के आचार्यों ने नौ भेद बताये हैं। वे हैं—1. चक्षुदर्शनावरण, 2. अचक्षुदर्शनावरण, 3. अवधिदर्शनावरण, 4. केवलदर्शनावरण, 5. निद्रा दर्शनावरण, 6. निद्रानिद्रा दर्शनावरण, 7. प्रचलादर्शनावरण, 8. प्रचलाप्रचलादर्शनावरण और 9. स्त्यानगृद्धिदर्शनावरण।

इनमें चक्षु इन्द्रिय का कार्य है पदार्थ का सामान्य प्रतिभास करना। ऐसा न होने देने में निमित्तभूत कर्म चक्षु दर्शनावरण और चक्षु के सिवाय अन्य शेष चार इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ का सामान्य प्रतिभास न होने देने में निमित्तभूत कर्म अचक्षु दर्शनावरण कहलाता है। समस्त मूर्त द्रव्यों को देखने वाले अवधिदर्शन और लोकालोक के समस्त पदार्थों का दर्शन करने वाले केवलदर्शन को न होने देने वाले कर्म, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण कर्म कहलाते हैं।

मद, खेद और परिश्रमजन्य थकान दूर करने के लिए अल्प आहट पाकर ही, भंग हो जाने वाली श्वाननिद्रा के समान नींद लेने में निद्रादर्शनावरण और ऐसी गाढ निद्रा का आना कि वृक्ष, पहाड़ या विषम भूमि पर सो जाये, जगाने पर भी न जगे, खर्राटे भरे, इसमें निद्रानिद्रा दर्शनावरण कर्म निमित्त होता है। निद्रा का तीसरा रूप है प्रचला। बैठे-बैठे झपकियाँ लेने लगना, नेत्र और गात्र का विकृत हो जाना, आँखे रेत से भरी हुई के समान प्रतीत होना और सिर भारी हो जाना प्रचला दर्शनावरण के चिन्ह हैं तथा नींद की पुनः-पुनः आवृत्ति होना और गाढ़ निद्रा में लार गिरने लगना प्रचला प्रचला दर्शनावरण कर्म है।

स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म नींद की पराकाष्ठा का प्रतीक है। ऐसी नींद में मनुष्य सोते हुए बड़बड़ाता है, रौद्र कर्म करता है घर के दरवाजे खोलकर पुनः सो जाता है, जागने पर उसे द्वार खोलने का ज्ञान नहीं होता।

1.18 दर्शनावरण कर्म के कारण—

जीव का चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन क्यों आवृत होता है ? इसी प्रकार उसे ऐसी विविध प्रकार की नींद क्यों आती है ? आचार्यों ने इसका अध्ययन किया और उन्होंने इसके निम्न कारण दर्शाए हैं—

(1) प्रदोष—तत्त्वज्ञान के उपदेशक की प्रशंसा नहीं करना, उल्टे उसे देखकर उसके प्रति अशुभ परिणाम रखना प्रदोष है। ऐसा करने से उपदेशक से प्राप्त होने वाला मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता और उनका हमारे चक्षुदर्शन पर मूक प्रभाव पड़ता है। किसी की आँख निकालकर उसके दर्शन में बाधा पहुँचाने से ऐसा करने वाले के चक्षुदर्शन में भी बाधा आवेगी। चक्षुदर्शनावरण का यह प्रमुख कारण है। बहुत नींद लेने, दिन में शयन करने, सम्यक्दर्शन में दोष लगाने, नास्तिकपने के भाव रखने, सिद्धक्षेत्रों के दर्शन न करने, मुनियों को देखकर ग्लानि करने और प्राणिघात से भी ऐसा होता है। इन कारणों को बचाने के लिए मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

(2) निन्हव—वस्तुस्वरूप पूछे जाने या उसके साधन माँगे जाने पर अपनी देखी वस्तुओं को नहीं बताने के लिए अज्ञानता प्रकट करना तथा देखे साधनों को नहीं बताना निन्हव है। इससे दूसरों के दर्शन में अवरोध उत्पन्न होता है जो हमारे दर्शनावरण का कारण बन जाता है।

निन्हव और अचक्षुदर्शन दोनों का सम्बन्ध मन से होने के कारण निन्हव अचक्षुदर्शनावरण का कारण होता है।

(3) मात्सर्य—दूसरा पंडित न बन जावे इस ईर्ष्या भाव से उसे तत्त्वज्ञान के कारण शास्त्र आदि नहीं दिखाना और न बताना मात्सर्य है। इसमें भावों की कुटिलता है। कुटिल भाव अवधि और केवलदर्शन में बाधक होते हैं अतः इन दोनों के आवरण में मात्सर्य ही कारण होता है।

(4) अन्तराय—दूसरों के लिए पदार्थ देखने में विघ्न उपस्थित करना अन्तराय है। निद्रा के विविध रूप इसी के

फल ज्ञात होते हैं।

(5) आसादन——दूसरे के दर्शन गुण को छिपाना, किसी के द्वारा देखी हुई वस्तु को स्वीकार नहीं करना।

(6) उपघात——निर्दोष दर्शन में दोष लगाना। किसी दूसरे के निर्दोष सम्यक्दर्शन को दूषित बताना। देखने की शक्ति में दोषारोपण करना।

1.19 दर्शनावरण कर्मनाशक उपाय——

चिकित्सा शास्त्र में जैसे रोग, उसका कारण और उसका निदान (निवारण उपाय) बताया जाता है इसी प्रकार आचार्यों ने कर्मों का नाश करने के लिए निम्न उपाय दर्शाए हैं–

(1) मिथ्यादर्शन निवृत्ति——वस्तु स्वभाव जैसा है वैसा न देखकर विपरीत स्वरूप के दर्शन करना मिथ्यादर्शन है, जैसे देह और चेतन को एकरूप देखना, उन्हें पृथक्-पृथक् नहीं जानना। इससे यथार्थता का बोध नहीं हो पाता और ऐसा बोध न होने से उसका आचरण भी सम्यक् नहीं रह पाता अतः मिथ्यादर्शन से निवृत्ति परमावश्यक है। जिसका दर्शन ही मिथ्या हो वह वस्तुस्वरूप को कैसे समझ सकता है ?

(2) अविरति निवृत्ति——व्रतों का धारण नहीं करना, छह काय के जीवों की हिंसा तथा छहों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति अविरति है। ऐसा जीव विषयाग्रही होने से विषय रूप ही दर्शन करता है। वह स्त्री के सौन्दर्य को ही देखता है जबकि विषयों से निर्वृत्त पुरुष स्त्री के सौन्दर्य को देखते हुए भी उसके आभ्यन्तरिक घृणित स्वरूप को भी देख लेता है अतः यथार्थ दर्शन के लिए व्रतों से विरति नहीं व्रतों में प्रवृत्ति चाहिए, तभी दर्शन का आवरण हटेगा और दर्शनावरण कर्म का नाश हो सकेगा।

(3) प्रमाद निवृत्ति——अपने कर्त्तव्य के प्रति अनादर भाव प्रमाद है। इसके पन्द्रह भेद कहे हैं——पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा और प्रणय (स्नेह)। जीव स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा और राजकथाओं, इन्द्रिय विषयों, कषायों, नींद और स्नेह के आधीन होकर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। समयाधीन दर्शन से वंचित हो जाता है और ऐसा होने से दर्शनावरणकर्म जीव के साथ बना रहता है। व्यवहार में भी प्रमादी जीव सुखी दिखाई नहीं देता अतः प्रमादनिवृत्ति दर्शन के लिए आवश्यक है।

(4) कषाय निवृत्ति——आत्म परिणामों में निर्मलता न होना कषाय है। कषाय करने वाला जीव अपनी कषायों के अनुसार ही दूसरे जीवों को देखता है। अपने बैरी को सदा बैर से ही देखता है जबकि बैरी ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वास्तविकता का वह दर्शन नहीं कर पाता। इसके लिए कषायों में प्रवृत्ति नहीं, निवृत्ति चाहिए।

(5) योग निवृत्ति——आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होना योग है। यह मन, वचन और काय के योग से होता है। कषायों के कारण उत्पन्न परिणामों की क्रियान्विति में इनका ही हाथ होता है अतः यदि गांधीजी के तीन बन्दरों को ध्यान में रखा जावे तो योगों से निवृत्ति होगी। वे तीन बन्दर हैं——(1) बुरा मत सोच, (2) बुरा मत बोल, (3) बुरा मत देख।

दूसरे जीवों के साथ हम जैसा व्यवहार करते हैं, वैसा ही व्यवहार हमें प्राप्त होता है। अच्छे कार्य का फल अच्छा ही होता है। अच्छे परिणाम जीवन में अच्छाई का ही सृजन करते हैं अतः अच्छा दर्शन करें। शुभ दर्शन से ही दर्शन के आवरण दूर होंगे और यथार्थता का दर्शन हो सकेगा। सरल उपाय यही है कि वे कारण दूर किये जायें, जिनसे दर्शन आवृत होता है।

1.20 दर्शनावरण कर्म-निवारण-फल——

दर्शन, मनुष्य की क्रिया-प्रदर्शन का प्रथम अंग है। जैसा-जैसा देखा जाता है वैसे ही विचार बनते हैं और जैसे विचार होते हैं जीव के आचरण भी वैसे ही होते हैं। दर्शनविशुद्धि से सम्यक्ज्ञान होगा और सम्यक्ज्ञान होने पर सम्यक् चारित्र की सृष्टि होगी, निर्ग्रन्थ होकर तप करने के भाव होंगे। तपश्चरण होगा और तपश्चरण रूपी अग्नि में जलेंगे कर्म,

तब प्राप्त होगा मोक्ष, जहाँ है अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्तवीर्य।

अतः श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह नित्य देव, शास्त्र और निर्ग्रंथ गुरू के श्रद्धानपूर्वक दर्शन करे। देवदर्शन से 'सोऽहं' के भाव उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

दासोऽहं रटते हुए आया जिन के द्वार।
दर्शन से दा ना रहे हिय के खुलें किवार।।

अतः सदैव ऐसा दर्शन करें जो सम्यक् हो तथा धर्म का मूल हो, जिससे सुख का मार्ग प्रशस्त हो।

1.21 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–सामान्य से कर्म कितने प्रकार के हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) एक सौ अड़तालीस ☐

प्रश्न 2–ज्ञानावरणादि कर्मों में से छठा कर्म–

(क) मोहनीय ☐ (ख) आयु ☐ (ग) नाम ☐

प्रश्न 3–जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को प्रकट न होने दे, आवृत करे वह.....कहलाता है।

(क) ज्ञानावरण ☐ (ख) आवरण ☐ (ग) द्रव्यकर्म ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–ज्ञानावरण कर्म के कितने भेद हैं, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 2–ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 3–आसादना और अनासादना में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 4–दर्शनावरण कर्म के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–दर्शनावरण कर्म के कारण एवं उस कर्म को नाश करने के उपाय को विस्तारपूर्वक समझाइए ?

पाठ 2—सुख-दुःख प्रदाता वेदनीय, कर्मों का राजा मोहनीय

2.1 कर्म उसे कहते हैं, जो आत्मा का असली स्वभाव प्रगट नहीं होने दे। जैसे—बहुत सी धूल, मिट्टी उड़कर सूरज की रोशनी को ढक लेती है वैसे ही बहुत से पुद्गल परमाणु (छोटे-छोटे टुकड़े) जो इस आकाश में सब जगह भरे हैं, आत्मा में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होने से आत्मा के प्रदेशों के साथ मिलकर आत्मा के स्वरूप को ढक देते हैं। कषाय के सम्बन्ध से उनमें सुख-दुःख वगैरह देने की शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है इसलिए इन्हें ही कर्म कहते हैं।

राग-द्वेषादिक परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणा रूप जो पुद्गल जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त है, उन्हें कर्म कहते हैं।

जिसके द्वारा आत्मा परतन्त्र किया जावे, उसे कर्म कहते हैं। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है और इन दोनों का सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। कर्म के परमाणु और आत्मा के प्रदेश दूध और पानी की तरह एकमेक हो रहे हैं।

आत्मा में एकत्र योग-कषाय तथा योग्य पुद्गलों का जो भी परिणाम होता है, वह कर्म है। मन, वचन और काय का योग कर्म है।

आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं, उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाले पुद्गल को कर्म कहते हैं।

जैनधर्म-दर्शन-संस्कृति के कर्मवाद को जैनेतर दार्शनिकों ने भी स्वीकारा है। न्याय-वैशेषिक कर्म को 'अदृश्य' कहते हैं और मीमांसक 'अपूर्व'। सांख्य-योग दर्शन कर्म को 'आशय' मानते हैं और वैदिक दर्शन इसे 'अविद्या' संज्ञा देते हैं। बौद्ध विद्वान कर्म को 'वासना' कहते हैं और पाश्चात्य दार्शनिक कर्म को सौभाग्य-दुर्भाग्य मानते हैं। जैन चिन्तकों के सदृश जैनेतर भी 'जो जस करई सो तस फल चाखा' स्वीकारते हैं। 'As you sow, so shall you reap' "जैसा बोओ वैसा काटो" ऐसा कहते हैं, यह सर्वसाधारण की समझ है। जैन कर्मवाद पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सहज स्वीकृति देता है और ईश्वर को विश्व का स्रष्टा-संरक्षक-संहारक स्वीकारना अमान्य करता है। सृष्टि के समस्त जीवात्माओं के सुख-दुख का आधार कर्म है। जीवात्मा कर्मरूपी काँवट को अतीत से आज तक ढो रहा है। कर्म-फल भोगे बिना कोई भी विश्व का व्यक्ति बचा नहीं है। आदर्श अर्हंत और सफल सिद्ध तो क्रमशः चार-आठ कर्म नष्ट करके ही हुए हैं। कर्म के क्षय के लिए संवर और निर्जरा चाहिए, न कि आस्रव व बन्ध।

2.2 वेदनीय कर्म का स्थान—

संस्कृत भाषा में एक धातु या क्रिया है विद् ज्ञाने। इससे 'वेत्ता'—जानने वाला, ज्ञान वाला बना है और वह 'वेद' भी बना, जिसका अर्थ सच्चा और वास्तविक ज्ञान है। वेद भारतीय आर्यों के सर्वप्रधान व सर्वमान्य धर्म ग्रंथ हैं तथा श्रुति आम्नाय से सम्बन्धित हैं। वेदन (अनुभव) शब्द पुल्लिंग है और वेदना स्त्रीलिंग है। यह पीड़ा या हार्दिक व्यथा वेदना की प्रतीक है। वेदन-संवेदन में सुख-दुख का अनुभव करना है। संवेदना मन में होने वाला बोध या अनुभव है। किसी को कष्ट में देखकर मन में होने वाला दुख सहानुभूति है। विद् वेदमूलक, ज्ञानसदृश संवेदन से संवेदित तुल्य वेदनीय शब्द बना है। वेदनीय का आशय और अर्थ उस अनुभवनीय ज्ञान से है जो सुख-दुख मूलक है, हर्ष-विषाद और उत्थान-पतन का भी सूचक है।

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं और उनके अपने ठाठ हैं जो उत्तर प्रकृतियों के भेद से 148 हैं। ज्ञानावरण (5), दर्शनावरण (9) वेदनीय (2), मोहनीय (28), आयु (4) नाम (93), गोत्र (2) और अन्तराय (5)। इनमें वेदनीय कर्म का स्थान तीसरा है पर धर्मग्रंथों में घातिया-अघातिया कर्म की दृष्टि से भी वर्णन उपलब्ध है। विचार के इस

धरातल में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म घातिया हैं। घातिया इसलिए कि ये जीव के ज्ञान-दर्शनादि अनुजीवी गुणों का घात करते हैं अतएव इनकी घातिया संज्ञा ही है। वेदनीय, आयु या आयुष्य, नाम और गोत्र ये चार कर्म अघातिया हैं। कारण ये जीव के ज्ञान-दर्शनादिक अनुजीवी गुणों का घात या विनाश नहीं करते हैं। इनकी स्थिति धर्म ग्रंथों में नाममात्र, जली रस्सी में ऐंठ सी है। विचार के इस बिन्दु से वेदनीय कर्म का स्थान पाँचवा भी है।

2.3 वेदनीय की परिभाषा—

जो आत्मा को सुख-दुख देने में निमित्त हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। इस कर्म के उदय से संसारी जीवों को ऐसी चीजों का मिलाप होता है जिसके कारण वे सुख-दुख दोनों का अनुभव करते हैं। जैसे शहद लिपटी तलवार की धार चाटने से सुख-दुख दोनों ही होते हैं अर्थात् शहद मीठा लगता है और इससे सुख होता है परन्तु तलवार की धार चाटने से जीभ कट जाती है अतएव दुख होता है। दूसरा उदाहरण लीजिए कि प्रकाशचन्द्र ने लड्डू खाया तो अच्छा लगा, सुख हुआ, पर असावधान होकर चलने से पैर में काँटा लग गया तो रोना आया, दुख हुआ। दोनों ही दशाओं में प्रकाशचन्द्र के वेदनीय कर्म का उदय समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में वेदनीय कर्म सुख-दुख दोनों देता है। सुख और दुख दोनों का ही वेदन वेदनीय कर्म संसार के प्रत्येक जीवात्मा को प्रतिक्षण कराता ही रहता है। वेदन या वेदना लिये वेदनीय कर्म जीवमात्र के लिये जीवन संज्ञा लिये है यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

2.4 वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं–

(1) सातावेदनीय और (2) असातावेदनीय।

दोनों की परिभाषाएँ, उनके नाम और गुण की दृष्टि से संक्षेप में यों होंगी—जिस वेदनीय कर्म के उदय से शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अनेक प्रकार की अनुकूल परिस्थितियाँ मिलें, भोगोपभोग की आवश्यक पर्याप्त सुख साधन सामग्री मिले, वह सातावेदनीय है। इसका सीधा सम्बन्ध पुण्य कार्य फल से है। किसी के पास सुन्दर स्त्री हो, आज्ञाकारी पुत्र हो, सभ्य शिक्षित पुत्री-बहू हो, आजीविका की सुख-सुविधा हो, अल्प श्रम में अधिक अर्थ–द्रव्य–धन की प्राप्ति हो, बढ़िया बंगला-कार-टी. वी.-रेफ्रिजरेटर-कूलर आदि आरामदायक विलासिता की सामग्री हो, देश और समाज में सम्मान हो तो कहा जा सकेगा कि उसे सातावेदनीय कर्म का उदय है।

जिस कर्म के उदय से दुखदायक वस्तुयें और व्यक्ति मिलें, जीवन की परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों, वह असातावेदनीय कर्म है। इसका सीधा सम्बन्ध पाप कार्य–फल से है। किसी की स्त्री कर्कशा हो, पुत्र अहम्भावी हो, आजीविका का ठिकाना नहीं हो, आर्थिक स्थिति नगण्य हो, पुत्र आलसी हो, पुत्री विधवा हो जावे, बहू गरीब घर समझकर पीहर में जाकर रहने लगे तो कहा जा सकेगा कि इसके असातावेदनीय कर्म का उदय है, पूर्वोपार्जित कर्मों का विपाक या परिणाम है अतएव आरामदायक-विलासिता-आवश्यकताओं की पूर्ति तो दूर रही, अनिवार्य आवश्यकतायें भी अधूरी रह जा रही हैं।

पंडितप्रवर द्यानतराय ने अपनी 'सिद्ध पूजा' में वेदनीय के विषय में सर्वसाधारण की भाषा शैली में पुण्यवान और पापी के माध्यम से काफी सुस्पष्ट प्रेरणादायक लिखा है, जिसे संक्षेप में यों कहा जा सकेगा—

वेदनीय कर्म शहद मिश्रित तलवार की धार सदृश है।
वेदनीय कर्म साता (सुख) और असाता (दुख) देता है।।

वेदनीय कर्म के आधारभूत जो पुण्यवान और पापी मनुष्य हैं, उनकी परिस्थितियाँ प्रतिक्षण-प्रतिपल अपनी

कहानी कहती हैं। पुण्यवान महल में सोता है और पापी राह में पड़ा रोता है। पुण्यवान इच्छित भोजन पाता है और पापी माँगने पर एक टुकड़ा भी नहीं पाता। पुण्यवान जरी-जवाहर से वस्त्र-बदन की शोभा बढ़ाता है और पापी फटे पुराने कपड़े भी नहीं पहन पाता है। पुण्यवान स्वर्ण के थाल-कटोरी में भोजन करता है और पापी के कर या घर में चीनी का प्याला भी नहीं मिलता है। पुण्यवान हाथी पर चढ़ कर चलते हैं और पापी नंगे पैर नीचे चलते हैं। पुण्यवान के सिर पर छत्र लगते हैं और पापी के सिर पर बोझ लदते हैं। पुण्यवान की आज्ञा सभी मानते हैं और पापी की तो कोई प्रार्थना भी नहीं सुनता। पुण्यवान द्रव्य-सम्पत्ति पाता है और पापी की धन से कभी भेंट ही नहीं होती है। पुण्यवान को सभी देखने आते हैं और पापी को लोग कभी भी मुँह नहीं लगाते हैं। पुण्यवान को कभी भी रोग नहीं सताता है और पापी व्याधि-विपत्ति से बिलबिलाता है। पुण्यवान शील-रूपवान रमणी पाता है और पापी कैसी स्त्री भी नहीं पाता है। पुण्यवान के पुत्र काफी कमाई करते हैं, पापी के पुत्र पैसे-पैसे के लिए तरसते हैं। पुण्यवान को गिरी हुई वस्तु मिल जाती है और पापी के हाथ आई वस्तु भी गिर जाती है। पुण्यवान छह ऋतुओं के सुख भोगता है और पापी प्रत्येक ऋतु में प्रत्येक दिन दुख भोगता है।

पुण्य और पाप वेदनीय वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। जिन सिद्ध भगवान ने दोनों शाखाओं और उनके जनक वेदनीय वृक्ष को भी ध्यान की अग्नि से जला दिया, वे सिद्ध भगवान निराबाध सुख के पूर्ण धनी हैं।

2.5 वेदनीय कर्म अन्यत्र—

वेदनीय कर्म भी इहलोक-परलोक में सर्वत्र तब तक बना रहता है, जब तक 14 वाँ गुणस्थान जीवात्मा प्राप्त नहीं कर लेता है। वेदनीय कर्म के आगे जो मोहनीय कर्म है, मोहराज है, उसके दो भेद हैं— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं— कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय। थोड़ा इस दृष्टि से भी वेदनीय कर्म समझ लें।

धर्म के आचार्यों ने चारित्र मोहनीय का लक्षण यह लिखा कि जिस कर्म के उदय या निमित्त से आत्मा के चारित्र गुण का घात होता है, उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। जो मोहनीय कर्म जीवात्मा को मदिरा सदृश मोहित करता है, उस मोहनीय कर्म के उदय या निमित्त से चारित्रगुण का घात होना सहज स्वाभाविक है। चारित्र मोहनीय के उल्लिखित दो भेदों में वेदनीय जुड़ा है अतएव वेदनीय की वेदना भी मोहनीय के समकक्ष ही समझनी चाहिए। वेदनीय कर्म भी मोहनीय कर्म की जड़ें सींचता है। कषायवेदनीय का लक्षण यह है कि जो आत्मा के ज्ञानादिक-शुद्ध या शुभ भाव व धर्म क्षेत्र और उत्तम क्षमादि धर्म को कृष् (कम) या नष्ट करता है वह कषाय वेदनीय है। कषाय वेदनीय के चार प्रकार ये बतलाये हैं— अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। इन चार भेदों को क्रोध-मान-माया-लोभ से गुणा करें यानी अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ और संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, तो कषाय वेदनीय के सोलह भेद हो गए।

जो कषाय आत्मा के सम्यक्त्व या सम्यक्त्वाचरण का घात करे वह अनन्तानुबन्धी है। यह अनन्तकाल तक अनन्त संसार का कारण है। जिस कषाय के उदय से परिणाम देशचारित्र (श्रावक के चारित्र) धारण करने योग्य नहीं होते हैं उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। सही अर्थों में श्रद्धा-विवेक-क्रियावान अणुव्रती श्रावक बनने के लिए इस कषाय से मुक्ति अत्यन्त आवश्यक है। जिस कषाय के उदय से जीव के परिणाम सकल चारित्र या महाव्रत-मुनिव्रत धारण करने के योग्य नहीं होते हैं, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यदि सही अर्थों में महाव्रती, मुनि श्रमण, ऋषि, यति, अनगार बनना है तो इस कषाय को हटाना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। जो कषाय भाव आत्मा के यथाख्यातचारित्र में बाधक है, जो संयम के साथ जगमगाए पर प्रमादादि दोषों द्वारा किंचित् डगमगाए, आत्मिक वैभव के परिणाम जलावे, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं इसे ईषत् कषाय भी कह सकते हैं। अनन्तानुबन्धी पत्थर पर उत्कीर्ण रेखा है तो अप्रत्याख्यान खेत में हल द्वारा खींची रेखा है और प्रत्याख्यान पगडंडी पर गाड़ी के चाक की रेखा है तो संज्वलन पानी

में खींची क्षणिक रेखा है।

अकषायवेदनीय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक ये नौ भेद हैं जो अपनी संज्ञानुसार सर्वसाधारण भी समझ सकते हैं।

सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में वेदनीय की परिभाषा इस प्रकार दी है—जो सुख-दुख का वेदन करावे या अनुभव करावे वह वेदनीय कर्म है। इसका स्वभाव शहद लपेटी तलवार की धार के समान है जिसको कि पहले चखने से कुछ सुख होता है परन्तु पीछे से जीभ के दो टुकड़े होने पर अत्यन्त दुःख होता है। इस तरह साता और असाता वेदनीय से सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, यही बात आचार्य उमास्वामी ने बहुत पहले अपने मोक्षशास्त्र के आठवें अध्याय के **'सदसद्वेद्ये'** सूत्र के माध्यम से कही है। यानी सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं। सद्वेद्य वह है जिसके उदय से देव-मनुष्य आदि गतियों में शारीरिक तथा मानसिक सुख की प्राप्ति हो। असद्वेद्य वह है जिसके उदय से नरक-तिर्यञ्च गतियों में तरह-तरह की व्यथा और वेदना प्राप्त हो। दूसरों को दुःख देने, दुःखी करने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। पाँच पाप और चार कषाय करने से जीवात्मा स्वयं दुखी होता है और अन्य जनों को भी दुखी करता है। पुण्यवर्धक देवपूजा, गुरु उपासना, शास्त्र स्वाध्याय, संयम, तप और दान से जीवात्मा स्वयं सुखी होता है और अन्य जनों को भी सुखी करता है।

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। सातावेदनीय से भिन्न असातावेदनीय है अतएव असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभगोत्र ये पाप प्रकृतियाँ हैं। इस दिशा में स्मरणीय यह भी है कि घातिया कर्मों की सभी प्रकृतियाँ पापरूप हैं पर अघातिया कर्मों के पुण्य और पाप दोनों रूप वाली प्रकृतियाँ हैं।

2.6 वेदनीय के आगमन द्वार—

आचार्यप्रवर उमास्वामी ने 'मोक्षशास्त्र' के छठे अध्याय में असातावेदनीय कर्म के आगमन के द्वारा अथवा आस्रव का वर्णन इस प्रकार किया है—**'दुखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य'**। सूत्र का सरल संक्षिप्त अर्थ यह है कि निज और पर दोनों के विषय में स्थित दुःख-शोक, ताप-आक्रन्दन, वध-परिदेवन ये असातावेदनीय के आगमन द्वार हैं। दुख से आशय पीड़ारूप परिणाम विशेष का है। शोक से अभिप्राय अपने उपकारक पदार्थ अथवा व्यक्ति का विछोह–वियोग होने पर विकलता का है। ताप का तात्पर्य संसार में अपनी निन्दा होने पर, पश्चात्ताप के साथ अश्रुपात करते हुए रुदन करना है। यह अपना जी हल्का करने के लिए भी हो सकता है और अन्यजनों से सहानुभूति पाने के लिए भी हो सकता है। परिदेवन से अभिप्राय संक्लेश परिणामों का सहारा लेकर इस प्रकार रुदन करने का है कि दर्शक–श्रोता के हृदय में दयार्द्र परिणाम हो जाएँ। मन और मति से जितने भी प्रकार के दुख सम्भव हैं उन सभी का समावेश पूर्वोक्त छह प्रकारों में समझना चाहिए। इन्हें करेंगे तो असातावेदनीय कर्म में अभिवृद्धि होगी, अतएव इनसे बचकर रहें।

सातावेदनीय कर्म के आगमन द्वार अथवा आस्रव ये हैं—

'भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य' अर्थात् भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच तथा अर्हद्भक्ति सातावेदनीय कर्म के आगमन द्वार हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पा से अभिप्राय संसार के सभी प्राणियों और विशेषतया व्रताचारियों के प्रति दयामयी भावना—कृपा करने का है। दान से आशय निज और पर के उपकार के लिए वस्तु या द्रव्य को देना है। सरागसंयमादि योग से तात्पर्य पाँच इन्द्रियों और छठे मन को विषय वासनाओं से रोकने का है तथा छह काय के जीवों की हिंसा नहीं करके संयम को स्वीकारने का है साथ ही राग सहित संयम को स्वीकारना है। 'संयम के बिना जीव की एक घड़ी भी नहीं

बीते', विचारने का है। यहाँ सूत्र में उल्लिखित आदि शब्द से संयमासंयम (श्रावक के व्रत संयम–कुछ असंयम), अकामनिर्जरा, बालतप (मिथ्यादर्शन सहित तपस्या) का भी ग्रहण किया जाता है। व्रत को विधिवत् पालन करना सरागसंयमादि योग है।

क्षान्ति से आशय क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का अभाव करने का है। जहाँ कषाय का अभाव है वहाँ शान्ति है। कषाय के सद्भाव में शान्ति आकाशकुसुम है। लोभ का त्याग करना शौच है। मनुस्मृति में **'योऽर्थशुचिः स शुचिः'** लिखा है। जो अर्थ (द्रव्य/धन) की दृष्टि से पवित्र है वही वस्तुतः पवित्र है। सूत्र में उल्लिखित इति शब्द से तात्पर्य अर्हद्भक्ति और मुनिवरों की वैयावृत्ति करने का है। सभी प्राणियों के प्रति सरल और वात्सल्यमूलक व्यवहार का है।

वेदनीय कर्म के आगमन द्वारों के विषय में, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) के यशस्वी प्रणेता आचार्य नेमिचन्द्र ने वेदनीय के आस्रव या प्रत्यय बतलाने के लिए निम्नलिखित गाथा कही है—

भूदाणुकंप–वद–जोग जुजिदो–खंति–दाण–गुरुभत्तो।
बंधदि भूयो सादं विवरीयो बंधदे इदरं।।

गाथा का संक्षिप्त सरल अर्थ यह है कि सब प्राणियों पर दया करना, अहिंसा, सत्यादि व्रत स्वीकारना और समाधि परिणाम रूप योग से जो व्यक्ति सहित हो तथा क्रोध के त्याग रूप क्षमा को, मान के त्याग रूप मार्दव को, माया के त्याग रूप आर्जव को और लोभ के त्याग रूप शौच धर्म को अंगीकार किए हो, जो आहार–औषधि–शास्त्र–अभयदान देता हो, अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की गुरुभक्ति में जुटा हो, ऐसा जीवात्मा बहुभाग में बहुधा प्रचुर अनुभाग के साथ सातावेदनीय कर्म को बाँधता है। इसके विपरीत अदया, असत्य जैसे अनेक अवगुणों का धारक जीवात्मा तीव्र स्थिति अनुभाग सहित असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है। सातावेदनीय के बन्ध की प्रचुरता न बताने का कारण यह है कि स्थिति बंध की अधिकता विशुद्ध परिणामों से नहीं होती।

2.7 कर्म क्रम सन्दर्भ—

कर्मकाण्ड के अध्ययन-अनुभव-अभ्यास करने पर लगता है कि आचार्यश्री ने अनेकशः अपने ग्रंथ की संज्ञा सार्थक की और अपनी विलक्षण बुद्धि का चमत्कार दिखाया है।

एक प्रश्न यह है कि अन्तराय कर्म को, जो घातिया कर्म है, अघातिया कर्मों के बाद क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने 17वीं गाथा लिखी जिसका सरल संक्षिप्त अर्थ यह है कि यद्यपि अन्तराय कर्म घातिया है तथापि अघातिया कर्मों की तरह समस्तपने से जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों के निमित्त से ही अन्तराय कर्म अपना कार्य करता है अतएव उसे अघातिया कर्मों के अन्त में कहा है।

एक प्रश्न यह भी है कि वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, उसको घातिया कर्मों के मध्य कहने का क्या अभिप्राय है ? क्या यह साहूकार को चोरों के मध्य स्थान देना नहीं है ? प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री ने अपने ग्रंथ की 19वीं गाथा के माध्यम से सुस्पष्टतया दिया है।

वेदनीय कर्म (मोहनीय कर्म के भेद जो राग द्वेष रूप हैं, उनके उदय के बल से ही) घातिया कर्मों की तरह जीवों के अनुजीवी गुणों का घात करता है अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुखस्वरूप साता और असाता का अनुभव कराकर जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता है बल्कि परस्वरूप में लीन करता है। इस कारण अर्थात् घातिया कर्मों की तरह होने से घातिया कर्मों के मध्य में तथा मोहनीय कर्म के पहले इस वेदनीय कर्म का पाठक्रम रखा गया। भावार्थ तो यह है कि जब तक

राग–द्वेष रहते हैं तब तक ही यह जीव किसी को बुरा और किसी को भला समझता है। कारण, एक ही वस्तु किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय लगती है। जैसे कटुक रस वाला नीम का पत्ता ऊँट को प्रिय लगता है और मिष्ठान्नप्रिय मनुष्य को अप्रिय लगता है। इससे यह सत्य ज्ञात होता है कि वस्तु तो जैसी है वैसी ही है अर्थात् वस्तु किसी के लिए भली हो और किसी के लिए बुरी हो, ऐसा नहीं है। वस्तु सभी के लिए समान है पर उसके उपभोग के प्रति जिसका जैसा मनोभाव होता है वस्तु भी उसे वैसी प्रिय-अप्रिय लगने लगती है अर्थात् मोहनीय कर्मरूप राग-द्वेष के निमित्त से वेदनीय का उदय होने पर ही इन्द्रियों से उत्पन्न सुख और दुख का अनुभव होता है। चूंकि मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय कर्म वैसे ही कुछ भी नहीं कर पाता है जैसे निर्बल सैनिक राजा की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर पाता है, अतएव विचार के इस बिन्दु से ही घातिया कर्मों के बीच में अघातिया वेदनीय कर्म को स्थान देना पड़ा अर्थात् दर्शनावरणीय और मोहनीय के बीच सुरक्षित रूप से रखना पड़ा।

2.8 वेदनीय कर्म के निर्गमन द्वार—

विश्व छह द्रव्यों का समूह है। छह द्रव्यों में केवल जीव और पुद्गल में ही वैभाविक शक्ति है, परस्पर ध्यानाकर्षण की क्षमता है, परस्पर प्रभावित होकर जीव और पुद्गल प्रकृत से विकृत होते हैं और तदनुरूप आचरण या व्यवहार करने लगते हैं। जीव और पुद्गल के विकृत परिणमन का परिणाम विश्व दृष्टिगोचर हो रहा है। विश्व में एक मानव की दृष्टि से पुरुष और स्त्री दोनों पृथक् रूप में हैं पर जब वे दम्पत्ति बनकर जीवन व्यतीत करने हेतु सामाजिक और धार्मिक संस्कारों में बँधते हैं, परस्पर सम्बद्ध होते हैं, शारीरिक-मानसिक-धार्मिक-आर्थिक विचार-विनिमय व्यवहार करते हैं तो वे जन्म-जन्म के फेरे लगाने जैसे काम करने लगते हैं। सन्तति (पुत्र–पुत्री) के रूप में वे धर्म व समाज के सम्मुख प्रमाणपत्र भी प्रस्तुत करने लगते हैं और उनके लिए तन-मन-धन देकर अपना पितृत्व-मातृत्व सफल समझने लगते हैं। विवाह के बन्धन में फँसकर अपनी स्वतन्त्रता की इतिश्री करके परतन्त्रता को जीवनपर्यन्त स्वीकारते हैं। वेदनीय के फलस्वरूप सुख-दुःख भोगते हैं। विषम वेदना सहन करते हुए भी, वेदना के प्रतिकार हेतु विरोधी उपाय-बचाव नहीं करते हैं। इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति से स्त्री-पुरुष और जीव-पुद्गल अनादिकाल से उल्टी गंगा बहाने में अपना अहोभाग्य मान रहे हैं।

जीवात्मा में राग-द्वेष भाव उत्पन्न होना उसका विकृत परिणमन है और पुद्गल में कर्म स्कन्धादि रूप परिणमन होना उसका विकृत परिणमन है। जीव की विकृत परिणति पुद्गल कर्म की उदयावली से उद्भूत होती है और पुद्गल की विकृत परिणति जीवात्मा के विकृत क्रियाकलापों के कारण होती है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से आज तक चला आ रहा है। जीव की चतुर्गति रूप संसार पर्याय शुद्ध जीव की पर्याय नहीं है। जीव और पुद्गल के संयोग से निर्मित संयोगी पर्याय के कारण जीव की संसारी पर्याय अशुद्ध पर्याय कहलाती है और पर द्रव्य संयोग से रहित होने के कारण सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय शुद्ध–पर्याय कही जाती है। जब तक आत्मा और शरीर का संयोग है तब तक रोटी, कपड़ा, मकान, संस्थान चाहिए। जहाँ आत्मा ने कर्मरूपी भवन ही ध्यानरूपी अग्नि से जला दिया वहाँ शुद्धात्मा के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, संस्थान का प्रश्न ही नहीं रहा। इस विषय में मननीय सत्य तथ्य यह भी है कि अनादिकाल से साथ रहने पर भी कभी जीव पुद्गल नहीं हुआ और कभी पुद्गल जीव नहीं हुआ।

कहा भी है—

जिस्म का रूह से रिश्ता भी अजब रिश्ता है।
उम्र भर साथ रहे फिर भी तार्रूफ न हुआ।।

जैसे कर्म के आगमन द्वार हैं वैसे कर्म के निर्गमन द्वार भी हैं। मन–वचन–काय के योग से जैसे कर्म आते हैं वैसे संवर और निर्जरा के सहयोग से कर्म जाते भी हैं। जब तक कर्मबन्ध है तब तक मोक्ष नहीं है। जहाँ कर्मबन्ध रूपी रज्जु

जली कि मुक्तिश्री मिली। राग-द्वेष पर विजय मिलते ही मुक्तिश्री ने वरमाला डाली। आस्रव का निरोध करना संवर है। आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आगमन होता था उन कारणों को दूर करना ताकि अन्य कर्मों के आगमन से मुक्ति मिले। कर्मों के आगमन को रोकने के लिए एक ओर पुद्गलमय कर्म आस्रव रोकना और दूसरी ओर पुद्गल कर्मास्रव के कारणभूत भावों का अभाव करने के लिए सक्षम/सक्रिय होना। आत्मा की सुरक्षा और विकास के लिए दुष्कर्मों से बचने का सुदृढ़ संकल्प करना अर्थात् मन, वचन, काय को वश में रखना, भूख-प्यास, शीत-उष्ण, दंशमशक, नग्नता-अरति, स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या, आक्रोध-वध-याचना, अलाभ-रोग तृण-स्पर्श-मल परीषहजय करना, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शन जैसी स्थितियों में ज्ञानानन्दमयी मनोभाव सुस्थिर रखना बुद्धिमानी है। एक वाक्य में शरीर से आत्मा की, सृष्टि से मोक्ष की दिशा में चलने के लिए उतना परिश्रम करना कि जितना भी शक्य और सम्भव हो। वस्तुस्थिति-देशकाल-स्वशक्ति को दृष्टि में रखते हुए मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड़ना और अपनी आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जोड़ना ही उचित है। इस दिशा में सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातचारित्र की सम्यक् दिशा में बढ़ना। कर्म आगमन का द्वार बन्द कर, बाहरी सुरक्षा से सुखद सांस लेने का उपक्रम संवर है।

बाहर के कर्म आगमन द्वार बन्द कर निश्चिन्त होकर, खर्राटे भरने लगना नितान्त अनुचित है। जब तक भीतरी कर्म नष्ट नहीं होते हैं तब तक मोक्ष सुदूर है, वहाँ संसार ही है अतएव भीतरी कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिए ज्ञानरूपी दीपक जलाना चाहिए और उसमें तपस्या रूपी तेल भरना चाहिए तथा अन्तरंग में स्थित कर्मों की खोज-शोध करके उन्हें ध्यानपूर्वक निकालना चाहिए। आत्मिक जीवनज्योति जागृत करने की सफलता तब ही है जब सभी कर्म क्षय हो जाएँ तभी शिवथल या सिद्धशिला की प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं।

चूँकि कर्मों का क्षय तप द्वारा ही सम्भव है अतएव छह बाह्य और छह आभ्यन्तर तप अपनाना चाहिए। बाह्य तप की अपेक्षा अन्तरंग तप पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कारण कि अन्तरंग के कर्म खोजकर निकालना है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनय जहाँ रखें, वहाँ वैयावृत्य के दश प्रकारों को भी नहीं भूलें। स्वाध्याय, जिसे धर्मज्ञ आचार्यों ने परम-चरम तप कहा, उसकी सर्वतोमुखी अभिवृद्धि करने के लिए वाचना, पृच्छना, आम्नाय भी दृष्टि पथ में रखना चाहिए। व्युत्सर्ग तप बढ़ाने के लिए, बाहरी-भीतरी चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग कर, सही अर्थों में क्षीणमोह, वीतराग निर्ग्रंथ बनने का प्रयत्न होना चाहिए। ध्यान की दिशा में आर्त्त और रौद्रध्यान का पूर्णतया परित्याग करके, धर्मध्यान-शुक्लध्यान को ही अंगीकार करना चाहिए। पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ से आगे स्नातक बनने के लिए प्राण-प्रण से प्रयत्न करना चाहिए। एक बार अर्हंत बने कि सिद्ध बनने के लिए शत-प्रतिशत सम्भावनाएँ सुनिश्चित हुईं।

संक्षेप में, कर्मों के आस्रव को संवर और निर्जरा द्वारा रोकना चाहिए और अपनी आत्मा में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त बल, अनन्त सुख प्रकट करना चाहिए। हम चेतन होकर जड़ कर्मों से पराजय स्वीकार करें, उनके दास बनें, इससे तो हमारी ज्ञान चेतना पर बहुत बड़ा लांछन लगता है, पुरुषत्व पर बट्टा लगता है। एक वेदनीय क्या, आठों कर्मों की जीतने की क्षमता हममें है, यह बात अर्हंतों ने बार-बार दुहराई है इसलिए अपनी शक्ति पहचान कर हम आगे बढ़ें।

2.9 स्मरणीय सत्य तथ्य—

आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में वेदनीय के भंगों के विषय में लिखा है कि वेदनीय की गति सभी गुणस्थानों में है। साता और असाता इन दोनों में से एक ही का बन्ध अथवा उदय योग्यस्थान में होता है और सत्व दो-दो का ही सयोगी पर्यन्त है। अयोगी के अन्त समय में जिसका उदय उसी का सत्व होता है इसलिए वेदनीय कर्म के गुणस्थानों की अपेक्षा से भंग इस प्रकार कहे हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त चार भंग हैं, सयोगी जिनपर्यन्त दो भंग होते हैं और अयोगी गुणस्थान में चार भंग हैं।

आचार्य उमास्वामी ने **'वेदनीये शेषाः'** सूत्र लिखकर स्वर्णोपदेश दिया कि क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये एकादश परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं। इन्हीं आचार्यश्री ने **'वेदनायाश्च'** सूत्र के माध्यम से समझाया कि योगजनित पीड़ा का निरन्तर चिन्तवन करना, यह वेदनाजन्य आर्तध्यान है। अर्थात् जैसे सुख भोगते हैं वैसे ही दुख भी भोगना चाहिए। सुख और दुख दोनों स्थितियों में समभाव रखेंगे तभी वीतरागता की प्राप्ति होगी। इन्हीं आचार्यश्री ने **'एकादशजिने'** सूत्र लिखकर समझाया कि सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीषह होते हैं (जो 'वेदनीय शेषाः' के अन्तर्गत पूर्व में लिख दिए गए)। इस विषय में स्पष्टीकरण यह भी है कि जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय होने से उसके उदय से होने वाले ग्यारह परीषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय नहीं होने से भगवान को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती है। वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म की संगति पाकर ही दुख का कारण बनता है स्वतन्त्र या पृथक् होकर नहीं–कारण, वह अपने आपमें निर्बल सैनिक है। तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है इसलिए उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं। वास्तव में तो जिनेन्द्रदेव के एक भी परीषह नहीं होता है।

नेमिचन्द्र आचार्य ने वेदनीय कर्म की परिभाषा समझाई कि जो उदय में आकर, देवादि गति में जीव को शारीरिक तथा मानसिक सुखों की प्राप्ति रूप साता का 'वेदयति' भोग करावे अथवा वेद्यते अनेन, जिसके द्वारा जीव उन सुखों को भोगे वह सातावेदनीय कर्म है व जिसके उदय का फल अनेक प्रकार के नरकादिक गतिजन्य दुखों का भोग-अनुभव कराता है, वह असातावेदनीय कर्म है। साता और असातावेदनीय कर्म का मूल स्रोत पुण्य-पाप है, उसके फल में आसक्ति रखना अनुचित है। हर्ष-विषाद करना निष्फल है। पंडितप्रवर दौलतराम जी ने छहढाला में इसी सत्य को यों समझाया है—

पुण्य पाप फल मांहि हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि विनसै थिर थाई।।

2.10 वेदनीयविषयक निश्चित निष्कर्ष—

(1) अष्ट कर्मों की शृंखला में वेदनीय कर्म तीसरा कर्म है। (2) वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति तीस सागर है। (3) वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। (4) वेदनीय कर्म सुख-दुख के वेदन कराने में निमित्त है। (5) वेदनीय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। (6) वेदनीय कर्म एक रथ चक्र सदृश है। (7) वेदनीय सांसारिक जीवन का केन्द्रबिन्दु है। (8) वेदनीय वेदनामय जीवन का प्रतीक है। (9) वेदनीय का विनाश 14वें गुणस्थान के बाद है (10) वेदनीय का विनाश अनिश्चित सा होता है (11) वेदनीय अघातिया कर्म है (12) वेदनीय अनुजीवी गुणों का घात नहीं करता है (13) वेदनीय जीवात्मा के अव्याबाध गुण के विकास में बाधक है (14) वेदनीय का आस्रव-बन्ध कभी भी, कहीं भी हो सकता है (15) वेदनीय कर्म की संवर-निर्जरा असाध्य न हो, कष्टसाध्य तो है ही (16) वेदनीय भी शेष कर्मों के सदृश जीवात्मा की मुक्ति में बाधक है।

वेदनीय कर्म ही क्या, सभी कार्यों को 'प्रकृति' कहा गया है। प्रकृति का अर्थ बतलाने के लिए गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र ने निम्नलिखित गाथा लिखी है—

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइ संबंधो।
कणयो वले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।।2।।

गाथा का सरल अर्थ यह है कि कारण के बिना जो सहज स्वभाव होता है, उसको प्रकृति, शील अथवा स्वभाव कहते हैं। जैसे कि आग का स्वभाव ऊपर को जाना है, पवन का तिरछा बहना है और जल का स्वभाव नीचे की ओर

बहना है। प्रकृत में यह स्वभाव जीव और अंग (कर्म) का ही लेना चाहिए। इन दोनों में से जीव का विभावरूप स्वभाव रागादि रूप परिणमने का है और कर्म का स्वभाव रागद्वेष रूप परिणमावने का है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकाल से है। जीव और कर्म का अस्तित्व भी स्वयं ही ईश्वरादि कर्त्ता के बिना ही स्वत:सिद्ध है। जिस प्रकार शराब और भांग का स्वभाव बावला/पागल कर देने का है और पीने वाले जीवात्मा का स्वभाव पागल हो जाने का है वैसे ही जीव का विभावरूप स्वभाव रागद्वेष पाप–कषाय रूप होने का हो रहा है और कर्म या अंग का स्वभाव जीव को राग–द्वेष पाप–कषाय रूप परिणमाने का अनादिकाल से हो रहा है। वर्तमान विश्व भी विविधताओं और विचित्रताओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। भिन्न रंग, भिन्न रूप, भिन्न भाषा, भिन्न भोजन, भिन्न–व्यवहार, भिन्न धर्म, भिन्न संस्कृति, भिन्न साहित्य, भिन्न जीवन, भिन्न दर्शन, भिन्न शरीर, भिन्न माता–पिता, भिन्न देश–काल, भिन्न आचार–विचार, भिन्न आत्मा, भिन्न स्थिति। इस भिन्नता में अभिन्नता खोजना अतीव कष्टसाध्य कार्य है। सभी बाहरी भेदों की अपेक्षा भीतरी एकता अभेद–अखण्ड है। इसमें अणु भर भी सन्देह नहीं है। सबकी आत्मा एक जैसी है, सभी सुख चाहते हैं, सभी को अपने प्राण प्रिय हैं इसलिए विश्व के व्यक्ति युद्ध से अयुद्ध (शांति) की ओर चलकर ही 'जियो और जीने दो' या 'परस्परोपग्रहो जीवानां' सूत्र का संकेत बनकर ही विश्व की एक मानव संज्ञा सार्थक कर सकते हैं, अपने धर्म–कर्म सार्थक कर सकते हैं।

कभी जीवात्मा को जीवन यात्रा में यह मति भ्रम हो जाता है कि मैं अन्य जनों के लिए बहुत कुछ करता हूँ, मेरे ही कारण वे इतने सुखी–दुखी हैं, अर्थात् मैं उन्हें सुख–दुख देता रहा हूँ। यह भाव पिता–पुत्र, स्वामी–सेवक, पति–पत्नी, अधिकारी–अधीनस्थ में अहंभाव बढ़ाता है, अज्ञान का अन्धकार बढ़ाता है। आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने इस दिशा में सूर्यसत्य यह कहा है कि सुख दुख भी निश्चय से अपने ही कर्मों के उदय से होते हैं।

जो अप्पणा दु मण्णदि दु:खिद सुहिदं करेमि सत्ते ति।
स मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।

अर्थात् जो जीव अपने मन में ऐसा समझता है कि मैं इन जीवों को दु:खी या सुखी करता हूँ या कर सकता हूँ तो ऐसा विचार करने वाले जीव मूढ़ हैं, अज्ञानी हैं। ज्ञानी का विचार तो इसके विपरीत ही होता है अर्थात् वह अपने लिए अन्य का कर्त्ता नहीं मानता है। आगे उन्होंने कहा——अपने कर्मोदय के निमित्त से ही सब जीव सुखी या दुखी होते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता है और तू उनको कर्म देता नहीं है तब तेरे द्वारा वे प्राणी कैसे सुखी–दुखी किए गये ? वे सब जीव तुझे कर्म देते नहीं हैं फिर उन्होंने तुझे कैसे सुखी–दुखी किया ? सभी अपने कर्मों के फल भोगते हैं। महाप्रभु आदिनाथ का जीवन कर्मफल चेतना का ज्वलन्त निदर्शन है। उनके गर्भ, जन्म, तप के समय स्वर्ग के देवता आए पर उनके आहार लाभ के प्रसंग में कोई सहायता नहीं कर सका, न चक्रवर्ती पुत्र, न अन्य अधीनस्थ।

2.11 संसारभ्रमण का मूल कारण : मोहनीय कर्म–

''मोहयति मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्।'' जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है।

"मोहनीयस्य का प्रकृति: ? मद्यपानवद्‌धेयोपादेयविचार–विकलता।" मोहनीय कर्म का क्या स्वभाव है ? मद्यपान के समान हेय–ज्ञान की रहितता अर्थात् अविवेक मोहनीय कर्म की प्रकृति कहलाती है।

''मुह्यते इति मोहनीयम्'' जो मोहित करे सो मोहनीय कर्म, इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मोहित करे अर्थात् शराब, धतूरा, स्त्री आदि मोहनीय कर्म हैं। यहाँ तो मोहनीय नामक द्रव्यकर्म की प्रमुखता अपेक्षित है। आठ द्रव्यकर्मों में मोहनीय कर्म ही संसार परिभ्रमण का मूल कारण है।

2.12 मोहनीय कर्म के भेद—

षट्खण्डागम की छठी पुस्तक में कहा है—

''मोहनीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ।'' जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेव।। मोहनीय कर्म के अट्ठाइस भेद हैं। दो भेद भी हैं—दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड जीव प्र. टीका में मोहनीय के चार भेद बताये हैं—दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषाय वेदनीय, नोकषाय वेदनीय।

''पज्जवट्ठियणए पुण अवलंविज्जमाणे मोहणीयस्स असंखेज्जलोगमेत्तीयो होंति, असंखेज्जलोगमेत्त-उदयट्ठा–णण्णहीणुववत्तीदो।'' पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर तो मोहनीय कर्म की असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते। अर्थात् मोहनीय कर्म के इस अपेक्षा से असंख्यात भेद भी हैं।

2.13 दर्शनमोहनीय का सामान्य लक्षण—

''दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्''। तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होने देना दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक हैं। आप्त या आत्मा में, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। उस दर्शन को जो मोहित करता है, विपरीत करता है, अविश्वास करता है अथवा अश्रद्धान करता है उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं या जिस कर्म के उदय से अनाप्त में आप्तबुद्धि और अपदार्थ में पदार्थबुद्धि होती है अथवा आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है; अथवा दोनों में भी अर्थात् आप्त-अनाप्त, आगम-अनागम में और पदार्थ-अपदार्थ में श्रद्धा होती है, वह दर्शनमोहनीय कर्म कहलाता है।

दर्शनमोहनीय के भेद—**''जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं, तस्स सम्मत्तं पुण तिविहं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि।''**

दर्शनमोहनीय बन्धकाल में एक प्रकार का होता है तथा सत्वावस्था में तीन प्रकार का होता है।

(1) मिथ्यात्व प्रकृति—जिसके उदय से जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग में विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक हिताहित का विचार करने में असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है।

(2) सम्यक्त्व प्रकृति—वही मिथ्यात्व परिणाम जब शुभ परिणामों के कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता है और उदासीन रूप से अवस्थित रहकर आत्मा के श्रद्धान को नहीं रोकता है वह सम्यक्त्व प्रकृति कहलाती है। इसका वेदन करने वाला सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

(3) सम्यग्मिथ्यात्व—वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेष के कारण क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों और ओदन के उपयोग से प्राप्त हुए मिश्र परिणाम के समान उभयात्मक परिणाम होता है तब सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है।

दर्शनमोहनीय सत्वावस्था में तीन प्रकार के कोदों के समान (दला जाने वाला, अर्द्ध चावल और कोदों इन तीन अवस्था को प्राप्त होता है उसी प्रकार) दर्शनमोहनीय भी तीन अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

2.14 चारित्रमोहनीय का लक्षण—

''पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्।'' ''घादिकम्माणिपावं। तेसिं किरिया मिच्छत्ता संजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं। तं मोहेइ आवारेदि तित्त चारित्तमोहणीयं।''—पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। घातिया कर्मों को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय, ये पाप की क्रियाएँ हैं। इन पाप क्रियाओं के अभाव को

चारित्र कहते हैं। उस चारित्र को जो मोहित करता है अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं अर्थात् राग का न होना, असंयम का न होना चारित्र है।

''चरति चर्यतेऽनेनेति चरणमात्रं वा चारित्रं, तन्मोहयति मुह्यतेऽनेनेति चारित्रमोहनीयं।''

चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—(1) कषाय वेदनीय (2) अकषायवेदनीय (नोकषायवेदनीय)। कषाय वेदनीय 16 भेद वाला है और नोकषाय वेदनीय 9 भेदों वाला है।

कषाय वेदनीय—''जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम।''– जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है वह कषायवेदनीय है।

अकषाय वेदनीय—''जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णो कसायं वेदयदि तं णोकसायवेदणीयं णाम।''– जिस कर्म के उदय से जीव नोकषाय का वेदन करता है वह नोकषाय (अकषाय) वेदनीयकर्म है।

2.15 अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का कार्य—

पढमादिया कसाया सम्मत्तं देससयलचारित्तं।
जहखादं घादंति य गुणणामा होंति सेसावि।।

पहली अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व को घातती है, दूसरी अप्रत्याख्यान कषाय देशचारित्र को , तीसरी प्रत्याख्यान कषाय सकलचारित्र को और चौथी संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र को घातती है। इसके गुणों के अनुसार ही इनके गुणों के अनुसार ही इनके नाम भी हैं।

अनन्त संसार का कारण होने के कारण से मिथ्यात्व अनन्त है, उसके साथ जो सम्बन्ध करे वह अनन्तानुबन्धी है। अप्रत्याख्यान ईषत् संयम-देशसंयम को घातती है। प्रत्याख्यान सकलसंयम नहीं होने देती तथा संज्वलन-''सम'' एकरूप होकर जो संयम के साथ प्रकट रहे वह संज्वलन कषाय है। इसी प्रकार नोकषाय और ज्ञानावरणादि भी सार्थक नाम वाले हैं।

2.16 कषायों का वासना काल—

अंतोमुहुत्त पक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण।।

संज्वलन का वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है, प्रत्याख्यानकषाय का एक पक्ष, अप्रत्याख्यान का छह महिना तथा अनन्तानुबन्धी का संख्यात-असंख्यात और अनन्तभव है।

वासनाकाल—उदय का अभाव होते हुए भी कषाय का संस्कार जितने काल तक रहे, उसका नाम वासनाकाल है।

कषायों के भेद उदाहरण सहित, तारतम्यता के साथ आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती बतलाते हैं—

2.17 क्रोध कषाय के भेद व उसका फल—

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो।।

क्रोध चार प्रकार का होता है (1) अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा के समान, (2) अप्रत्याख्यान क्रोध—पृथ्वी रेखा के समान, (3) प्रत्याख्यान क्रोध—धूलि रेखा के समान और (4) संज्वलन क्रोध—जल रेखा के समान। ये चारों ही क्रोध क्रमशः नरक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न करने वाले हैं। शक्ति की अपेक्षा क्रोध के चार भेद इस प्रकार हैं—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, अजघन्य और जघन्य।

2.18 मान कषाय के भेद—

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो।।

मान कषाय चार प्रकार की होती है—(1) अनन्तानुबन्धी मान—पत्थर के समान, (2) अप्रत्याख्यान मान—हड्डी के समान, (3) प्रत्याख्यान मान—काठ के समान, (4) संज्वलन मान—बेंत के समान। ये चारों ही कषाय क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवगति की उत्पादक हैं।

2.19 माया कषाय के भेद—

वेणुवमूलोरब्भयसिगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं।।

माया कषाय भी चार प्रकार की है—(1) अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ के सदृश, (2) अप्रत्याख्यान माया—मेढ़े के सींग सदृश, (3) प्रत्याख्यान माया—गो मूत्र के सदृश व (4) संज्वलन माया—खुरपा के सदृश। ये क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति को दिलाने वाली है।

2.20 लोभ कषाय के भेद—

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो।।

लोभ कषाय भी चार प्रकार का है—(1) अनन्तानुबन्धी लोभ–कृमिराग के समान, (2) अप्रत्याख्यान लोभ–चक्रमल (रथ आदि के पहियों के भीतर का ओंगन), (3) प्रत्याख्यान लोभ–शरीर के मल के सदृश, और (4) संज्वलन–हल्दी के रंग के समान। ये चारों लोभ कषायें भी तारतम्य के साथ क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति की उत्पादक हैं।

2.21 दर्शनमोहनीय के बन्ध योग्य परिणाम—

''केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य''। अर्थात् केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।

''मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्''। अर्थात् सत्य मोक्षमार्ग को दूषित ठहराना और असत्य मोक्षमार्ग को सच्चा बताना, ये भी दर्शनमोह के कारण हैं।

2.22 कषायवेदनीय के बन्ध योग्य परिणाम—

''स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः।''

स्वयं कषाय करना, दूसरों में कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनों के चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश को पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करना आदि कषायवेदनीय के आस्रव हैं।

''जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण–धर्मावध्वंसन–तदन्तरायकरणशीलगुणदेशसंयत–विरति–प्रत्यावन–मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादन–वृतसंदूषण–संक्लिष्टलिंगव्रतधारणस्वपर–कषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः।''

जगदुपकारी शीलव्रती तपस्वियों की निन्दा, धर्मध्वंस, धर्म में अंतराय करना, किसी को शीलगुण देशसंयम और सकल संयम से च्युत करना, मद्य-मांस आदि से विरक्त जीवों को उससे बिचकाना, चारित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषों का धारण, स्व और पर में कषायों का उत्पादन आदि कषायवेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

2.23 अकषायवेदनीय के बन्धयोग्य परिणाम—

1. हास्य वेदनीय—उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकारपूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हर एक की हँसी मजाक करना हास्य वेदनीय के आस्रव के कारण है।

2. रति—विचित्र क्रीड़ा, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, बहुपीड़ा, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना।

3. अरति—रति विनाश, पापशील व्यक्तियों की संगति, अकुशल क्रिया को प्रोत्साहन देना आदि।

4. शोक—स्वशोक, प्रीति के लिए पर का शोक करना, दूसरों को दुःख उत्पन्न कराना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन आदि शोकवेदनीय के आस्रव के कारण है।

5. भय—स्वयं भयभीत रहना, दूसरों में भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीय के आस्रव के कारण हैं।

6. जुगुप्सा—धर्मात्मा, चतुवर्ण, विशिष्ट वर्ग, कुल आदि की क्रिया और आचार में तत्पर पुरुषों से ग्लानि करना, दूसरों की बदनामी करने का स्वभाव आदि।

7. स्त्रीवेद—अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छलकपट, तीव्रराग, परांगनागमन, स्त्रीभावों में रुचि आदि।

8. पुंवेद—मन्द क्रोध, कुटिलता का न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदार संतोष, ईर्ष्या रहित भाव, स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदि के प्रति आदर न होना आदि।

9. नपुंसकवेद—प्रचुर क्रोध, मान, माया, लोभ, गुप्त इन्द्रियों का विनाश, स्त्री-पुरुषों में अनङ्ग क्रीडा का व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषों को बिचकाना, परस्त्री पर आक्रमण, तीव्रराग, अनाचार आदि नपुसंक वेद के आस्रव के कारण हैं।

तात्पर्य यह है कि सर्व कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। समस्त दुःखों की प्राप्ति का निमित्तकारण होने से मोह को "अरि" अर्थात् शत्रु कहा है क्योंकि समस्त कर्म मोह के आधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं जिससे कि वे स्वतन्त्र समझे जायें इसलिए सच्चा 'अरि' तो मोहनीय कर्म है किन्तु ऐसा माने कि मोह आधीन अन्य कर्म हैं तो मोह शत्रु के नष्ट होने पर, जन्म-मरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से उनका सत्त्व असत्त्व के समान हो जाता है।

बध्यते मुच्यते जीव, समम निर्मम क्रमात्।
तस्मान् सर्वप्रयत्नेन, निर्मम इति चिंतयेत्।।

जीव राग के द्वारा बँधता है और राग न करने से छूटता है इसलिए प्रयत्नपूर्वक राग का त्याग करना चाहिए। मनुष्य जितना बाह्य पदार्थों से राग-द्वेष-मोह करना छोड़ेगा, उतना-उतना ही सुखी होता जायेगा। आचार्य अमितगति मोहनीय कर्म को क्षय करने के लिए कहते हैं–

न संति बाह्याः मम केचनार्थाः भवामि तेषां न कदाचनाहं।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै।।

जो मनुष्य मोहनीय कर्म के उदय से मान के वशीभूत होकर देव, शास्त्र, गुरु का अवर्णवाद करता है वह सत्तर कोड़ाकोड़ी वर्ष की अवधि का कर्मबन्ध कर लेता है अर्थात् यदि व्यक्ति सुख एवं सद्गति चाहता है तो उसे बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग करके व्रत, नियम, दान, दया, पूजन आदि शुभोपयोग में जीवन बिताना चाहिए।

2.24 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–जो आत्मा का असली स्वभाव न प्रगट होने दे उसे क्या कहते हैं ?

(क) शत्रु ☐
(ख) कर्म ☐
(ग) राग–द्वेष ☐

प्रश्न 2–आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

(क) 8 ☐
(ख) असंख्यात ☐
(ग) 148 ☐

प्रश्न 3–वेदनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

(क) 5 ☐
(ख) 2 ☐
(ग) 3 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–असातावेदनीय कर्म किसे कहते हैं ? उदाहरण देकर समझाइए ?

प्रश्न 2–वेदनीय कर्म के आगमन और निर्गमन के द्वार कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 3–संसार भ्रमण का मूल कारण क्या है, परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 4–चारित्रमोहनीय कर्म का लक्षण बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–अनन्तानुबंधी आदि कषायों का कार्य, वासना काल, भेद और उनके फल को विस्तार सहित बताइए ?

पाठ 3–चतुर्गति यात्रा संवाहक आयुकर्म एवं शरीर निर्माता नामकर्म

3.1 परिणामों की विचित्रता है। जीवों को सदैव अपने परिणामों को सम्भालते रहना चाहिए। आयु कर्म का किस समय बन्ध हो जाये पता नहीं। आयु कर्म बड़ा प्रबल होता है। एक बार आयु का बंध हो जाने पर वह छूटता नहीं। हाँ, परिणामों के शुभ-अशुभ होने पर उसमें अपकर्षण या उत्कर्षण अवश्य हो सकता है। जैसे–

राजा श्रेणिक ने यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया। तत्काल ही नरकायु में सप्तम नरक की 33 सागर की स्थिति का बंध पड़ गया। पश्चात् उन्होंने पश्चात्ताप के द्वारा कुकृत्यों की निंदा-गर्हा की, किन्तु एक बार आयुबंध हो गया उससे बच नहीं पाये, किन्तु परिणामों की निर्मलता से सप्तम नरक की आयु का अपकर्षण होकर मात्र प्रथम नरक की चौरासी हजार वर्ष की आयु ही शेष रह गई। इसलिए परिणामों को सदा निर्मल रखना चाहिए।

किसी जीव ने निर्मल परिणामों से मनुष्यायु का बंध कर लिया परन्तु यदि अन्तिम समय परिणाम निर्मल नहीं रहे तो वह जीव मनुष्य आयु तो पायेगा पर सम्मूर्च्छन लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य बनकर अपनी उत्तमता को खो देता है। इसी प्रकार यदि किसी ने वैमानिक देव की आयु निर्मल परिणामों से बांधी पर अन्त में परिणाम गिर गये तो वह भवनत्रिक देवों में पैदा होता है। यदि किसी ने अशुभ परिणामों में देवायु को (भवनत्रिक) बांध लिया पर अन्तिम समय परिणामों में विशुद्धि रही तो वह वैमानिक देवों में पैदा होता है। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यायु का बंधक भी परिणामों की निर्मलता में मरणकर उत्तम कुल में गर्भज मनुष्य पर्याय को बाँधता है।

कम्मकयमोहवड्ढियसंसारम्हि य अणादिजुत्तम्हि।
जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं।।

कर्म के उदय से उत्पन्न हुए मोह से अनादि चतुर्गति रूप संसार की वृद्धि होती है। गति में जीव का अवस्थान कराने वाला आयु कर्म जैसे काष्ठ का खोड़ा मनुष्य को रोककर रखता है। **''देहट्ठिदि अण्णहाणुववत्तीदो''** अर्थात् देह की स्थिति अन्यथा हो नहीं सकती इस अन्यथानुपपत्ति से आयुकर्म का अस्तित्व जानना चाहिए।

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों में आयु कर्म अघातिया कर्म है। कर्मों के क्रम में मोहनीय के बाद आयु का क्रम है। आचार्य कहते हैं कि आयुकर्म के निमित्त से भव में स्थिति होती है इसीलिए नामकर्म से पूर्व आयुकर्म को कहा है। पर्यायधारण का निमित्त वास्तविक तो आयुकर्म है। इसका स्वभाव सांकल या काष्ठयंत्र के समान है। जैसे साँकल या काष्ठयंत्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है दूसरे स्थान पर जाने नहीं देता उसी प्रकार आयुकर्म जीव को नरकादि पर्यायों में रोके रखता है।

3.2 आयु कर्म चार प्रकार का है—

(1) नरकायु, (2) तिर्यञ्चायु , (3) मनुष्यायु और (4) देवायु। इसमें नरकायु पाप प्रकृति है तथा शेष तीन आयु पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

प्रश्न–तिर्यञ्चगति और नरकगति दोनों अशुभ मानी गईं पर यहाँ तिर्यञ्च आयु को शुभ कैसे कहा ?

समाधान–गति की अपेक्षा से दो गतियाँ तिर्यञ्च व नरक अशुभ हैं क्योंकि तिर्यञ्च व नरकगति में कोई भी जीव जाना नहीं चाहता है परन्तु तिर्यञ्चायु शुभ इसलिए है कि एक बार तिर्यञ्चायु में जन्म लेने के बाद वह जीव वहाँ से मरना नहीं चाहता है। चाहे छोटे से छोटा जीव लट, चिंवटी, मच्छर या कोई बड़ा भी हाथी, घोड़ा। बैल आदि हों वे वहाँ से छूटना नहीं चाहते, उन्हें वही अवस्था प्रिय लगती है परन्तु नरकायु में जीव एक समय भी रहना नहीं चाहता, हर समय मरने के परिणाम आते हैं इसलिए दोनों आयुओं में शुभाशुभपना आचार्यों ने कहा है।

चारों आयु का नोकर्म–नरकायु का नोकर्म अनिष्ट आहार है। शेष तीन आयु का नोकर्म इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले अन्नपानादि हैं।

3.3 आयुबंध के कारण—

नरकायु बंध के कारण—

मिच्छो हु महारम्भो णिस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो।
णिरयाउगं णिबंधदि पावमदी रुद्धपरिणामो।।

जो मिथ्यादृष्टि (तत्त्वार्थश्रद्धान से रहित) हो, बहुत आरम्भी व अपरिमित परिग्रही हो, शीलरहित हो, तीव्र लोभी हो, रौद्र परिणामी अर्थात् हिंसादि पापकर्मों में आनन्द मानने वाला हो, पाप करने में ही जिसकी मति हो वह जीव नरकायु का तीव्र अनुभाग सहित बन्ध करता है। उमास्वामी आचार्य के अनुसार—

''बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः''

तिर्यञ्चायु के बन्ध के कारण—चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जो आत्मा में कुटिलभाव उत्पन्न होता है वह माया है। इसे तिर्यञ्चायु के बंध का प्रत्यय जानना। **''माया तैर्यग्योनस्य''।।**

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना, शीलरहित जीवन बिताना, अतिसंधानप्रियता तथा मरण के समय नील व कापोत लेश्या और आर्तध्यान का होना आदि तिर्यञ्चायु बन्ध के विशेष प्रत्यय हैं।

मनुष्यायु बन्ध के कारण—जो जीव स्वभाव से ही मन्दकषायी अर्थात् मृदु स्वभावी हो, पात्रदान में प्रीतियुक्त, शील व संयम से अर्थात् इन्द्रिय संयम व प्राणीसंयम से सहित हो, मध्य गुणों से सहित ऐसा जीव मनुष्यायु को तीव्र अनुभाग सहित बाँधता है।

स्वभाव का विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेश परिणामी नहीं होना इत्यादि मनुष्यायु के तीव्र अनुभाग के विशेष प्रत्यय हैं। कहा भी है—''अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य''।

देवायु बंध के कारण—जो जीव सम्यग्दृष्टि है वह केवल सम्यक्त्व से एवं साक्षात् अणुव्रत-महाव्रतों से देवायु को बाँधता है तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह अज्ञानरूप बाल तपश्चरण से एवं बिना इच्छा के बन्ध आदि से हुई अकामनिर्जरा से देवायु का बन्ध करता है।

अकाम निर्जरा, बालतप, मन्दकषाय, समीचीन धर्म का सुनना, दान देना, देव, गुरु व धर्म तथा इनके सेवक इन छह आयतनों की सेवा करना, सराग संयम, सम्यक्त्व और देशसंयम ये सब देवायु बन्ध के प्रत्यय हैं।

3.4 अपकर्षकाल में आयुबंध—

लेस्साणं खलु अंसा, छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा, अट्ठट्ठवगरिसकालभवा।।

लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश, इनमें से मध्य के आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं वे ही आयुकर्म के बँधने योग्य होते हैं।

छहों लेश्याओं के जघन्य–मध्यम–उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल संबंधी अंशों के मिलाने पर 26 भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च की भुज्यमान आयु का प्रमाण छह हजार पाँच सौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भागों में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु का बंध

होता है। यदि यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक-एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष काल में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है। यदि यहाँ पर भी बन्ध न हो तो इसी प्रकार से तीसरे अपकर्ष में होता है और तीसरे में भी न हो तो चौथे, पाँचवे, छट्ठे, सातवें, आठवें अपकर्ष में से किसी भी अपकर्ष में परभवसंबंधी आयु का बन्ध होता है परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध हो ही जाय। केवल इन अपकर्षों में आयु के बन्ध की योग्यता मात्र बताई गई है इसलिए यदि किसी अपकर्ष में बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयु के अन्तिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल) से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होता है, यह नियम है।

भुज्यमान आयु के तीन भागों में से दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष काल में लेश्याओं के आठ मध्यमांशों में से जो अंश होगा उसके अनुसार आयु का बन्ध होगा तथा आयुबन्ध के योग्य आठ मध्यमांशों में से जो अंश जिस अपकर्ष में होगा उस ही अपकर्ष में आयु का बन्ध होगा, दूसरे काल में नहीं।

जीवों के दो भेद हैं—एक सोपक्रमायुष्क और दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विष भक्षणादि निमित्त के द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं और इससे जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं। जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीति से ही परभव संबंधी आयु का बन्ध होता है किन्तु अनुपक्रमायुष्कों में कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कों में जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयु के अन्तिम छह माह शेष रहने पर आयु के बन्ध करने के योग्य होते हैं। इसमें भी छह माह के आठ अपकर्ष काल में ही आयु का बन्ध करते हैं, दूसरे काल में नहीं। जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च हैं उनकी आयु का प्रमाण एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय से लेकर तीन पल्योपम पर्यन्त है। इसमें से वे अपनी-अपनी यथायोग्य आयु के अन्तिम नौ महीनों के आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बंध करते हैं। इस प्रकार ये लेश्याओं के आठ अंश आयुबंध के कारण हैं। जिस अपकर्ष में जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयु का बन्ध होता है।

3.5 आयुकर्म की आबाधा—

आयुकर्म की आबाधा कोटिपूर्व के तीसरे भाग से "असंक्षेपाद्धा प्रमाणपर्यन्त" है। आयु कर्म की आबाधा में प्रतिभाग का नियम नहीं है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट आबाधा कोटिपूर्व वर्ष के तीसरे भागप्रमाण तथा जघन्य आबाधा "असंक्षेपाद्धा" प्रमाण है। यह काल भी आवली के संख्यातवें भाग प्रमाण है अतः आयुकर्म की आबाधा इसी प्रकार है, अन्य कर्मों की स्थिति के समान नहीं है।

शंका—असंख्यात वर्ष की आयु वाले ऐसे देव-नारकी और भोगभूमिज की तो 6 माह आयु शेष रहने पर आयु का बन्ध होता है तथा कर्मभूमिज मनुष्य, तिर्यञ्च के अपनी सम्पूर्ण आयु के अन्तिम त्रिभाग में आयु बँधती है। कर्मभूमिज की उत्कृष्ट आयु कोटिपूर्व वर्ष अर्थात् संख्यात वर्ष प्रमाण है अतः उसी का त्रिभाग उत्कृष्ट आबाधाकाल कहा। त्रिभाग के आठ अपकर्ष कालों में आयु का बंध हो सकता है, कदाचित् आठों अपकर्षों में आयु का बन्ध नहीं हुआ तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु के अवशेष रहने पर उत्तर भव की आयु को अन्तर्मुहूर्त काल के समयप्रबद्ध में बाँधकर निष्ठापन करते हैं तथा असंक्षेपाद्धाकाल पर्यन्त विश्राम करते हैं, उसके पश्चात् मरण होता है।

भुज्यमान आयु के अधिक से अधिक छह महीना अवशेष रहने पर देव और नारकी, मनुष्य अथवा तिर्यञ्चायु का ही बन्ध करते हैं तथा मनुष्य-तिर्यञ्च भुज्यमान आयु का त्रिभाग शेष रहने पर चारों आयुओं में से योग्यतानुसार किसी भी एक आयु का बंध करते हैं। भोगभूमिज जीव अपनी आयु का छह महीना अवशेष रहने पर देवायु का ही बंध करते हैं। एकेन्द्रिय और विकलत्रय जीव मनुष्यायु और तिर्यञ्चायु में से किसी एक का बन्ध करते हैं किन्तु तेजकाय-

वायुकायिक जीव और सप्तमपृथ्वी के नारकी जीव तिर्यञ्चायु का ही बन्ध करते हैं।

नारकी आदि जीवों के अपनी–अपनी गति सम्बन्धी एक आयु का उदय एवं परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होते समय अथवा बन्ध हो जाने पर उदयागत आयु सहित (बध्यमान और भुज्यमान रूप) दो का सत्त्व है किन्तु जब तक एक भुज्यमान आयु की ही सत्ता रहती है।

एक जीव एक भव में एक ही आयु का बन्ध करता है और वह भी योग्यकाल में तथा वहाँ पर भी वह सभी स्थानों पर आयु की त्रिभागी शेष रहने पर ही बँधती है।

3.6 नामकर्म और उसकी प्रकृतियाँ—

जैन दर्शन में 8 कर्म होते हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें चार घातिया कर्म हैं और चार अघातिया कर्म, जिसे पूर्व में बताया जा चुका है। कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव रूप प्रदान करता है।

आत्मा का नारक आदि रूप नामकरण करना नामकर्म की प्रकृति है। जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमा है वह नामकर्म है जो नाना प्रकार की रचनावृत्ति करता है वह नामकर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध आदि कर्मों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं, वे नाम इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है।

नामकर्म के मूल भेदरूप 42 प्रकृतियाँ हैं। उत्तर भेदरूप 93 प्रकृतियाँ है। 42 भेद इस प्रकार हैं—

(1) गति—जिसके उदय से जीव दूसरे भव को प्राप्त करता है उसे गतिकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, और देवगति। जिसके उदय से आत्मा को नरकगति प्राप्त होवे उसे नरकगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(2) जाति—जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि गतियों में अव्यभिचार रूप समानता से एकरूपता को प्राप्त हो वह जाति नामकर्म है। इसके 5 भेद हैं—(1) एकेन्द्रिय जाति, (2) द्वीन्द्रिय जाति, (3) त्रीन्द्रिय जाति, (4) चतुरिन्द्रिय जाति और (5) पंचेन्द्रिय जाति। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा हो उसे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं। इसी प्रकार सभी भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(3) शरीर—जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके 5 भेद हैं—(1) औदारिक, (2) वैक्रियक, (3) आहारक, (4) तैजस और (5) कार्मणशरीर नामकर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(4) अङ्गोपाङ्ग—जिसके उदय से अङ्ग-उपाङ्गों की रचना हो उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—(1) औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग, (2) वैक्रियक शरीर अङ्गोपाङ्ग और (3) आहारक शरीर अंङ्गोपाङ्ग। जिसके उदय से औदारिक शरीर के अङ्गोपाङ्गों की रचना होती है उसे औदारिक शरीर अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(5) निर्माण—जिस कर्म के उदय से अंगोपांगों की रचना यथास्थान और यथाप्रमाण हो उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

(6) बन्धन—शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर संबंध जिस कर्म के उदय से होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं। इसके 5 भेद हैं—(1) औदारिक, (2) वैक्रियिक, (3) आहारक, (4) तैजस और (5) कार्माण। बन्धन नामकर्म सब भेदों के साथ लगा देना चाहिए। जिसके उदय में लगे हुए कर्म ईंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर संबंध को प्राप्त हो वह औदारिक बन्धन नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए।

(7) संघात—जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों के प्रदेशों का छिद्ररहित बन्ध हो उसे संघात नामकर्म

कहते हैं। इसके भी 5 भेद हैं—(1) औदारिक, (2) वैक्रियक, (3) आहारक, (4) तैजस और (5) कार्माण। संघात नामकर्म सब भेदों के साथ लगा लेना चाहिए।

(8) संस्थान—जिस कर्म के उदय से शरीर की संरचना अर्थात् आकार बने उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके 6 भेद हैं—(1) समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, (2) न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, (3) स्वातिसंस्थान, (4) कुब्जकसंस्थान, (5) वामनसंस्थान और (6) हुण्डकसंस्थान।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर ऊपर-नीचे तथा बीच में समान भागरूप अर्थात् सुडौल हो उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वटवृक्ष की तरह नाभि से नीचे पतला और ऊपर मोटा हो तो न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो, उसे स्वातिसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुबड़ा हो उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से बौना शरीर हो उसे वामनसंस्थान नामकर्म कहते हैं और जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपाङ्ग किसी खास प्रकृति के न हों उसे हुण्डकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

(9) संहनन—जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बंधन में विशेषता हो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके छह भेद हैं—(1) वज्रवृषभनाराच संहनन, (2) वज्रनाराच संहनन, (3) नाराच संहनन, (4) अर्द्धनाराच संहनन, (5) कीलक संहनन और (6) असंप्राप्तसृपाटिका संहनन। जिस कर्म के उदय से वृषभ (वेष्टन), नाराच (कील) और संहनन (हड्डियाँ) वज्र की हों उसे वज्रवृषभनाराच संहनन नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से व्रज के हाड़ और वज्र की कीलियाँ हों परन्तु वेष्टन वज्र के न हों उसे वज्रनाराच संहनन कहते हैं। जिसके उदय से सामान्य वेष्टन और कीलीसहित हाड़ हों, उसे नाराच संहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से हड्डियों की संधियाँ अर्धकीलित हों उसे अर्धनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं। जिसके उदय से हड्डियाँ कीलित हों उसे कीलक संहनन नामकर्म कहते हैं और जिसके उदय से जुदी-जुदी हड्डियाँ नसों से बंधी हुई हों, परस्पर कीलित नहीं हों उसे असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन नामकर्म कहते हैं।

(10) स्पर्श—जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—(1) कोमल, (2) कठोर, (3) गुरु, (4) लघु, (5) शीत, (6) उष्ण, (7) स्निग्ध और (8) रूक्ष।

(11) रस—जिसके उदय से शरीर में रस हो वह रस नामकर्म कहलाता है। इसके 5 भेद हैं—तिक्त (चरपरा), कटु (कडुआ), कषाय (कषायला), आम्ल (खट्टा) और मधुर (मीठा)।

(12) गन्ध—जिसके उदय से शरीर में गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(1) सुगन्ध और (2) दुर्गंध।

(13) वर्ण—जिसके उदय से शरीर में वर्ण अर्थात् रूप हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं—(1) शुक्ल, (2) कृष्ण, (3) नील, (4) रक्त और (5) पीत।

(14) आनुपूर्व्य—जिस कर्म के उदय से विग्रहगति में मरण से पहले के शरीर के आकाररूप आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इनके चार भेद हैं-(1) नरकगत्यानुपूर्व्य, (2) तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, (3) मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, (4) देवगत्यानुपूर्व्य। जिस समय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु को पूर्ण कर पूर्व शरीर से पृथक् हो नरकभव के प्रति जाने को सन्मुख होता है, उस समय पूर्व शरीर के आकार रूप आत्मा के प्रदेश जिस कर्म के उदय से होते हैं उसे नरकगत्यानुपूर्व्य कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिए।

(15) अगुरुलघु—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक के तूल की तरह हल्का न हो, वह अगुरुलघु नामकर्म है।

(16) उपघात—जिस नामकर्म के उदय से अपने अङ्गों से अपना घात हो उसे उपघात कहते हैं।

(17) परघात——जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अङ्गोपाङ्ग हों उसे परघात नामकर्म कहते हैं।

(18) आतप——जिस कर्म के उदय से आतपरूप शरीर हो तो आतप नामकर्म कहते हैं।

(19) उद्योत——जिसके उदय से उद्योतरूप शरीर हो उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं।

(20) उच्छ्वास——जिसे उदय से शरीर में उच्छ्वास हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

(21) विहायोगति——जिसके उदय से आकाश में गमन हो, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं——(1) प्रशस्त विहायोगति और (2) अप्रशस्त विहायोगति।

(22) प्रत्येक शरीर——जिस नामकर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, उसे प्रत्येक शरीर नामकर्म कहते हैं।

(23) साधारण शरीर——जिसके उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों, उसे साधारण शरीर नामकर्म कहते हैं।

(24) त्रस——जिसके उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में उत्पन्न हों, उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

(25) स्थावर——जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न हो, उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

(26) सुभग——जिसके उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति उत्पन्न हो, उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

(27) दुर्भग——जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अप्रीति उत्पन्न हो, उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

(28) सुस्वर——जिसके उदय से मधुर स्वर (आवाज) हो, उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

(29) दुःस्वर——जिसके उदय से खराब स्वर हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

(30) शुभ——जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

(31) अशुभ——जिसके उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर न हों, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

(32) सूक्ष्म——जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो, जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो, उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते हैं।

(33) बादर (स्थूल)——जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो, उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

(34) पर्याप्ति——जिसके उदय से अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हो, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

(35) अपर्याप्ति——जिस कर्म के उदय से जीव के एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो, उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

(36) स्थिर——जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा, और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त हो उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

(37) अस्थिर–जिसके उदय से पूर्वोक्त धातु और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान में स्थिर न रहें उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

(38) आदेय–जिसके उदय से प्रभासहित शरीर हो, उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

(39) अनादेय–जिसके उदय से प्रभा रहित शरीर हो, उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

(40) यशःकीर्ति–जिसके उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(41) अयशःकीर्ति–जिसके उदय से जीव की संसार में निन्दा हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

(42) तीर्थंकरत्व–अरहन्तपद के कारणभूत कर्म को तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं।

उत्तर भेदरूप 93 प्रकृतियाँ——42 + 65 – 14 = 93 (14 प्रकृतियों के उत्तरभेद 65 हैं) मूल 14 की बजाय उनके 65

उत्तर भेद गिनने पर नामकर्म की कुल प्रकृतियाँ उपरोक्त प्रकार से 93 होती हैं। नामकर्म की असंख्यात प्रकृतियाँ विस्तार से हैं।

नरकगत्यानुपूर्वी——नामकर्म की प्रकृतियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र तिर्यक् प्रतररूप बाहल्य को श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी–नामकर्म की प्रकृतियाँ लोक को जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी होती हैं।

मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी–नाम कर्म की प्रकृतियाँ ऊर्ध्व कपाट छेदन से निष्पन्न पैंतालीस लाख योजन बाहल्य वाले तिर्यक् प्रतरों के जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग मात्र अवगाहन विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे उतनी हैं।

देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी–नामकर्म की प्रकृतियाँ नौ सौ योजन का बाहल्यरूप तिर्यक् प्रतरों को जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र अवगाहना विकल्पों से गुणित करने पर जो लब्ध आवे, उसकी उतनी मात्र प्रकृतियाँ हैं।

प्रश्न–पृथ्वीकाय नामकर्म कहीं भी (कर्म के भेदों में) नहीं कहा गया है ?

उत्तर–नहीं, क्योंकि पृथ्वीकायनामकर्म का कर्म एकेन्द्रिय नामक नामकर्म के भीतर अन्तर्भूत है।

प्रश्न–यदि ऐसा है तो सूत्र प्रसिद्ध कर्मों की संख्या का नियम नहीं रह सकता है ?

उत्तर–सूत्र में कर्म आठ ही अथवा 148 ही नहीं कहे गये हैं क्योंकि आठ या 148 संख्या को छोड़कर दूसरी संख्याओं का प्रतिषेध करने वाला एवकार पद सूत्र में नहीं पाया जाता है।

प्रश्न–तो फिर कर्म कितने हैं ?

उत्तर–लोक में हाथी, घोड़ा, वृक (भेड़िया) भ्रमर, मत्कुण, उद्देहिका (दीपक), गोभी और इन्द्र आदि रूप में जितने कर्मों के फल पाये जाते हैं, कर्म भी उतने ही हैं।

इसी प्रकार शेष कायिक जीवों के विषय में भी कथन करना चाहिए।

सूक्ष्म नामकर्म के उदय से जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादि जीवों के सूक्ष्मपना होता है उसी प्रकार निगोद नामकर्म के उदय से निगोदत्व होता है।

प्रश्न–पिंड (प्रकृति) का अर्थ क्या है ?

उत्तर–बहुत प्रकृतियों के समुदाय को पिंड कहा जाता है।

प्रश्न–त्रस आदि प्रकृतियों तो बहुत नहीं हैं इसलिए क्या वे अपिण्ड प्रकृतियाँ हैं ?

उत्तर–ऐसा ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि वहाँ भी युक्ति से बहुत प्रकृतियाँ उपलब्ध होती हैं और वह युक्ति यह है कि कारण के बहुत हुए बिना भ्रमर, पतंग, हाथी और घोड़ा आदि नाना भेद नहीं बन सकते हैं इसलिए जाना जाता है कि त्रस आदि पर्यायें बहुत हैं।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अगुरुलघु नामकर्म आदि की उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ नहीं हैं क्योंकि धव और धम्ममन आदि प्रत्येक शरीर, मूली और थूहर आदि साधारण शरीर तथा नाना प्रकार के स्वर और नाना प्रकार के गमन आदि उपलब्ध होते हैं। भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म कृत हैं।

प्रश्न–जिस प्रकार तीर्थंकरत्व नामकर्म कहते हैं उसी प्रकार गणधरत्व आदि नामकर्म का उल्लेख करना चाहिए था क्योंकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव और बलदेव भी विशिष्ट ऋद्धि से युक्त होते हैं ?

उत्तर–नहीं, क्योंकि वे दूसरे निमित्तों से उत्पन्न होते हैं। गणधरत्व में तो श्रुतज्ञानावरण का प्रकर्ष क्षयोपशम निमित्त है और चक्रधरत्व आदि में उच्चगोत्र विशेष हेतु हैं।

देवगति में भवनवासी आदि सर्व भेद नामकर्म कृत हैं। वे सब (असुरनाग आदि भवनवासी देवों के भेद) नामकर्म

के उदय से उत्पन्न हुए भेद जानने चाहिए। नामकर्मोदय की विशेषता से ही वे (व्यन्तर देवों के किन्नर आदि) नाम होते हैं। जैसे—किन्नर नामकर्म के उदय से किन्नर और किंपुरुष इत्यादि। उन ज्योतिषी देवों की भी पूर्ववत् ही निवृत्ति जाननी चाहिए अर्थात् (सूर्य, चन्द्र आदि भी) देवगति नामकर्म विशेष के उदय से होते हैं।

प्रश्न–उस नामकर्म का अस्तित्व कैसे जाना जाता है ?

उत्तर–शरीर, संस्थान, वर्ण आदि कार्यों के भेद अन्यथा हो नहीं सकते हैं।

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती नहीं है और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसकायिक आदि जीवों में उनकी उक्त पर्यायों रूप अनेक कार्य देखे जाते हैं इसलिए जितने कार्य हैं उतने अनेक कारण रूप कर्म भी हैं ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए। जन्म का कारण गति नामकर्म नहीं, आयु कर्म है।

प्रश्न–ये स्त्री वेदादि चारों कर्म उत्कृष्ट संक्लेश से क्यों नहीं बँधते हैं ?

उत्तर–उत्कृष्ट संक्लेश से नहीं बँधने में कारण इनका स्वभाव है।

प्रश्न–उत्कृष्ट स्थिति के बंधकाल में ये चारों (स्त्रीवेद, पुंवेद, हास्य और रति) प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधती हैं ?

उत्तर–क्योंकि वह प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ नहीं हैं इसलिए उस काल में इनका बन्ध नहीं होता अथवा उस समय न बँधने का इनका स्वभाव है।

3.7 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–राजा श्रेणिक ने किन मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाला था ?

(क) यशोभद्र ☐ (ख) यशोधर ☐ (ग) यशोबाहु ☐

प्रश्न 2–आयु कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 3–नरकायु का नोकर्म.....है।

(क) अन्न–पानादि ☐ (ख) अनिष्ट आहार ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–देवायु बंध के क्या कारण हैं तथा नरकायु बंध के क्या कारण हैं, अन्तर स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 2–अपकर्षकाल में आयु बंध किस प्रकार होता है ?

प्रश्न 3–नामकर्म किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4–जैनदर्शन में आठ कर्मों में कितने कर्म घातिया हैं और कितने अघातिया ? घातिया–अघातिया कर्मों के अलग–अलग नाम बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–नामकर्म की 42 प्रकृतियों के नाम बताते हुए किन्हीं 10 प्रकृतियों की परिभाषा बताइए ?

पाठ 4—गोत्र एवं अन्तराय कर्म की फलःस्थिति

4.1 गोत्रकर्म : जीव के आचरण का परिणाम—

जीव का विभावरूप स्वभाव रागादि रूप परिणमने का और कर्म का स्वभाव तद्रूप परिणमाने का है। इसमें जीव का अस्तित्व अहँ प्रत्यय से होता है तथा कर्म का अस्तित्व जीव में ज्ञान की वृद्धि और हानि से सिद्ध होता है क्योंकि आवरण कर्म के बिना तरतमता नहीं हो सकती।

सामान्य से कर्म एक प्रकार का है, द्रव्य भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। पुद्गलपिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं तथा उसमें जो फल देने की शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं।

सामान्य से कर्म आठ प्रकार का भी है अथवा एक सौ अड़तालीस या असंख्यात लोक प्रमाण भी उसके भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म के मूल भेद हैं। इनमें चार घातिया तथा चार अघातिया कर्म हैं। गोत्रकर्म अघातिया कर्म है।

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।।

संतान क्रम से चले आये जीव के आचरण को गोत्र कहते हैं। उच्च व नीच आचरण से उच्च व नीच गोत्र होता है। धवला की टीका के अनुसार–"**उच्चं-नीचं गमयतीति गोत्रम्**" अर्थात् जो उच्च और नीच गोत्र का आचरण कराता है अथवा उच्च या नीच कुल को प्राप्त कराता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं।

धवला टीका के अनुसार–"**न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबंधानां आर्यप्रत्ययाभिधान–व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तानः उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्तिकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। .... तद्विपरीतम् नीचैर्गोत्रम्**"। अर्थात् गोत्र कर्म निष्फल है, यह बात नहीं है क्योंकि जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो "आर्य" इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं उन पुरुषों की परम्परा को उच्चगोत्र कहा जाता है तथा उनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। उससे विपरीत कर्म नीच गोत्र है।

उमास्वामी आचार्य तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में लिखते हैं—"**उच्चैर्नीचैश्च**" अर्थात् उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्र कर्म के हैं।

उच्चगोत्र—जिसके उदय से लोकमान्य कुल में जन्म हो उसे उच्चगोत्रकर्म कहते हैं।

नीचगोत्र—जिस कर्म के उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं।

आठ कर्मों के क्रम में पूज्यता की अपेक्षा ज्ञानगुण पूज्य होने से उसे सबसे पहले रखा, पश्चात् सम्यक्त्व। वीर्य शक्ति रूप है, वह जीव—अजीव दोनों में पाया जाता है अतः उसे सबसे अन्त में कहा है। आयु कर्म के निमित्त से भव में स्थिति होती है इसलिए नामकर्म से पूर्व आयुकर्म को कहा है और भव के आश्रय से ही नीचपना अथवा उच्चपना होता है इसलिए नामकर्म को गोत्रकर्म के पहले कहा है।

इस गोत्र कर्म का उदाहरण देते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो "गमयति" अर्थात् जीव के उच्च–नीचपने का ज्ञान करावे अथवा प्राप्त करावे वह गोत्रकर्म है। जैसे–कुम्भकार मिट्टी के छोटे–बड़े बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म भी जीव की उच्च–नीच अवस्था की प्राप्ति कराता है।

4.2 नीच गोत्र कर्म का आस्रव—

"परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।।"

(1) दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना।

(2) दूसरे के मौजूद गुणों को ढंकना।

(3) अपने झूठे गुणों को प्रकट करना।

इन खोटी क्रियाओं से जीव को नीच गोत्र कर्म का आस्रव होता है।

4.3 उच्च गोत्र कर्म का आस्रव—

''तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेको चोत्तरस्य।।''

(1) परप्रशंसा तथा आत्मनिन्दा करना।

(2) नम्रवृत्ति रखना।

(3) मद का अभाव।

इन क्रियाओं से जीव को उच्चगोत्र कर्म का आस्रव होता है।

गोत्र कर्म की स्थिति—

''विंशतिर्नामगोत्रयोः''–गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। **''नामगोत्रयोरष्टौ''** जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

यह आगम सम्मत तथ्य है कि रजोवीर्य का संस्कार अवश्य आ जाता है, चाहे वह कैसे भी विद्यादि गुणों से सहित क्यों न हो, उस पर्याय में संस्कार नहीं मिटता क्योंकि जैसे रज वीर्य से शरीर, मस्तिष्क व मन का निर्माण होता है वैसे ही जीव के विचार होते हैं। खानपान व बाह्य वातावरण का भी प्रभाव विचारों पर पड़ता है।

अमृतचन्द्राचार्य लिखते हैं–

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना–
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादथ च चरतो जातिभेदभ्रमेण।।

किसी शूद्री स्त्री के उदर से एक ही समय दो पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक तो ब्राह्मण के घर पला, उसको बाह्मणत्व का अभिमान हुआ कि ''मैं ब्राह्मण हूँ'' उस अभिमान से मद्य को दूर से ही त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता तथा दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है, उसे पवित्र मानता है। यदि इसका परमार्थ विचारा जाय तब दोनों ही शूद्री के पुत्र हैं क्योंकि दोनों ही शूद्री के उदर से जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् शूद्र हैं। वे जातिभेद के भ्रम से आचरण करते हैं।

विचारणीय तथ्य यह है कि जब भ्रमवशात् भी जीवों के आचरण में स्वाभाविक अन्तर पाया जाता है तब साक्षात् नीच–उच्च गोत्र में उत्पन्न हुए जीवों के आचरण में अन्तर होगा ही।

अतः अपने कुल व वंश की मर्यादाओं की रक्षा करना मानव मात्र का कर्तव्य है।

4.4 अंतराय कर्म—

जगत् के जीवों की जीवन चर्या, रहन–सहन आदि का अवलोकन करें तो हमें विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। कोई धनाढ्य है, कोई सर्वरूप से सम्पन्न है, कोई सुन्दर रूपवान है और कोई कुरूप, कोई आराम से बैठकर खाता है तो कोई परिश्रम करके भी दो जून (समय) की रोटी पेट भर भी नहीं खा पाता, कोई सड़क पर सोता है तो कोई महलों में। एक कवि ने कहा भी है—

एक महल में सुख से खेले, एक सड़क पर सोता है।
जीवन चलता साथ किसी के, कोई जीवन ढोता है।।

कुछ व्यक्ति जन्मत: दारिद्रय की मूर्ति होते हैं, कुछ धनाढ्य होने पर भी बाद में दरिद्र हो जाते हैं। इस प्रकार पाँच बातों से विषमता आती है। आचार्य श्री उमास्वामी 'मोक्षशास्त्र' में उन पाँच बातों का उल्लेख करते हैं—

"**विघ्नकरणमन्तरायस्य।**" (त. सू. अ. 6 सू. 27) "**दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्तद्व्यपदेश:।**"

अर्थात् दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से यह अर्थात् अन्तराय संज्ञा प्राप्त होती है।

"अन्तरमेति गच्छेतीत्यन्तराय:।" जो अन्तर अर्थात् मध्य में आता है वह अन्तराय कर्म है।

4.5 अन्तराय कर्म के भेद—

"**दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।**" अर्थात् वह अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग आदिकों में विघ्न करने में समर्थ है।

दानादि अन्तराय कर्मों के लक्षण—

"**यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितु-कामोऽपि नोत्सहते त एते पञ्चान्तरायस्य भेदा:।**"

जिनके उदय से देने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ भी नहीं प्राप्त करता है, भोगने की इच्छा करता हुआ भी भोग नहीं सकता है, उपभोग करने की इच्छा करता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है इस प्रकार ये पाँच अन्तराय के भेद हैं।

1. दानान्तराय–इस कर्म के उदय से मनुष्य के आहार, औषध, शास्त्र व अभयदान देने के भाव ही नहीं होते हैं अर्थात् त्याग के भाव जागृत नहीं हो पाते हैं यद्यपि वह जानता है कि सम्पत्ति की तीन दशा होती हैं—भोग, दान एवं नाश। कार्नगी नामक एक अमेरिकन विद्वान् लिखते हैं– "A Man who dies rich dies in disgrace." जो व्यक्ति धनवान् होकर मरता है वह अभिशाप में मरता है अर्थात् परिग्रह का संचय करना, उसका व्यय नहीं करना। यदि कोई दान आदि की प्रेरणा देता है तो वह उसे शत्रुवत् देखता है। वह यह भूल जाता है कि लक्ष्मी पुण्यानुसारिणी होती है। जब लक्ष्मी नष्ट होने को होगी तो संचित करते हुए भी नष्ट हो जाती है।

2. लाभान्तराय–इस कर्म का उदय होने पर मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे उसे लाभ तो होता ही नहीं वरन् हानि ही होती है। जब लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तब आसपास ही सुख सामग्री प्राप्त हो जाती है। इस कर्म का उदय एवं क्षयोपशम समझने के लिए धन्यकुमार का जीवन चरित दिशा प्रदान करता है। जब वह अकृतपुण्य के रूप में था तब दिये गये मोती के दाने अंगार रूप परिणत होते थे, जब वह धन्यकुमार के रूप में था तब पग–पग पर धन–सम्पत्ति, ऋद्धि–सिद्धि प्राप्त होती थी। आज भी हम देखते हैं जिनको लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है उसे लॉटरी के माध्यम से धन प्राप्त हो जाता है, भूगर्भ आदि से भी मिल जाता है। जिनके पाप कर्म का उदय होता है उसका धन भी मिट्टी रूप में परिणत हो जाता है।

3. भोगान्तराय–भोग के अन्तर्गत वे सामग्रियाँ आती हैं जो एक बार भोगी जाती हैं।

4. उपभोगान्तराय-वे सामग्रियाँ जो बार–बार भोगी जाती हैं, उपभोग कहलाती हैं। चक्रवर्ती के 14 रत्न, 9 निधि, 96 हजार रानियाँ, 18 करोड़ घोड़े, 84 लाख हाथी आदि सम्पत्ति अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही मिलते हैं।

5. वीर्यान्तराय–इस कर्मोदय के कारण शरीर इतना बलहीन होता है कि वे भोगों को भोग नहीं सकते। जैसे एक महाशय के यहाँ उत्तमोत्तम भोज्य सामग्री तैयार रखी है, घर के सभी सदस्य खा रहे हैं किन्तु वह महाशय पेट की बीमारी

के कारण मूँग की दाल व रोटी ही खाते हैं। वीर्यान्तराय कर्म से ग्रसित व्यक्ति श्रावक या मुनि के व्रतों को ग्रहण नहीं कर पाता। सम्यग्दृष्टि होने पर भी क्षुधा, तृषा, शीतादि की वेदना को सहन नहीं कर पाता।

अन्तराय कर्म का कार्य–"अन्तराय कर्म के उदय से जीव चाहे सो नहीं होय है। बहुरि तिसही का क्षयोपशमते किंचित् मात्र चाहा भी होय।"

4.6 अन्तराय कर्म के बन्धयोग्य परिणाम–

''तद्विस्तरस्तु विव्रियते–ज्ञानप्रतिषेधसत्कारोपघात–दानलाभभोगोपभोग–वीर्यस्नानानुलेपनगन्ध–माल्याच्छादन–विभूषणशयनासन–भक्ष्य–भोज्यपेयलेह्यपरिभोग–विघ्नकरण–विभवसमृद्धि–विस्मय–द्रव्यापरित्याग–द्रव्यासप्रयोग–समर्थना–प्रमादावर्णवाद–देवता–निवेद्यानिवेद्यग्रहण–निरवद्योपकरणपरित्याग–परवीर्यापहरण–धर्मव्यवच्छेदनकरण–कुशलाचरणतपस्वि–गुरुचैत्यपूजाव्याघात–प्रव्रजित कृपण दीनानाथवस्त्रपात्रप्रतिश्रयप्रतिषेधक्रिया–परनिरोधबन्धनगुह्याङ्–छेदन–कर्ण–नासिकोष्ठकर्तन–प्राणिवधादिः। (रा. वा. 6/27)

ज्ञान प्रतिषेध, सत्कारोपघात, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, भूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना; विभवसमृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग न करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, अवर्णवाद करना, देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरे की शक्ति का अपहरण, धर्म व्यवच्छेद करना, कुशल चरित्र वाले तपस्वी गुरू तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आश्रय आदि में विघ्न करना, परनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेद, कान, नाक, ओठ आदि का काट देना, प्राणिबध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न–अन्तराय कर्म घातिया है तथापि उसे अघातिया के अन्त में क्यों रखा ? इसका उत्तर है—

घादीदि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पडिदं अघादिचरिमह्मि।।

अन्तराय कर्म यद्यपि घातिया है तथापि अघातिया कर्मों के समान जीव के गुणों को पूर्ण रूप से घातने में समर्थ नहीं है। नाम, गोत्र और वेदनीय के निमित्त से ही अन्तराय कर्म अपना कार्य करता है इसी कारण उसे अघातिया कर्मों के अन्त में कहा है।

अन्तराय कर्म का स्वभाव "भंडारी" के समान है। जैसे—दान देने के लिए तत्पर सेठजी को मुनीम के द्वारा रोक देना। कहा भी है—"दाता दान दे भंडारी का पेट फूटे"।

4.7 अन्तराय कर्म की स्थिति—

''आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः।।14।।'' आदि के तीन कर्म व अन्तराय कर्म की स्थिति उत्कृष्ट से तीस कोटाकोटि सागरोपम है। अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार अन्तराय कर्म के कार्य को देखकर मनुष्य जीवन में कदम–कदम पर विचार करके कार्य करना चाहिए।

4.8 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-द्रव्यकर्म किसे कहते हैं ?

(क) पुद्गल पिंड को ☐
(ख) फल देने की शक्ति को ☐
(ग) कर्म के तद्रूप परिणमन को ☐

प्रश्न 2-गोत्र कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) 3 ☐
(ख) 5 ☐
(ग) 2 ☐

प्रश्न 3-गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

(क) असंख्यात वर्ष ☐
(ख) बीस कोड़ाकोड़ीसागर ☐
(ग) एक पल्य ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-गोत्र कर्म की परिभाषा बताते हुए उनके भेदों को बताइए ?

प्रश्न 2-नीच और उच्च गोत्र का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?

प्रश्न 3-अन्तराय कर्म के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 4-अन्तराय कर्म के आस्रव के क्या कारण हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अन्तराय कर्म की परिभाषा बताते हुए उनके भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ?

इकाई–3 कर्मों का बंध-उदय एवं सत्त्व आदि

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) बोए पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय

(2) कर्मों की विविध अवस्थाएँ

(3) कर्म प्रकृतियों में चार निक्षेप

(4) कर्मसिद्धान्त और सम्यग्दर्शन

पाठ 1–बोए पेड़ बबूल का, आम कहाँ से होय

1.1 कर्म करणीय कैसे ?...

हम सभी अपने मौजूदा जीवन को किस तरह जी रहे हैं और ये जो संसार में विविधताएँ दिखाई पड़ रही हैं इन सब की जिम्मेदारी किसकी है, इस बात पर खूब विचार हुआ है और अन्ततः हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जो जिस तरह जी रहा है, उसकी जिम्मेदारी उसकी खुद की है, किसी और की जिम्मेदारी इसमें नहीं है—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा।"

ये सारा संसार कर्मप्रधान है, जो यहाँ जैसा कर्म करता है, वो वैसा फल पाता है या वैसा फल उसे चखना पड़ता है। जो हम विचार करते हैं, सो वो हमारे मन का कर्म है। जो हम बोलते हैं, वो हमारी वाणी का कर्म है। जो हम क्रिया करते हैं या चेष्टा करते हैं, वो हमारे शरीर का कर्म है और इतना ही नहीं, जो हम करते हैं वह तो कर्म है ही। जो हम भोगते हैं, वह भी कर्म है और जो हमारे साथ जुड़ जाता है, संचित हो जाता है वह भी कर्म है। इस तरह यह सारा संसार हमारे अपने किये हुए कर्मों से हम स्वयं निर्मित करते हैं और यदि हम अपने इस संसार को बढ़ाना चाहें, तो इन दोनों की जिम्मेदारी हमारी अपनी है और यह जिम्मेदारी हर जीव की अपनी व्यक्तिगत है। हर जीव की अपनी स्वतंत्र सत्ता है एक-दूसरे से हम प्रभावित होकर मन से विचार करते हैं, वाणी से अपने विचारों को व्यक्त करते हैं, शरीर से चेष्टा या क्रिया करते हैं, इस विचार या कही गई बात को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह हमारा संसार किन्हीं क्षणों में बढ़ता भी है और किन्हीं क्षणों में हमारा संसार घट भी जाता है तो इसीलिए जो संसार की विविधता है वो हमारी अपनी वाणी, हमारे अपने मन और हमारे अपने शरीर से होने वाली क्रियाओं पर निर्धारित है बहुत हद तक।

1.2 जैनदर्शन में कर्म के तीन भेद कहे हैं, गीता में भी कर्म के तीन भेद कहे हैं—

हम दोनों को समझें, कुछ **क्रियावान् कर्म** होते हैं जो हम करते हैं और उनका फल हमें तुरन्त देखने में आता है। हम सुबह से शाम तक जो भी कर्म करते हैं, उन कर्मों का फल भी हमें हमारे सामने ही देखने को मिल जाता है। कोई सुबह से नौकरी पर जाता है और एक दिन में जितना काम करता है, शाम को उतने पैसे, उतनी तनख्वाह लेकर लौटता है। हम यहाँ पर किसी को गाली देते हैं वह हमें तमाचा मार देता है। हमारा गाली देने का कर्म हमें किसी न किसी रूप में फल देकर के चला जाता है, यह क्रियावान् कर्म है। ये हम रोज कर रहे हैं और इसका फल भी लगे हाथ चखने में आ जाता है। चाहे वह शुभ हो या कि अशुभ हो। लेकिन इतना ही नहीं है अपितु इससे भी कुछ अधिक है, कुछ ऐसे क्रियावान् कर्म हैं जिनका फल हमें तुरन्त नहीं मिलता है, देर-सबेर मिलता है। वे सब कर्म **संचित** कहलाते हैं। कुछ कर्मों का फल हमें रोज मिलता है, कुछ का फल तो हमें बाद में मिलता है। कर्म हमारे वर्तमान के भी हैं, कर्म हमारे साथ अतीत के भी हैं। कर्म हमारे साथ भविष्य में क्या व्यवहार करेंगे-यह भी वर्तमान में ही हम निर्धारित कर लेते हैं।..... .तो वो जो संचित कर्म हैं, वो क्या चीज हैं, वो जो हमें बाद में फल देते हैं... वो सब संचित कहलाते हैं; जैसे कि गेहूँ बोयें,

एक सौ बीस दिन के बाद फसल आएगी। बाजरा बोएँगे, 90 दिन के बाद फसल आएगी और अगर आम बोया है, तो 5 वर्ष के बाद फल लगेंगे। हमने अपने माता-पिता के साथ खोटा व्यवहार किया है और सम्भव है कि उसी जीवन में हमारे बच्चे हमारे साथ वही व्यवहार करें, जैसा हमने अपने माता-पिता के साथ किया। तुरन्त देखने में नहीं आता, पर उसके ऑफ्टर इफेक्ट्स हमारे सामने देखने में आते हैं, बीज आज बोते हैं, फल बहुत देर के बाद देखने में आता है। एक बेटा बहुत छोटा सा है और वह अपने इकट्ठे किये हुए सामान में चाय के कुल्हड़, मिट्टी के और भी बर्तन आदि सब इकट्ठे करता है। पिता एक दिन उससे पूछते हैं कि तुम यह किसलिए इकट्ठे कर रहे हो ?.... .वह कहता है कि जैसे तुम दादा-दादी को इन मिट्टी के बर्तनों में खिलाते हो वैसे ही जब आप बूढ़े हो जाओगे तब मैं आपको खिलाऊँगा, इसीलिए मैं जोड़कर रख रहा हूँ और होता यह ही है, हम आज जो करते हैं, उसका तुरन्त फल मिलता-दिखता है, लेकिन उतना ही पूरा नहीं है। क्रियावान् के साथ-साथ कुछ और है जो कि संचित होता जाता है, जिसका फल हमें बाद में भोगना पड़ता है। इन तीन स्टेजों में कर्म की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह भी साथ में है कि यहाँ वर्तमान में जो संचित हमने किया है, उसमें से कितना भोगना है ?..... हमारे पास पहले से जो संचित है, उसमें से कितना भोगना है ?.... यह कहलाता है **प्रारब्ध**। हमारे अपने संचित किये हुए कर्मों में से कितने पककर के अपना फल देंगे और जिनका फल हमें भोगना पड़ेगा। वो ठीक ऐसा ही है कि हमने आम का पेड़ भी लगाया है और उधर बाजरा भी बोया है, गेहूँ भी बोया है, लेकिन सब अपने-अपने टाइम से आएँगे। मेरे पास कितना समय है-मेरी अपनी लाइफ कितनी है ? उस लाइफ में जो-जो आते चले जाऐंगे, वो अपना फल देंगे; कुछ शेष रह जायेंगे, जो आगे मेरे साथ ट्रैप होकर के जाएँगे और मुझे आगे भी अपना फल देंगे। फल दिये बिना कर्म जाता नहीं है, किसी न किसी रूप में देगा, पर अपना फल देगा। ये हमारा पुरुषार्थ है, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे कि हमें उस कर्म के फल के साथ कैसा बिहेवियर (बर्ताव) करना है।.... .अभी सिर्फ हम यह समझें कि कर्म हमारे साथ बँधते कैसे हैं ?.... .ये आते कहाँ से हैं और इनको बुलाता कौन है और ये हमें फल चखाने की सामर्थ्य कहाँ से पाते हैं ?..... कौन इनमें हमें फल चखने की सामर्थ्य डालता है और ये कितनी देर तक हमारे साथ रहते हैं ?....यह कौन निर्धारित करता है ?.....ये प्रक्रिया हमें थोड़ी सी विचार करने की है। होता इतना ऑटोमेटिकली (अपने आप) है कि हम अपनी थोड़ी सी बुद्धि से इन सबके बारे में सोच नहीं सकते, पर एक-एक प्रक्रिया अगर हमारे सामने रहे कि हाँ, इस तरह से होता है, बुलाता कौन है इन कर्मों को, ये आते कहाँ से हैं, ये कहीं और से नहीं आते, हमारे कर्मों से हम इन्हें बुलाते हैं। हम जो कुछ भी सुबह से शाम तक मन, वाणी और शरीर के द्वारा करते हैं वह एक तरह का बुलावा है इन कार्यों के लिए और निरन्तर मन, वाणी और शरीर से होने वाले कर्म हमारे साथ संस्कार की तरह से जुड़ते चले जाते हैं.....फिर उसके बाद हम मजबूर हो जाते हैं, अगर किसी व्यक्ति को गाली देकर के बात करने की आदत बन जाये, तो फिर वह प्यार से बात नहीं कर पाएगा। वो जब भी बात करेगा, एक-आधी उसके मुँह से गाली निकल ही जाएगी। क्योंकि उसके भीतर वैसा संस्कार बन गया है। तो इन कर्मों को कोई बुलाता नहीं है, इन कर्मों का संस्कार हमने बहुत-बहुत पुराना अपने ऊपर डाल रखा है। कहीं पानी बह जाए और फिर सूख जाये और अगली बार पानी गिरे तो वो जो एक लाइन बनी रहती है, वहीं से बहता है। ठीक ऐसा ही हमारे साथ है। हम निरन्तर अपने मन, वाणी और शरीर से कर्मों के संस्कारों को आमत्रंण देते हैं और फिर इतना ही नहीं हमारे भीतर उठने वाले काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि ये जितने भी भाव हैं, चाहे वे शुभ हों या अशुभ हों, चाहे वे तीव्र-मंद हों, चाहे वे जान-बूझकर किये गये हों या अज्ञानता से हो गये हों, किसी भी तरह के भाव हों, किसी माध्यम से हुए हों लेकिन हमारे भीतर उठने वाले भाव "कैसा ये कर्म अपना फल चखाएगा" इस बात को निर्धारित करते हैं। एक पण्डितजी गाँव में गये वचनिका के लिए। कोई नहीं था मंदिर में, जब वे पहुँचे। माली से कहा कि भई! जाओ, दो-चार लोगों को बुला लाओ; कहना कि भई! पण्डितजी आ गये। अब माली क्या समझे!... माली गया और 4-5 लोगों को बुलाकर ले आया, वो 4-5 लोग

जैसे ही आये तो पहले वाले से पूछा पण्डित जी ने—आप कैसे आए ?..... तो उसने कहा कि ये माली हमको बुला लाया, हम तो रिक्शा चलाते हैं।

अरे! नहीं, आपको नहीं बुलाया, आप तो जाइये। दूसरे वाले व्यक्ति को देखा, वह जरा युवा था। पण्डितजी को ध्यान आ गया कि भई! शाम को जाना है गाड़ी से तो रिजर्वेशन करवा लें, यह युवा ठीक है, उसने कहा कि सुनो, मेरी टिकट बनवा दो, ऐसा कहकर उसको पैसे दिये। पहले वाले को यह कहकर कि तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुरन्त वापस लौटा दिया, बुला तो लिया था 5-7 लोगों को।....लेकिन उसमें से किसको कितनी देर रखना है, ये कौन निर्धारित करता है ?..... हमारे अपने परिणाम, उससे मेरा कोई ज्यादा सरोकार नहीं है, जैसे रिक्शे वाले से नहीं था तो कहा कि जाओ भैया; जिनसे थोड़ा सरोकार है, उनको टिकट लेने भेज दिया। बाकी जो तीन-चार बचे, उनसे कहा कि सुनो। चलो, थोड़ी देर अपन बैठकर धर्म चर्चा कर लेते हैं, अब आये हैं तो घण्टे-भर उनसे धर्म-चर्चा करी, उतनी देर उन 4-5 को रोका और उसमें से जब विदा लेने लगे, तो एक ने कहा कि पण्डित जी! आपकी आवाज से तो लग रहा है कि आप अमुक जगह से आये हैं। हाँ भैया!.... तो हमारी भी उधर रिश्तेदारी है, अरे! तो बहुत अच्छा है। बैठो-आओ, अपन बात करें। अब जो वचनिका सुनने वाले थे वो वचनिका सुनकर चले गये, उसमें से एक परिचित निकल आये तो उनके साथ और घण्टे भर हो गया और फिर बाद में परिचय इतना गहरा निकला कि पण्डितजी! अब आपको शाम के भोजन के बिना नहीं जाने देंगे। हमारे यहाँ चलो आप, वो उनको अपने घर ले गये। बताइयेगा, किसने निर्धारित किया यह कि कौन कितनी देर साथ रहेगा और कौन-कौन आएगा। हमने ही बुलाया है और हम ही जितनी देर रखना चाहें रख सकते हैं, ये हमारे ऊपर निर्भर है। कर्म भी ऐसे ही हैं, हमारे मन, वाणी और शरीर से इनको हम आमंत्रण देते हैं कि आओ, और फिर हमारे अपने परिणाम जैसे होते हैं, उसके अनुसार ये हमें फल चखाते हैं, हमारा जिसके साथ जैसा व्यवहार होता है उससे हमें वैसा ही तो मिलता है। वैसा ही फल हमें चखने में आता है। इस तरह यह कर्म की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है क्योंकि सोते-जागते, खाते-पीते, उठते-बैठते, आते-जाते हर स्थिति में, प्राणी मन, वचन और कर्म की कोई ना कोई क्रिया करता ही रहता है। सोते समय उसके मन और शरीर की सक्रियता बनी रहती है और इसलिए निरन्तर उसके साथ ये कर्म चलते ही रहते हैं। एक क्षण के लिए भी, कोई भी जीव कर्म से मुक्त नहीं हो पाता, चाहे वो करने वाले कर्म हों, चाहे वो भोगने वाले कर्म हों, चाहे वो संचित होने वाले कर्म हों, एक क्षण के लिए भी यह प्रक्रिया रुकती नहीं है। जैसे कि किसी की दुकान बहुत अच्छी चलती हो और घर आकर माँ के पूछने पर कहे कि आज तो दुकान बहुत चली, ग्राहकों में ही उलझे रहे, तब माँ कहती है कि क्या एक ही ग्राहक में उलझे रहे ?....कहता है कि नहीं-नहीं, ग्राहकों का ताँता लगा रहा। एक ही कर्म का फल भोगते रहते हैं हम, ऐसा नहीं है; एक ही कर्म करते रहते हैं, ऐसा नहीं है, वरन् उसका ताँता लगा रहता है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, कहने में तो यही आता है कि हम कर्म करते रहें, चाहे वो भले हों चाहे वो बुरे हों, चाहे वो अच्छे भावों से किये हों, चाहे वो तीव्रता से किये हों, चाहे मन्दता से किये हों, चाहे जान-बूझकर किये हों, अज्ञानतावश किये हों, निरन्तर किसी न किसी प्रकार से कर्मों का ताँता लगा ही रहता है। निरन्तरता बनी ही रहती है और ऐसा नहीं है कि आज ही हमने शुरू किया है। हमें याद भी नहीं है कि जब से हमारा जीवन है तब से यह मन, वाणी और शरीर तीनों की सक्रियता बनी हुई है। जब तक ये मन, वाणी और शरीर की सक्रियता है तब तक मेरे कर्म आते रहेंगे और जब तक मैं कोई ना कोई शुभ-अशुभ भाव करता रहूँगा, काम, क्रोध, मान, माया और लोभ के जो विकारी परिणाम मेरे भीतर उठते हैं, वे जब तक चलते रहेंगे तब तक ये कर्म की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी। कर्म की प्रक्रिया इस तरह की है।

इस कर्म की प्रक्रिया में भागीदारी किसकी है, अब इस पर जरा सा विचार करें, तो शायद बात और स्पष्ट हो। ताकि हम जिनकी साझेदारी है वो खत्म कर देवें, तब सम्भव है कि इस कर्म बंध की प्रक्रिया से हम मुक्ति पा जावें क्योंकि ये प्रक्रिया निरन्तर चलने वाली है, क्योंकि कोई भी क्षण ऐसा नहीं है जिसमें हम कर्म से मुक्त हों। यह सब चीजें हम बाद

में विचार करेंगे कि भवितव्य क्या है और हमारा वर्तमान का पुरुषार्थ क्या है ? ..... कुछ प्रश्न थे पहले कि भाग्य कितना और पुरुषार्थ कितना..... और भी कुछ प्रश्न थे, इन पर भी विचार करना है। परन्तु सर्वप्रथम हमें कर्म की साझेदारी में कौन-कौन हमारे साथ है, इस पर थोड़ा-सा विचार करना है और इस कर्मबंध की प्रक्रिया को समझना है। उसकी साझेदारी को समझने के बाद अपने आप हमें यह बात समझ में आ जाएगी कि कितना भाग्य से और कितना पुरुषार्थ से तथा भाग्य को और पुरुषार्थ को कौन निर्धारित करता है ?..... तो क्यों ना हम ऐसा करें कि मेरा जो वर्तमान का जीवन है, मुझे उसे ही बहुत अच्छे ढंग से जीना है। अगर इतना भी कर लें कि बाकी जो बहुत-बहुत कठिन विचार हैं कि ईश्वर क्या है ? ईश्वर कहाँ रहता है और ईश्वर को बनाया किसने है ?... या क्या ईश्वर ने इस सृष्टि को बनाया है ? इन सारी बातों को यदि हम सिर्फ विचार तक ही रखें और अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर अपने वर्तमान को अगर सुधारें, तो क्या यह एक सुविचार नहीं हो सकता। यह भी एक विचार है और हम इतने दिनों से वही करते आ रहे हैं। हम बाकी सब भूल कर सारे प्रपंच को भुला कर सिर्फ एक ही बात तय कर लें कि कल मैंने जैसा जीवन जिया था, कल मैंने जैसी वाणी बोली थी, कल मैंने जैसे विचार किये थे, कल मैंने शरीर से जैसी चेष्टा की थी, जिनसे कि मैं निरन्तर मेरे कर्मों का संसार बढ़ाता हूँ, मैं उसको और बेहतर ढंग से करूँ। कर्मों को बेहतर ढंग से करने का मतलब है—कर्मों से मुक्त होना और यह कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। हम जितने बेहतर ढंग से कर्म करेंगे, उतना ही कर्म से छूट जाएँगे क्योंकि जो व्यक्ति यह ढंग सीख लेता है, वह व्यक्ति कर्मों से पार हो जाता है। अब हमें यह देखना है इसमें भागीदारी किस-किसकी है। मेरे मन, वाणी, शरीर और मेरे अपने भाव जो उनको रोकने में, उनको सामर्थ्य देने में सहभागी है। मेरे साथ कर्म जो बँध जाते हैं, जो बाद में फल देते हैं, उनको सामर्थ्य भी मैं ही देता हूँ। मेरे अपने परिणाम उनको सामर्थ्य देते हैं। तब देखें कि कौन-सी चीजें हैं ? तीन चीजें हैं-मेरी अपनी आसक्ति, मेरा अपना मोह, ये कर्मों के बंधन में पहला भागीदार है। इसमें मेरी परवशता है क्योंकि ये मोह आसक्ति का संस्कार बहुत पुराना चला आ रहा है, ये मेरे हाथ की चीज नहीं है। यह साझेदारी परवश है। दूसरी है मेरे अपने वर्तमान के पुरुषार्थ का निर्धारण, कर्म भला है या कि बुरा ?.... मेरे कर्मों के बंधन में इसकी भी साझेदारी है। मेरे वर्तमान पुरुषार्थ की भी साझेदारी है; वो भला भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। यह निर्धारित हम करते हैं। यह मेरे स्व-वश है। हम सब मोह व आसक्ति में थोड़ा परवश हैं लेकिन वर्तमान का पुरुषार्थ, जो कि मेरे हाथ में हैं उसमें हम पर वश नहीं है। तीसरी बात इस कर्म बंध की प्रक्रिया के बारे में भ्रम, लापरवाही और अज्ञानता। ये तीसरा साझीदार है मेरे कर्म-बंध की प्रक्रिया में, ये भी मेरे हाथ में है। तीन में से दो मेरे हाथ में हैं। एक में जरा मैं परवश हूँ। ये तीन भागीदार हैं मेरे। इसमें से जिससे मैं परवश हूँ उस पर पहले विचार कर लूँ। हमारा मोह है, हमारी आसक्ति ही है जो हमारे ही है, जिससे कर्म बंध होता है। कर्म करने का ढंग, आज वर्तमान में अगर कोई यह कहे कि शांत बैठो तो उसको निठल्ला मानेंगे। क्या कुछ भी नहीं करते हो, कुछ करो, 'ये जो कुछ करो' वाली प्रक्रिया है, इस संसार के मोह की वजह से, वो मेरी अपनी परवशता जैसी हो गई है कि कुछ करो, अर्थात् अशुभ में लगे हो तो अशुभ में लगे रहो, शुभ में लगे हो तो शुभ में लगे रहो। हमें शुभ और अशुभ दोनों के बीच साम्य भाव रखकर जीना है,-यह बात ख्याल में ही नहीं आती। हमारा मोह हमें निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित करता रहता है, हमारी आसक्ति हमें निरन्तर संसार के कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। थोड़ी देर के लिए जब मोह शांत होता है तब संसार के कर्मों से ऐसा लगने लगता है कि अब बहुत हुआ, अन्यथा कई बार हम संसार के कार्य द्वेषवश छोड़ देते हैं, हमसे नहीं होता हम यह सब कहाँ तक करें, हम रागपूर्वक या द्वेषपूर्वक; दोनों स्थितियों में निरन्तर कर्म में संलग्न रहते हैं हमारा जो मोह है, वो हमारे इस कर्म के बंधन में सबसे बड़ा भागीदार है और हमारा वर्तमान का पुरुषार्थ तो है ही और हमारी अज्ञानता भी है। कर्म कैसे कितनी जल्दी बँध जाते हैं, हम जानना ही नहीं चाहते। ये है हमारी लापरवाही, हमारी अज्ञानता। हम अगर थोड़ा सावधान हो जों, तो शायद इस प्रक्रिया में, थोड़ा सा परिवर्तन भी कर सकते हैं। सब कहते हैं

कि मोह है क्या चीज ?....आचार्य भगवंतों ने उसका लक्षण बताया है कि अरहंत भगवान के प्रति अश्रद्धा होना और जीवों के प्रति करुणा का अभाव होना, यह मोह का लक्षण है। इससे हमें बचना चाहिए।

अरहंत भगवान् के प्रति श्रद्धा नहीं होना। अरहंत भगवान अर्थात् जो अपनी विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं या जो राग–द्वेष के संसार के ऊपर उठ चुके हैं, जो वीतरागी हैं, अर्थात् उस वीतरागता के प्रति रुचि नहीं होना, संसार के प्रपंच में रुचि होना, उसका नाम है मोह। बहुत सीधी सी चीज है कि सुबह से शाम तक राग–द्वेष में रुचि है और वीतरागता में रुचि नहीं है, यही तो मोह है और यही हमारी कर्म बंध की प्रक्रिया का सबसे बड़ा भागीदार है, सबसे बड़ा पार्टनर है और दूसरी चीज हमारी अपनी सुख–सुविधा के साधनों को जुटाने के लिए हमारे अन्दर की दया और करुणा का अभाव। ये जो दया और करुणा का अभाव है वो भी मोह का लक्षण है और हमारे अपने इस जीवन को सुख–सुविधा जुटाने की जो आसक्ति है, वो आसक्ति हमारे भीतर की दया और करुणा को गायब करती है, अतएव दया और करुणा का अभाव होना भी मोह है।..

पुनः मैं क्या करूँ ?..... .मैं इस मोह से बचने के लिए अरहंत भगवान के प्रति या वीतरागता के प्रति अपनी श्रद्धा को जाग्रत कर अपनी रुचि को बढ़ाऊँ, अपना रुझान, अपना झुकाव उस तरफ करूँ। मै उन चीजों से दूर रहूँ जिनमें कि राग–द्वेष के अवसर ज्यादा है। मैं उन चीजों के सम्पर्क में ज्यादा रहूँ जिससे राग–द्वेष घटता हो। जिसमें वीतरागता की तरफ मेरे कदम बढ़ते हों और मै उन प्रक्रियाओं को दिन–भर में करूँ ? कि जिनसे मेरे भीतर दया और करुणा का भाव बढ़ता हो। मैं दया और करुणा दोनों को बनाये रखूँ, तब हो सकता है कि मैं अपने मोह को जीत सकूँ और इस कर्मबंध की प्रक्रिया को कम कर सकूँ। इसके लिए छोटा सा उदाहरण देखें। हमारे भीतर दया और करुणा का किस तरह अभाव हो गया है, किसी ने एक व्यंग्य किया है। यह उदाहरण है कि मेरी अपनी आसिक्त क्या है ?... .और इस आसक्ति के चलते मेरे अन्दर की जो वीतरागता के प्रति रुचि और मेरे अन्दर की जो करुणा का भाव है, जो कि मेरा अपना स्वभाव है, वो कैसे तिरोहित हो गया है, कैसे हट गया है!

गाँव में एक नया भिखारी आया। वह नया था, उसे क्या मालूम कि कौन सी दुकान के सामने जाने से मिलेगा और कौन सी दुकान पर जाने पर नहीं मिलेगा। बाकी जो वहाँ उस गाँव के या शहर के भिखारी थे उनको तो मालूम था कि इस दुकान पर जोंगे, एक बार कहेंगे, एक बार में मिल जाएगा और इस दुकान पर जाना ही नहीं क्योंकि कितना ही माथा पटक लो, यहाँ नहीं मिलने वाला।.. वह नया भिखारी बेचारा जानता नहीं था, अतः वो ऐसी दुकान पर पहुँच गया, जहाँ से आज तक किसी को कुछ नहीं मिला। दूसरे भिखारी दूर खड़े मंद–मंद मुस्कुरा रहे थे कि नया–नया है, उसको मालूम नहीं है, बेकार परेशान होगा उस दुकान पर जाकर। अब उसको क्या मालूम.. .लेकिन उस दुकान का जो सेठ था, सब भिखारियों को मालूम था कि वो अपनी धन–सम्पदा में अत्यन्त आसक्त है, खुद भी ठीक से नहीं खाता, दूसरों को तो देने का सवाल ही नहीं है। अब ऐसे व्यक्ति के बारे में लगाव बहुत था उन सबको कि देखें भिखारी को। "क्यों ? क्या चाहिए?" "कुछ मिल जाये, मालिक!" "लगता है कि नये आये हो।" "आज ही आया हूँ भगवन्! इस शहर में "अच्छा", अब सेठजी को भी जरा मजा आया, पता नहीं कौन से मूड में थे, उनका मन भी जरा मजा लेने का हुआ; बोले—"सुनो, मेरी दोनों आँखें देख रहे हो, क्या तुम बता सकते हो कि मैंने इनमें से कौन–सी नकली लगवाई है और कौन–सी असली है ?" भिखारी जरा असमंजस में पड़ गया, लेकिन भिखारी ही था, उसने दुनिया देखी थी, लोगों की आँखें देखकर जानता था, भले ही नया था परन्तु वो, मुश्किल से 30 सेकण्ड लगे होंगे और कहा कि सेठ जी दाहिनी वाली असली है, बाईं नकली। सेठजी दंग रह गये। सेठजी ने तो यह सोचा था कि यह बता नहीं पाएगा और मैं कुछ देऊँगा नहीं। अब तो देना भी पड़ेगा, क्योंकि कमिटमेंट कर चुके थे कि तू अगर सही बताएगा तो कुछ दे दूँगा भिक्षा में; अब सेठ ने बड़ी जोर से हँसकर कहा कि तुम आज जीत गए, आज मेरा मन हो रहा है कि मैं तेरे को कुछ दूँ। सारे भिखारी खड़े हैं दूर, देख रहे हैं कि नए भिखारी को इससे कुछ मिल रहा है,... एक बात और–"मैं तुझसे एक बार और पूछना चाहता हूँ बस वो बता दे, तो मान जाऊँगा।" "क्या सेठजी ?" "यही कि तूने पहचाना कैसे कि ये असली है और ये नकली है।" भिखारी बोला—"इसमें क्या है, जिसमें थोड़ी करुणा झलक रही है, मैं समझ गया कि वही नकली है क्योंकि असली वाली में तो सम्भव ही नहीं है कि थोड़ी बहुत करुणा हो, वहाँ तो सिर्फ मोह ही दिखाई पड़ रहा है....आसक्ति ही दिखाई पड़

रही है, किन्तु जो नकली आँख है, उसमें थोड़ी करुणा दिखाई पड़ रही है।".. .क्या यह उदाहरण इस बात की सूचना नहीं देता है कि मेरा मोह, मेरी अपनी करुणा को नष्ट कर देता है।.....मेरी अपनी जो वास्तविकता है, उससे मुझे विमुख कर देता है, राग-द्वेष में डाल देता है। मुझे वीतरागता से विमुख कर देता है, शायद इसीलिए आचार्यों ने लिखा है कि वीतरागता में रुचि होना। जहाँ धर्म की बात हो रही हो, जहाँ आत्मा के विकास की बात हो रही हो, वहाँ रुचि नहीं है पर जहाँ प्रपंच हो, वहाँ रुचि है। यही तो हमारा मोह है।... .और जहाँ प्राणी मात्र के प्रति करुणा होनी चाहिए, जहाँ क्षण भर को भी अपनी अन्तरात्मा दया का भाव लाती हो, उसी समय अपनी आसक्ति ये कहती है कि 'ठहरो, ऐसे कहाँ तक दया करते रहोगे ?..... किस-किस पर करोगे?"-ऐसी मुझे सलाह देता है हमारा मोह।. .हमें इस प्रक्रिया में इन सबसे ज्यादा खतरनाक भागीदार पर विचार करना चाहिए, ताकि हम इस कर्मबंध की प्रक्रिया से बच सकें।.....और दूसरे नम्बर पर हमारे अपने वर्तमान का पुरुषार्थ हमको भला करना है या बुरा करना है, ये हमारे ऊपर निर्भर है। इसमें किसी का कुछ भी नहीं है। ये बात जरूर है कि भले और बुरे की प्रेरणा हमारे भीतर जो संचित कर्म हैं, वे हमें देते हैं, लेकिन कितने भी संचित कर्म बुरे क्यों न हों, हमारी अन्तरात्मा की बात को दबा नहीं पाते हैं। चोरी करने वाले चोर की भी एक बार अन्तरात्मा की आवाज उसे चोरी करने से रोकती है, उसे भला करने की प्रेरणा देती है, इसीलिए हमें अपने वर्तमान का पुरुषार्थ कि भला करना है या बुरा करना है—इसकी च्वाइस हमारी अपनी है। इस पर हमारा पूरा अधिकार है इसीलिए इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमें अपने जीवन में शुभ और अशुभ में से किसे चुनना है ?....जबकि हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। शुद्ध तो हमारा लक्ष्य है.. .लेकिन अपने सामने विकल्प तो शुभ और अशुभ दो में से एक है, हमारे वर्तमान का पुरुषार्थ शुभ की तरफ होना चाहिए, अशुभ की तरफ नहीं होना चाहिए और तीसरी चीज जब ये कर्म बन्ध निरन्तर चलता रहता है, तब हम क्यों इतने लापरवाह हैं ?.. और जब हम ऐसे हैं तब यह साफ है कि हम इस कर्मबंध की प्रक्रिया को ठीक-ठाक समझना नहीं चाहता हैं ?

हमें समझ लेना चाहिए क्योंकि कर्मबन्ध की प्रक्रिया को समझ लेने से हम उसमें परिवर्तन कर सकते हैं इसलिए तीसरी भागीदारी भी अपने हाथ में हैं ?..... हम कर्मबंध की प्रक्रिया में अपना जितना ज्ञान बढ़ाएँ, उतनी अपने कर्मबंध की प्रक्रिया को बदलने की सुविधा हमें प्राप्त हो जाएगी। एक उदाहरण है, मंडावरा में एक पण्डितजी थे, पं. हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री का बड़ा नाम था। करणानुयोग का बड़ा ज्ञान था उनको, कर्म सिद्धान्त बहुत अच्छी तरह जानते थे वे रोज वचनिका करते थे और समझाते थे कि देखो भैया! कर्म कैसे बँधते हैं, जैसे अपने परिणाम हों, तीव्र हो, मंद हों, जान-बूझकर अपन करेंगे और कोई-कोई चीजें ऐसी हैं जो स्वयं से अनजाने में हो जाती हैं। देखो, इन सबसे अलग-अलग कर्म बँधते हैं वे हमेशा ऐसा समझाते थे। उसमें एक गरीब व्यक्ति भी प्रतिदिन बैठता था। एक दिन वह चोरी करते पकड़ा गया। पंचायत बैठी कि भैया! तुमने चोरी क्यों की और चोरी भी ऐसी करी गैर बुद्धिमानी की, कि अपने ही पास सात घर दूर जहाँ वो रहता था। वहाँ से पाँच-सात घर दूर किसी व्यक्ति का मकान था। उनके यहाँ गायें बँधी थीं, सो उनको डालने का भूसा रखा था। वह उस भूसे का बोरा उठाकर ले गया और ऐसा बुद्धू कि उसमें जो छेद था, सो उसे भूसे से एक लाइन लाइन बनती गयी उसके घर तक। बेचारे ने चोरी भी करी तो ऐसी गैर बुद्धिमानी से करी कि वह वो पकड़ में भी आ गया और पकड़ में आने पर कह भी दिया कि चुरा तो हम ही लाये हैं, साथ ही सारी बात स्वीकार कर ली। लोग जानते थे कि यह रोज पण्डित जी की वचनिका में बैठता है। बात कुछ और है, आदमी चोर नहीं मालूम पड़ता है। क्या बात थी भैया!...आपने चोरी क्यों की ? तो उसने कहा- तीन दिन हो गये, न हमारे घर में किसी के पेट में और न ही हमारे पेट में भोजन गया, सो हमने तो सहन कर लिया पानी पीकर, लेकिन कल हमसे देखा नहीं गया। हमारा छोटा सा बेटा दूध के लिए जिद कर रहा था, हमारे पास रोटी का टुकड़ा भी नहीं है, पानी कब तक पिलायें उसको। उसके लिए दूध चाहिए था सो ये सवा रुपये का बिकेगा और उतने में दो तीन दिन के लिए इसके लायक दूध आ जाएगा। तब तक कोई और काम देख लूँगा, अतएव मैंने सोचा कि और ज्यादा चोरी क्यों करना ?

1.3 कषायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तीव्र-मन्द, कर्मबंध-

पण्डित जी हमेशा बताते हैं कि अपने को ज्यादा तीव्र परिणामों से कर्म नहीं करना, मन्दता रखना, कषाएँ जितनी ज्यादा प्रबल होंगी, उतना तीव्र कर्म बँधेगा। मेरी इतनी ज्यादा लोलुपता नहीं थी, मेरी इतनी ज्यादा कषाय नहीं थी, मुझे तो सवा रुपया चाहिए था। ..... और भी सामान वहाँ रखा था। एक उनकी घड़ी उठा करके ले आते तो और ज्यादा की बिकती और वहीं सोने की अँगूठी भी रखी थी हम उसे उठा सकते थे, लेकिन हमने सोचा कि अपने को कीमती का क्या करना, कौन कोई अपने को ज्यादा जमा करके रखना है। सवा रुपये का ये ले चलो, इससे काम चल जाएगा। यह तो एक उदाहरण है। यह किस बात की सूचना दे रहा है। सिर्फ इस बात की कि मेरे अपने कर्म–बोध की अज्ञानता मेरे कर्मबंध को ज्यादा बढ़ा देती है। अगर हम कर्मबंध में सावधानी रखें, उसका ज्ञान रखें , तो शायद अपने इस कर्मबंधन की प्रक्रिया में अपने मनमुताबिक परिवर्तन कर सकते हैं। हम इतने मजबूर नहीं हैं। सिर्फ अपनी आसक्ति और मोह की वजह से थोड़ा मजबूर हैं, क्योंकि एक पार्टनर ऐसा है; .... लेकिन दो ऐसे हैं, जिनमें कि हमारा वर्तमान का पुरुषार्थ और ज्ञान दोनों मिलकर इस प्रक्रिया को परिवर्तित कर सकते हैं। इस तरह हमने आज इस कर्मबंध की प्रक्रिया को जाना और समझा कि कैसे ये कर्म जो हम करते हैं, हमारे साथ बँधते चले जाते हैं। हमें कैसे यह अपना फल देते हैं और यह प्रक्रिया कैसे निरन्तर चलती रहती है। हमारा मोह वर्तमान का पुरुषार्थ और हमारी अपनी अज्ञानता कर्मबंध के प्रति इसको बढ़ाती चली जाती है। हम अगर अपने पुरुषार्थ को सम्हाल लें, अपने ज्ञान को बढ़ा लें, और अपने मोह को घटाते चलें, साथ ही वीतरागता के प्रति हमारा रुझान बढ़ता जाए तो शायद इस कर्मबंध की प्रक्रिया में कुछ परिवर्तन हम भी इस भावना के साथ कर सकते हैं, कि हम इस कर्मबंध की प्रक्रिया को समझकर इस कर्म से मुक्त हो सकें।

1.4 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1–सम्पूर्ण संसार कैसा है ?

(क) अलौकिक ☐ (ख) नश्वर ☐ (ग) कर्मप्रधान ☐

प्रश्न 2–जैनदर्शन में कर्म के कितने भेद बताए हैं ?

(क) 5 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 2 ☐

प्रश्न 3–जिनका फल हमें तुरंत नहीं मिलता, देर–सबेर मिलता है, वे सब.....कहलाते हैं ?

(क) क्रियावान कर्म ☐ (ख) निकाचित कर्म ☐ (ग) संचित कर्म ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–कर्म की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है ?

प्रश्न 2–कर्म की प्रक्रिया में किस–किस की भागीदारी है ?

प्रश्न 3–मोह का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 4–कर्म किस प्रकार बंधते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1–हमारे भीतर दया और करुणा का भाव किस प्रकार तिरोहित हो गया है, उदाहरण देकर समझाइए ?

पाठ 2—कर्मों की विविध अवस्थाएँ

2.1 कर्म सिद्धांत प्रक्रिया पर कुछ विचार—

सम्पूर्ण जैन विचारशास्त्र एवं जैन जीवन, कर्मसिद्धान्त पर आधारित है। कर्म ही जीवों को हँसाते हैं और कर्म ही उन्हें रुलाते भी हैं तथा विभिन्न गतियों में नचाते भी हैं। जो भी हमारे साथ घटता है, वह सब कर्म जन्य ही होता है। विश्व के प्रायः सभी धर्म किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता को स्वीकारते हैं और वे-सब अपने साँचे के अनुसार उसकी व्याख्या करते हैं। जैन विचारशास्त्र ने कर्म को बड़ी सूक्ष्मता से देखा है। कर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप कैसा होता है, वे कैसे बँधते हैं, वे कैसे उदय में आते हैं, उनका परिणाम हमें कैसे मिलता है और कब एक प्रकार के कर्म हमारी साधना में दूसरी प्रकार के कर्मों में बदल जाते हैं और कब साधना से ही कर्म अपना फल देने से बच जाते हैं; इस लोक से जब जीव परलोक में जाता है तो वह न धन ले जाता है, न सम्पत्ति ले जाता है, न परिवार ले जाता है, उसके साथ उसके कर्म ही जाते हैं इसीलिए कुछ लोग मरने के बाद भी स्मरण किये जाते हैं और कुछ रहते हुए भी नहीं जाने जाते हैं। यह सब कर्म का ही चमत्कार है। पूर्वोल्लिखित प्रायः सभी प्रश्नों के उत्तर जैन कर्मसिद्धान्त ने दिये हैं।

प्रायः लोगों के मन में यह सवाल उठता है कि जब हम जैसे कर्म करते हैं वैसा ही फल हमें मिलता है अर्थात् कर्म का फल मिलकर ही रहता है और जब यह स्थिति है तो-फिर हमें ध्यान, आराधना, पूजा आदि साधना करने से क्या लाभ ?..... अर्थात् प्रश्न यह है कि ध्यान, आराधना, पूजा, साधना आदि कर्म हमारे पूर्व संचित कर्म पर या कर्म फल पर जब कोई प्रभाव डाल ही नहीं सकते तो फिर ध्यान, आराधना, पूजा, साधना आदि कर्मों को हम आखिर क्यों करें ? ....उक्त प्रश्न पर विचार करने से पहले यह जानने की जरूरत है कि हम सबसे पहले यह जानें कि जो कर्म हमने पूर्व में किये हैं, उससे जो कर्म हमारी आत्मा के साथ बन्धन को प्राप्त हुए हैं, उन बँधे हुए कर्मों की प्रकृति आखिर क्या है ?..... जब तक हम कर्मबंधन की इस प्रकृति को नहीं जानेंगे, तब तक हम कर्म फल सिद्धान्त को या उसकी सार्थकता को ठीक से नहीं समझ पाएँगे। इसे जानने के लिए जरूरी है कि पहले हम कर्मों को और उनके वर्गीकरण को ठीक से समझें। जैन आचार्यों ने कर्म सिद्धान्त की पूरी प्रक्रिया में कर्मों की 10 अवस्थाएँ बतायी हैं—1. बन्ध, 2. सत्त्व, 3. उदय, 4. उदीरणा 5. उत्कर्षण, 6. अपकर्षण 7. संक्रमण, 8. उपशम, 9. निधत्त, और 10. निकाचित।

2.2 कर्मों की दस अवस्थाएँ—

1. **बन्ध**—कर्मों के आत्मा के साथ बँधने के भाव (एक क्षेत्रावगाह संबंध) को हमारी परम्परा में बंध कहा गया है इसीलिए आचार्यों ने कहा कि "**बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्तो**"। वस्तुतः जब आत्मा और कर्म की अलग-अलग सत्ता न रहकर एकीभाव को प्राप्त हो जाती है तब कर्मबन्ध घटित होता है । वस्तुतः आत्मा जीवरूप है और कर्म पुद्गलरूप। कर्म पुद्गल द्रव्य रूप होते हुए भी आत्मा के साथ, आत्मा के प्रदेशों के साथ, संश्लिष्ट संबंधों के साथ जब बँध जाते हैं या संश्लिष्ट हो जाते हैं तब कर्म की बंध अवस्था प्राप्त होती है, यही जीव के संसार में होने का प्रमुख कारण है और इस अवस्था के कारण ही बंध की अन्य अवस्थाएँ अर्थात् जीव की गुणस्थान 1 से लेकर 13 तक की उपस्थित रूप अवस्थाएँ घटती हैं इसलिए कर्मबंध को हमारे यहाँ कर्म सिद्धान्त में/कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया की व संसार भाव की पहली अवस्था कहा गया है।

2. **सत्व**—कर्म बँधने के बाद अपना फल देने से पूर्व सत्ता में एक अंतराल तक विद्यमान रहते हैं। यह कर्मों की विद्यमान बने रहने की बीच की स्थिति ही हमारी परम्परा में कर्मों की सत्ता की स्थिति या कर्म-सत्त्व की स्थिति मानी गयी है। वास्तविक बात यह है कि सत्त्व काल में या कर्म के सत्ता के काल में कर्म सत्ता में रहता तो है पर वह उस अवस्था में सक्रिय नहीं रहता है। सत्ता कर्मों की वह स्थिति विशेष है जिसमें कर्म सुसुप्त अवस्था में आत्मा के साथ बँधे

रहकर पड़े रहते हैं। भाव यह है कि कर्मों की सुसुप्त अवस्था का नाम सत्ता है। इसकी स्थिति ठीक उस औषधि की तरह है जिसे आपने खा तो लिया है पर वह अपना परिणाम एक घंटे बाद दिखाना प्रारम्भ करेगी। ठीक वैसे ही कर्म भी बँधने के बाद कुछ काल तक सत्ता में बना रहता है और फिर कालांतर में वह अपना फल दिखाना प्रारम्भ करता है। यह सत्ता में बना रहने वाला काल ही **कर्म-सत्त्व** या **कर्म-सत्ता** कहलाता है।

उदय—राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि कारणों से कर्म बँध गये हैं और सत्ता में ही हैं पर जैसे ही वे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अपना फल देना प्रारम्भ करते हैं, उनके कर्मों के इस फल देने के कार्य को या प्रक्रिया को हमारी परम्परा में **कर्म उदय** की प्रक्रिया या कर्म उदय कहा गया है। आबाधा काल के पूर्ण होने पर निषेक रचना के अनुसार कर्मों का फल प्राप्त होना उदय कहलाता है। कर्म की सत्ता का काल आबाधा काल माना जाता है। अपना फल देने के बाद कर्म की निर्जरा हो जाती है अर्थात् फल देने के बाद कर्म का प्रभाव चुक जाता है। कर्मोदय की इस प्रक्रिया को या कर्मों के उदय की इस प्रक्रिया को हमारी शास्त्र-परम्परा में दो प्रकार का माना गया है—1. प्रदेशोदय और 2. फलोदय। चेतन को अपनी अनुभूति कराए बिना ही कर्म के निर्जरित हो जाने को प्रदेशोदय कहा गया है; उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की आपरेशन-थियेटर में शल्य क्रिया हो रही हो अर्थात् उसका आपरेशन हो रहा हो एवं उस आपरेशन के दौरान एनेस्थीसिया के प्रभाव से वह व्यक्ति अचेतन अवस्था में पहुँच गया हो और उस अचेतनावस्था के कारण ही उसके शरीर में होने वाली पीड़ा की अनुभूति उसे नहीं हो पाती है । भाव यह है कि पीड़ा तो होती है पर पीड़ा की अनुभूति नहीं होती है और इस प्रकार बिना अपनी फलानुभूति कराये पीड़ारूप कर्म व्यक्ति विशेष की आत्मा के उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं, यही प्रदेशोदय कहलाता है तथा इसके ठीक विपरीत कर्म का अपनी फलानुभूति कराते हुए निर्जरित होना फलोदय कहलाता है। फलोदय में पीड़ारूप फल की अनुभूति अवश्य होती है इसीलिए शास्त्रों में यह उल्लेख है कि फलोदय की प्रक्रिया में प्रदेशोदय अवश्य होता है पर प्रदेशोदय में फलोदय हो, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। फलोदय और प्रदेशोदय को जैन सिद्धान्त की हमारी परम्परा में स्व मुखोदय और पर मुखोदय भी कहा गया है।

4. उदीरणा—उदयावली के बाहर स्थित कर्म द्रव्य का अपकर्षण करके उसे उदयावली काल के पूर्व ही उदयावली में लाना उदीरणा है। जैसे—आपको 120 कि. मी. की यात्रा करना है और सामान्य स्पीड 60 कि. मी. प्रति-घंटे की है तो सामान्य अवस्था के अनुसार आप लक्ष्य तक की यात्रा दो घंटे में कर पाते हैं पर आपने यत्न तेज किया, गाड़ी तेजी से दौड़ायी और उसकी गति सामान्य 60 से बढ़ाकर 80 कर दी, जिसके परिणामस्वरूप 80 की गति से लक्ष्य को दो घंटे के स्थान पर डेढ़ घंटे में पा लेना उदीरणा है। बात साफ है कि गाड़ी की स्पीड सामान्यत: बँधी होती है और उस बँधी हुई स्पीड से लक्ष्य दो घंटे में ही प्राप्त होता पर विशेष प्रयत्न से लक्ष्य पहले पा लेना उदीरणा है। भाव यह है कि कर्म फल के काल को सामान्य से घटाकर जल्दी ला देने का नाम **उदीरणा** है। अभिप्राय यह है कि जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चलता है, उसकी या उसकी सजातीय कर्म प्रकृतियों की ही उदीरणा होती है, विजातियों की नहीं।

5. उत्कर्षण—पहले से बँधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाने का नाम उत्कर्षण है। हमारी परम्परा में माना गया है कि जिस कर्म का या जिस कर्म प्रकृति का जब बन्ध होता है अर्थात् बंध के बिना उत्कर्षण नहीं होता, भाव यह है कि कर्म के बंधन के बाद ही उदय से पहले उसका उत्कर्षण भी होता है या हो सकता है, बन्ध के बिना उत्कर्षण नहीं और बन्ध के बिना अपकर्षण भी नहीं। उत्कर्षण में स्थिति और अनुभाग बंध को बढ़ाये जाने की बात है जबकि अपकर्षण में उसके घटाये जाने की बात है। नया बंध करते समय आत्मा अपने पूर्वबद्ध कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकता है। काल मर्यादा और तीव्रता/सघनता को बढ़ाने की प्रक्रिया का नाम ही उत्कर्षण है ।

6. अपकर्षण—पहले से बँधे कर्म की स्थिति और अनुभाग में हानि का होना अपकर्षण है। सामान्यत: किसी भी छात्र को दसवीं कक्षा पास करने में दश वर्ष लगते हैं पर विशेष अध्ययन से दसवीं कक्षा उसने 8 वर्ष में या 9 वर्ष में

ही पास कर ली तो यह 8 वर्ष या 9 वर्ष में पास करने की क्रिया को ही जैन सिद्धान्त में अपकर्षण की प्रक्रिया माना गया। इस प्रक्रिया से कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता/सघनता को कम किया जाता है या कम किया जा सकता है।

कर्मों के बँधने के बाद बँधे हुए कर्मों में प्रायः दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। अशुभ कर्मों का बंध करने वाला जीव यदि शुभ भाव करता है, तो पहले से बँधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् समय, मर्यादा और फल की सघनता उसके प्रभाव से कम हो जाती है ।.....पर इसके विपरीत यदि अशुभ कर्म का बंध करने के बाद जीव और भी अधिक कलुषित परिणाम करता है तो उसके इस और अधिक कलुषित अशुभ भाव के प्रभाव से उसके स्थिति और अनुभाग में वृद्धि भी हो जाती है। इस प्रकार इस उत्कर्षण और अपकर्षण की प्रक्रिया के कारण कुछ कर्म शीघ्र फल दे देते हैं और कुछ और विलम्ब से। किसी का कर्म फल और सघन हो जाता है अर्थात् और तीव्र तथा किसी का और मंद अर्थात् मन्दतर।

7. संक्रमण—संक्रमण में कर्म के स्वरूप में परिवर्तन होता है, जैसे—नीच गोत्र कर्म का उच्च गोत्र कर्म में बदलना अर्थात् भाव यह है कि एक कर्मप्रकृति का उसी कर्म की दूसरी कर्म-प्रकृति में बदलने का नाम संक्रमण है। जिस प्रकृति का पूर्व में बंध किया था, उस प्रकृति का अन्य प्रकृति रूप में परिणमन हो जाना या बदल जाना संक्रमण है, पर संक्रमण के संबंध में विशेष बात यह है कि कर्मों की मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता। जैसे—मोहनीय कर्म का वेदनीय में संक्रमण नहीं होता और इसी प्रकार दर्शनमोहनीय का चारित्रमोहनीय में या आयुकर्म में संक्रमण नहीं होता। कुल मिलाकर भाव यह है कि संक्रमण की प्रक्रिया के अपने सिद्धान्त हैं। कर्म बदलते हैं, पर मूल रूप में नहीं। यही संक्रमण की प्रक्रिया का मूल आधार है।..... और यदि ऐसा न हो और सभी कर्म बदलने लग जाएँ तो फिर अष्टविध या आठ प्रकार के कर्मों की सत्ता की बात ही न हो पाए और सब कर्म एक प्रकार के कर्म में ही अन्तर्भुक्त होकर या संक्रमित होकर केवल एक प्रकार के कर्म ही सत्ता में रह जाएँ और तब एक प्रकार के कर्म का ही उदय आदि हो। बात इतनी ही नहीं बल्कि बात तो यहाँ तक है कि जब एक ही प्रकार के कर्म सत्ता में हों तो फिर आठ प्रकार के कर्मों के नष्ट करने का नाम भी मोक्ष न कहा जाय या मोक्ष न रह जाय। मोक्ष का स्वरूप ही गड़बड़ा जाय पर तथ्य ऐसा नहीं है इसीलिए जैन विचार परंपरा में अष्टविध कर्मों के नाश को ही मोक्ष कहा गया।

8. उपशम—जो कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाय अथवा जिसको उदीरणा अवस्था प्राप्त ही न हो वह उपशम करण है । इस उपशम में कर्म सत्ता में रहता तो है अर्थात् उसकी सत्ता समाप्त नहीं होती है पर निष्क्रिय शांत पड़ा रहता है इसीलिए इसका नाम उपशम है। भाव यह है कि कुछ काल विशेष के लिए वह अक्षम बना दिया गया होता है। इसकी स्थिति राख में दबी हुई आग जैसी है, आग अस्तित्व में तो है पर उस पर पड़ी हुई राख के कारण आग की तेजी से होने वाली ज्वलन क्रिया नहीं हो रही है। यही उपशम करण है।

9. निधत्त—आचार्यों ने कर्म की उस अवस्था का नाम निधत्त कहा है जिसमें कर्म न तो अवान्तर भेदों में अर्थात् अपने सजातीय उपभेदों में संक्रमित या रूपान्तरित होते हैं और न ही अपने नियत काल से पूर्व या बाद में अपना फल प्रदान करते हैं लेकिन कर्मों की स्थिति और अनुभाग को हीन या अधिक अर्थात् कम या अधिक किया जा सकता है। इस अवस्था विशेष का नाम निधत्त है। भाव यह है कि इस अवस्था में कर्मों का उत्कर्षण और अपकर्षण तो संभव है पर उनकी उदीरणा और संक्रमण नहीं होते। कुल मिलाकर तथ्य यह निकला कि जहाँ कर्मों का उत्कर्षण और अपकर्षण संभव हो पर उदीरणा और संक्रमण संभव न हो उस अवस्था को आचार्यों के द्वारा निधत्त कहा गया।

10. निकाचित—कर्म की या कर्मबंधन की प्रगाढ़ अवस्था का नाम निकाचित है। विशेष बात यह है कि इस अवस्था में न तो कर्मों की स्थिति और अनुभाग को कम या अधिक किया जा सकता है और न समय के पहले ही उनका उपभोग या भोग किया जा सकता है, इसके साथ ही साथ कर्म अपने अवान्तर भेदों में भी रूपान्तरित नहीं हो पाते

हैं। इस अवस्था में कर्म का जिस रूप में बंधन होता है उसे उसी रूप में भोगना पड़ता है। यह कर्मों की बड़ी प्रगाढ़ और युवा अवस्था है इसीलिए यह अवस्था सामान्यतः टाले नहीं टलती क्योंकि इसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण आदि चारों प्रक्रियाओं का अभाव रहता है।

उदाहरणार्थ 1 अक्टूबर को किसी फैक्टरी में काम करने जाना था, क्योंकि मालिक के साथ वैसा ही करार हुआ था। उदीरणा से हम 12 अक्टूबर के स्थान पर 25 सितम्बर को भी काम पर जा सकते थे। संक्रमण से मालिक हमें उस फैक्टरी से किसी और अच्छी या और खराब फैक्टरी में भेज सकता था पर दोनों में से कोई काम नहीं हुए अर्थात् 1 अक्टूबर को काम पर गये और उसी काम पर गये जिसके लिए नियुक्त हुए, यह निधत्त है। निकाचित में सही समय पर अर्थात् यथा फल-काल पर, सही स्थान पर, सही समय पर कर्मबंध का भोग चलता रहना होता है। सामान्यतः निधत्त व निकाचित में परिवर्तन नहीं होता पर विशेष परिस्थिति में उसमें भी परिवर्तन की बात आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने धवलाग्रंथ में कही है। वे कहते हैं कि जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त व निकाचित कर्म भी क्षय को प्राप्त होते हैं। यह ठीक उस प्रकार है, जैसे—उच्चतम न्यायालय ने किसी को मृत्युदण्ड दे दिया है और उसे निश्चित समय पर मृत्युदण्ड होना है पर वह किसी तरह राष्ट्रपति के दरबार में पहुँच जाए और राष्ट्रपति की अनुकम्पा से उसे जीवनदान मिल जाय, तो इस प्रकार उसका जीवन बच जाता है यह तो एक भौतिक उदाहरण बताया है किन्तु त्रैलोक्यपति जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्त व निकाचित कर्म भी झड़ जाते हैं और व्यक्ति विशेष मोक्षमार्ग की ओर बढ़ने लगता है, यही है कर्मसिद्धान्त की विशेषता और महिमा।

2.3 स्पृष्ट या शिथिल कर्म—

कर्मसिद्धान्त की चर्चा में स्पृष्ट अर्थात् शिथिल कर्मों का उल्लेख और आता है। **स्पृष्ट या शिथिल कर्म** वे हैं जो प्रायश्चित व प्रतिक्रमण आदि के करने से झड़ जाते हैं। बद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए हमें प्रायश्चित व प्रतिक्रमण आदि से और आगे जाकर तप आराधना आदि करनी होती है तब वे उस तप आराधना से झड़ते हैं। निधत्त कर्म वे कहलाते हैं जो बड़ी दृढ़ता के साथ आत्मा के साथ बँधे होते हैं और बिना गहन तपस्या के उनकी निर्जरा नहीं होती है। निकाचित कर्मों की ऐसी अन्तिम कोटि है जो फल देकर ही रहती है और यही कारण है कि तीर्थंकर आदि महापुरुषों को भी जो उपसर्ग आदि झेलने पड़ते हैं वे इन निकाचित कर्मों के ही परिणाम से होते हैं। सामान्यतः इन निकाचित कर्मों से फल भोगे बिना बचा नहीं जा सकता और अगर इन्हें भी भोगे बिना बचा जा सकने वाला मान लिया जाएगा तो फिर कर्मसिद्धान्त का साक्षात् फल दिखना ही बन्द हो जाएगा इसलिए जो साधकजन होते हैं उन्हें केवल निकाचित कर्मों का फल ही भोगना पड़ता है। अन्य कर्मों के फल को वे कदाचित् अपनी साधना के बल से, अपने को कर्मभोग के फल से मुक्त कर लेते हैं।

2.4 कर्मफल—

कर्मफल के बारे में प्रवचनसार में उल्लेख आता है कि वस्तुतः कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख-दुःख ही कर्म-फल है। यह सुख-दुःख की अनुभूति वस्तुतः कर्म उदय के परिणामस्वरूप होती है। कर्म का प्रभाव जब उदय में आता है तो वह ही कर्म भोग काल कहलाता है। कर्म सिद्धान्त के बारे में आबाधा काल पर भी चर्चा करना आवश्यक है।

आबाधा काल वह समय विशेष है, जिसमें कर्म आत्मा के साथ बँधा रहता है अर्थात् कर्मों का आत्मा के साथ बँधे रहने के काल का नाम ही आबाधा काल है।

जैन कर्म सिद्धान्त की प्रक्रिया में कर्म के फल विपाक की नियतता और अनियतता दोनों का उल्लेख है। जिसका

अभी ऊपर वर्णन हुआ है। शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर अपने आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ती है, वैसे-वैसे वह कर्मफलविषयक नियतता को समाप्त करने में सक्षम होती जाती है। कर्म कितना बलवान होगा, यह बात केवल कर्म के अपने बल पर निर्भर नहीं है अपितु आत्मा की पवित्रता पर निर्भर है। इन अवस्थाओं का उल्लेख यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय होना एक अलग बात है तथा उससे नवीन कर्मों का बंध होना या न होना एक अलग बात है। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि कषाय से युक्त आत्मा कर्मों के उदय के समय में नये-नये कर्मों को और बाँधता चलता है और ठीक इसके विपरीत कषायमुक्त आत्मा कर्मों के उदय के समय में नये कर्मों को बाँधता नहीं, वह तो केवल मात्र पहले से बँधे हुए कर्मों की निर्जरा भर करता है।

2.5 कर्म बंध के प्रकार—

(1) प्रकृति बंध—प्रत्येक समय में बँधने वाले कर्म परमाणुओं के भीतर ज्ञान, दर्शनादि आत्मा के गुणों को ढँकने/ आवरणादि करने का जो स्वभाव है, उसे आचार्यों ने प्रकृति बंध कहा है। प्रकारान्तर से हम कह सकते हैं कि जब कर्म वर्गणाएँ राग-द्वेषादि भावों का निमित्त पाकर आत्मा के योग से आकर बँधती हैं और बँधने के समय उनमें जो आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को ढँकने का कर्मस्वरूप रूप स्वभाव पड़ता है, उसे आचार्यों ने प्रकृति बंध कहा है, इसके 8 मूल भेद व 148 उत्तरभेद माने जाते हैं।

(2) स्थिति बंध—राग-द्वेषादि भावों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म परमाणु जितने समय तक या जिस काल-मर्यादा पर्यन्त आत्मा के साथ बँधे रहते हैं, उस काल-मर्यादा तक बँधे रहने के भाव को आचार्यों ने स्थिति बंध कहा है, इसीलिए कहा गया है कि कर्मों में कषायों के अनुसार मर्यादा का पड़ना अर्थात् जब तक वे कर्म स्वभाव को लिये हुए रहेंगे, वह समय आयुकर्म के अतिरिक्त सब सात कर्मों की सब प्रकृतियों की स्थिति का है, जो तीव्र कषाय से अधिक और मंद कषाय से कम होता है इसलिए हमारी परंपरा में स्थिति बंध के लिए कारणभूत आत्मा के कषाययुक्त परिवारों को माना गया है।

(3) अनुभाग बंध—जैन कर्मसिद्धान्त की प्रक्रिया में अनुभाग की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है। कर्मों की फल देने की शक्ति को अनुभाग कहा गया है। प्रत्येक कर्म की फल देने की शक्ति एक सी नहीं होती अर्थात् प्रत्येक कर्म का फल दान एक सा नहीं रहता। जीव के शुभ-अशुभ भावों के अनुसार बँधने वाले प्रत्येक कर्म का अनुभाग अपने-अपने नाम के अनुरूप तर भाव और तम भाव लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यन्त तीव्र / अत्यन्त सघन होता है, कुछ का मन्द और कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग वस्तुतः कषायों की तीव्रता व मन्दता पर निर्भर है। कषाय तीव्र तो कर्मों का अनुभाग सघन। कषाय यदि मन्द तो कर्मों का अनुभाग मन्द। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है और शुभ कर्मों का मन्द तथा ठीक इसके विपरीत कषायों की मन्दता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मन्द। कुल मिलाकर भाव यह है कि जो प्राणी कषायों की तीव्रता से जितना अधिक जुड़ा होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही सबल एवं प्रबल होंगे तथा शुभ कर्म उतने ही निर्बल या अबल होंगे; जो प्राणी जितना अधिक कषायों से मुक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे, सबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल।

(4) प्रदेश बंध—आत्मा के साथ बद्ध कर्म परमाणुओं की मात्रा ही वस्तुतः कर्मों के प्रदेश हैं। जीव के भावों का आश्रय लेकर बँधने वाले सभी कर्मों के परमाणुओं की मात्रा एक जैसी या समान नहीं होती। एक साथ आत्मा के साथ बँधने वाले समस्त कर्मपरमाणु एक निश्चित अनुपात से आठ कर्मों में बँध जाते हैं। बँधने का शास्त्रानुसार एक निश्चित नियम है, उक्त क्रम के अनुसार आयु कर्म के सबसे कम कर्म परमाणु होते हैं, नाम कर्म के परमाणु उससे कुछ अधिक होते हैं, गोत्र कर्म के परमाणुओं की मात्रा नाम कर्म के परमाणुओं के बराबर होती है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और

अन्तराय इन तीनों कर्मों के परमाणु विशेष अधिक होते हैं तथा यह भी मान्यता है कि तीनों की मात्रा परस्पर समान होती है। मोहनीय कर्म के परमाणु इससे भी अधिक होते हैं और सबसे अधिक परमाणु वेदनीय कर्म के होते हैं। यह मूल कर्मों का विभाजन है। प्रत्येक कर्म के प्रदेशों में कम या अधिक होने का आधार यही है। कर्म परमाणुओं का विभाजन कर्मों के बंध काल में ही होता है।

जैन विचारशास्त्र मानता है कि कर्मों की गति बड़ी विचित्र है; कभी यह बाँधती है अर्थात् बंधन में डालती है और कभी यह मुक्त भी कराती है । जब तक जीव संसार में रहता है तब तक यह उसे हँसाती भी है, रुलाती भी है पर जीव की यदि साधना मोक्षगामी नहीं है तो उसे संसार में ही भटकाती रहती है। इसलिए आइए, हम सब कर्मसिद्धांत को समझकर मोक्षगामी साधना के पथिक बनें।

2.6 प्रश्नावली–

वस्तुनिष्ठ प्रश्न–

प्रश्न 1–सम्पूर्ण जैन विचार शास्त्र एवं जैन जीवन किस पर आधारित है ?

(क) ईश्वर पर ☐
(ख) कर्म सिद्धान्त पर ☐
(ग) गहन चिन्तन पर ☐

प्रश्न 2–कर्म सिद्धान्त की पूरी प्रक्रिया में कर्मों की कितनी अवस्थाएँ बताई हैं ?

(क) 8 ☐
(ख) 20 ☐
(ग) 10 ☐

प्रश्न 3–कर्म की सत्ता का काल.....माना जाता है ?

(क) कर्म सत्त्व ☐
(ख) उदय काल ☐
(ग) आबाधकाल ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–फलोदय और प्रदेशोदय में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 2–उदीरणा की क्या परिभाषा है ?

प्रश्न 3–उत्कर्षण और अपकर्षण में क्या भेद है ?

प्रश्न 4–निधत्त और निकाचित कर्म का स्वरूप बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

प्रश्न 1–जैन कर्मसिद्धान्तानुसार बंध के कितने भेद हैं ? परिभाषा सहित बताइए ?

पाठ 3—कर्म प्रकृतियों में चार निक्षेप

3.1 नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से कर्म चार तरह का है। इनमें पहला भेद संज्ञारूप है। प्रकृति, पाप, कर्म और मल ये कर्म की संज्ञायें हैं। इन संज्ञाओं को ही नामनिक्षेप से कर्म कहते हैं।

3.2 निक्षेप का स्वरूप व चार भेद—

अब प्रकरणवश इन चार निक्षेपों का स्वरूप कहते हैं क्योंकि इनका स्वरूप जाने बिना वस्तु का किस तरह व्यवहार होता है सो मालूम नहीं होता। जो युक्ति से सुयुक्त मार्ग होते हुए कार्य के वश से नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से पदार्थ का व्यवहार करना, उसे **निक्षेप** कहते हैं वह नामादि भेद से चार प्रकार का है।

नाम निक्षेप—जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उनको उस नाम से कहना, उसे **नाम निक्षेप** कहते हैं। जैसे किसी ने अपने लड़के की संज्ञा ऋषभदेव रखी। उसमें यद्यपि ऋषभदेव तीर्थंकर के गुण नहीं हैं, फिर भी केवल व्यवहार के लिए वह संज्ञा रखी है अतएव उसको ऋषभदेव का नामनिक्षेप कहेंगे। **स्थापना निक्षेप** वह है जो कि साकार तथा निराकार (मनुष्यादि शरीर का आकार न हो और किसी आकार का पिंड हो) काठ, पत्थर, चित्राम (मूर्ति) वगैरह में "ये वे ही ऋषभदेव तीर्थंकर हैं" इस प्रकार का अपने परिणामों से निवेश करना। इन दोनों में इतना ही भेद है कि नाम के मूल पदार्थ की तरह सत्कार आदिक की प्रवृत्ति नहीं होती और स्थापना में मूल पदार्थ सरीखा ही आदर सत्कार किया जाता है।

जो पदार्थ आगामी (होने वाली) पर्याय की योग्यता रखता हो उसको **द्रव्य निक्षेप** कहते हैं। जैसे—राजा के पुत्र को राजा कहना अथवा केवलज्ञान अवस्था को जो प्राप्त होने वाले हैं उन ऋषभदेव को गृहस्थादि अवस्था में तीर्थंकर कहना। वर्तमान पर्याय सहित वस्तु को **भावनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—राज्यकार्य करते हुए को राजा कहना अथवा केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर ऋषभदेव को तीर्थंकर कहना। इस तरह चार निक्षेपों का स्वरूप कहा।

स्थापनारूप कर्म को कहते हैं—

सदृश अर्थात् कर्मसरीखा और असदृश अर्थात् जो कर्म के समान न हो, ऐसे किसी भी द्रव्य में अपनी बुद्धि से ऐसी स्थापना करना कि जो जीव में कर्म मिले हुए हैं वे ही ये हैं, इस अवधानपूर्वक किये गये निवेश को ही स्थापना कर्म कहते हैं।

द्रव्य निक्षेपरूप कर्म का स्वरूप दिखाते हैं—

द्रव्य निक्षेपरूप कर्म दो प्रकार का है—एक आगमद्रव्य कर्म, दूसरा नोआगमद्रव्य कर्म। इन दोनों में जो कर्म का स्वरूप कहने वाले शास्त्र का जानने वाला परन्तु वर्तमान काल में उस शास्त्र में उपयोग (ध्यान) नहीं रखने वाला जीव है, वह पहला आगमद्रव्य कर्म हैं।

अब दूसरा नोआगम द्रव्य कर्म कहते हैं—

दूसरा जो नोआगमद्रव्य कर्म है वह ज्ञायकशरीर, भावि, तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। उनमें से ज्ञायक शरीर कर्म (कर्मस्वरूप के जानने वाले जीव का शरीर) भूत-वर्तमान-भावी, इस तरह तीन कालों की अपेक्षा तीन प्रकार का है। उन तीनों में से वर्तमान तथा भावी शरीर इन दोनों का अर्थ समझने में सुगम है, कठिन नहीं है क्योंकि वर्तमान शरीर वह है जिसको कर रहा है और भावि शरीर वह है कि जिसको आगामी काल में धारण करेगा।

आगे भूत शरीर (जिसको छोड़कर आया है वह शरीर) के भेद दिखलाते हैं—

भूत ज्ञायकशरीर, च्युत, च्यावित, त्यक्त के भेद से तीन तरह का है। उनमें जो दूसरे किसी कारण के बिना केवल आयु के पूर्ण होने पर नष्ट हो जाए वह च्युत शरीर है। यह च्युत शरीर कदलीघात (अकालमृत्यु) और सन्यास इन दोनों अवस्थाओं से रहित होता है।

अब कदलीघात मरण का लक्षण कहते हैं—

विष भक्षण से अथवा विष वाले जीवों के काटने से, रक्तक्षय अर्थात् लोहू के संबंध से यहाँ धातुक्षय भी समझना चाहिए) भयंकर वस्तु के दर्शन से या उसके बिना भी उत्पन्न हुए भय से, शस्त्रों (तलवार आदि हथियारों) के घात से, संक्लेश अर्थात् शरीर, वचन तथा मन द्वारा आत्मा को अधिक पीड़ा पहुँचाने वाली क्रिया होने से, श्वासोच्छ्वास के रुक जाने से और आहार (खाना-पीना) नहीं करने से इस जीव की आयु कम हो जाती है। इन कारणों से जो मरण हो अर्थात् शरीर छूटे उसे कदलीघात मरण अथवा अकालमृत्यु कहते हैं।

आगे च्यावित और त्यक्त भूतज्ञायक शरीर का लक्षण कहते हैं—

जो ज्ञायक का भूत शरीर कदलीघात सहित नष्ट हो गया हो परन्तु सन्यास विधि से रहित हो उसे च्यावित शरीर कहते हैं और जिसने कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना सन्यास रूप परिणामों से शरीर छोड़ दिया हो उसे त्यक्त कहते हैं।

अब त्यक्त शरीर (सन्यास सहित शरीर) के भेद दिखाते हैं—

त्यक्त शरीर— भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी और प्रायोग्य की विधि से तीन प्रकार का है। उनमें भक्तप्रतिज्ञा जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से तीन तरह का है।

आगे इन जघन्य आदि भेदों का काल कहते हैं—

भक्तप्रतिज्ञा अर्थात् भोजन की प्रतिज्ञा कर जो सन्यास मरण हो उसके काल का प्रमाण जघन्य (कम से कम) अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट (ज्यादा से ज्यादा) बारह वर्ष प्रमाण है तथा मध्य के भेदों का काल एक-एक समय बढ़ता हुआ है। उसके अंतर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष के भीतर जितने भेद हैं, उतना प्रमाण समझना।

अब इंगिनीमरण और प्रायोपगमन (प्रायोग्य विधि) मरण का लक्षण कहते हैं—

अपने शरीर की टहल आप ही अपने अंगों से करे, किसी दूसरे से रोगादि का उपचार न करावे, ऐसे विधान से जो सन्यास धारण कर मरे उस मरण को इंगिनीमरण सन्यास कहते हैं और जिसमें अपना तथा दूसरे का भी उपचार (सेवा) न हो अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे, न दूसरे से ही करावे ऐसे सन्यास मरण को प्रायोपगमन कहते हैं।

आगे नोआगमद्रव्य कर्म का दूसरा भेद जो भावी है उसे कहते हैं—

जो कर्म के स्वरूप को कहने वाले शास्त्र का जानने वाला आगे होगा, वह ज्ञायकशरीर भावी जीव है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

अब तीसरा भेद जो तद्व्यतिरिक्त है उसे कहते हैं—

तद्व्यतिरिक्त जो नोआगमद्रव्य कर्म का भेद है वह कर्म और नोकर्म के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतिरूप अथवा उनके भेद मतिज्ञानावरणादि उत्तरप्रकृतिस्वरूप परिणमता हुआ जो कार्मणवर्गणा रूप पुद्गल द्रव्य, वह कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्म है, ऐसा नियम से जानना।

(4) आगे नोकर्म तद्व्यतिरिक्त का स्वरूप और भावनिक्षेपरूप कर्म के भेद दिखाते हैं—

कर्मस्वरूप द्रव्य से भिन्न जो द्रव्य है वह नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य कर्म है और भावनिक्षेपस्वरूप कर्म आगम तथा नोआगम के भेद से दो प्रकार का कहा है।

अब आगमभाव निक्षेपकर्म का स्वरूप कहते हैं—

जो जीव कर्मस्वरूप के कहने वाले आगम (शास्त्र) का जानने वाला और वर्तमान समय में उसी शास्त्र के चिन्तवन (विचार) रूप उपयोग सहित हो उसी जीव का नाम भाव आगम कर्म अथवा आगम भाव कर्म निश्चय से कहा जाता है।

आगे नोआगम भावनिक्षेपकर्म को कहते हैं—

कर्म के फल को भोगने वाला जो जीव, वह नोआगम भाव कर्म है। इस तरह निक्षेपों की अपेक्षा सामान्य कर्म चार प्रकार का नियम से जानना।

3.3 आगे कर्म के विशेष भेद जो मूलप्रकृति तथा उत्तरप्रकृतियाँ हैं उनमें नामादि चार निक्षेप के भेदों की विशेषता दिखाते हैं—

कर्म की मूल प्रकृति 8 तथा उत्तर प्रकृति 148 हैं। इन दोनों के जो नामादि चार निक्षेप हैं उनका स्वरूप सामान्य कर्म की तरह समझना परन्तु इतनी विशेषता है कि जिस प्रकृति का जो नाम हो उसी के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव निक्षेप होते हैं।

अब कुछ और भी विशेषता दिखाते हैं—

मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियों के नामादिक चार भेदों का स्वरूप समझना सरल है परन्तु उनमें द्रव्य तथा भावनिक्षेप के भेदों में से नोकर्म तथा नोआगम भावकर्म का स्वरूप समझना कठिन है।

अतएव उन दोनों को अर्थात् नोकर्म और नोआगम भावकर्म को मूल तथा उत्तर दोनों प्रकृतियों में घटित करते हैं और उसमें भी क्रमानुसार पहले नोकर्म को मूल प्रकृतियों में जोड़ते हैं—

द्रव्यनिक्षेप कर्म का जो एक भेद 'नोकर्म तद्व्यतिरिक्त' है उसी को यहाँ नोकर्म शब्द से समझना और जिस प्रकृति के फल देने में जो निमित्तकारण हो (सहायता करता हो) वही उस प्रकृति का नोकर्म जानना। इस अभिप्राय को धारण करके ही यहाँ पर नोकर्मों को बताते हैं। ज्ञानावरणादि 8 मूलप्रकृतियों के नोकर्म द्रव्यकर्म क्रम से, वस्तु के चारों तरफ लगा हुआ, 1. कनात का कपड़ा, 2. द्वारपाल, 3. शहद लपेटी तलवार की धार, 4. शराब, 5. अन्नादि आहार, 6. शरीर, 7. प्रशस्त-अप्रशस्त शरीर और 8. भंडारी, ये आठ जानना।

3.4 आगे उत्तर प्रकृतियों के नोकर्म कहते हैं—

वस्तुस्वरूप के ढकने वाले वस्तु आदि पदार्थ मतिज्ञानावरण के नोकर्म द्रव्यकर्म हैं और इंद्रियों के रूपादिक विषय श्रुतज्ञान (शास्त्र ज्ञान व एक पदार्थ के ज्ञान) को नहीं होने देते, इस कारण श्रुतज्ञानावरण कर्म के नोकर्म हैं अर्थात् जो विषयों में मग्न रहता है उसे शास्त्र के विचार करने में रुचि नहीं होती इसलिए (शास्त्रज्ञान अथवा अपने आत्मा के स्वरूप का विचार करने में बाधा करने वाले होने से) इंद्रियों के विषयों को श्रुतज्ञानावरण का नोकर्म कहा है।

3.5 अब अवधिज्ञानावरण और मन:पर्ययज्ञानावरण के नोकर्म दिखाते हैं—

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान इन दोनों के घात करने का निमित्त कारण जो संक्लेशरूप (खेदरूप) परिणाम है उसको करने वाली जो बाह्य वस्तु, वह अवधि ज्ञानावरण तथा मन:पर्यय ज्ञानावरण का नोकर्म है और केवलज्ञानावरण का नोकर्म द्रव्यकर्म कोई वस्तु नहीं है क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक (कर्मों के क्षय से प्रगट) है। वहां संक्लेश परिणाम नहीं हो सकते और इसीलिए उस केवलज्ञान का घात करने वाले संक्लेशरूप परिणामों को कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकती।

3.6 अब दर्शनावरण के भेदों के नोकर्म कहते हैं—

पाँच निद्राओं का नोकर्म भैंस का दही, लहसन, खली इत्यादिक हैं क्योंकि ये निद्रा की अधिकता करने वाली वस्तुयें हैं और चक्षु तथा अचक्षुदर्शन के रोकने वाले वस्त्र वगैरह द्रव्य चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण कर्म के नोकर्म द्रव्य कर्म हैं।

अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण का नोकर्म अवधिज्ञानावरण तथा केवलज्ञानावरण के नोकर्म की तरह

ही जानना और सातावेदनीय तथा असातावेदनीय का नोकर्म क्रम से अपने को रुचने वाली तथा अपने को नहीं रुचे ऐसी खाने-पीने वगैरह की वस्तु जानना।

3.7 अब मोहनीय कर्म के भेदों के नोकर्म दिखाते हैं—

1. जिन, 2. जिनमंदिर, 3. जिनागम, 4. जिनागम के धारण करने वाले, 5. तप और 6. तप के धारक ये छह आयतन सम्यक्त्व प्रकृति के नोकर्म हैं और 1. कुदेव, 2. कुदेव का मंदिर, 3. कुशास्त्र, 4. कुशास्त्र के धारक, 5. खोटी तपस्या और 6. खोटी तपस्या के करने वाले ये 6 अनायतन मिथ्यात्व प्रकृति के नोकर्म हैं तथा आयतन और अनायतन दोनों मिले हुये सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय के नोकर्म हैं, ऐसा निश्चय कर समझना।

अनंतानुबंधी कषाय के नोकर्म मिथ्या आयतन अर्थात् कुदेव वगैरह छह अनायतन हैं और बाकी बची हुई बारह कषायों के नोकर्म देशचारित्र, सकलचारित्र तथा यथाख्यातचारित्र के घात में सहायता करने वाले काव्य, नाटक, कोक शास्त्र इत्यादि और पापी जार (कुशीली) पुरुषों की संगति करना इत्यादिक हैं, ऐसा नियम से जानना।

स्त्रीवेद का नोकर्म स्त्री का शरीर, पुरुषवेद का नोकर्म पुरुष का शरीर है और नपुंसकवेद का नोकर्म द्रव्यकर्म उक्त दोनों का कुछ-कुछ मिश्रित चिन्ह रूप नपुंसक का शरीर है। हास्यकर्म के नोकर्म विदूषक व बहुरूपिया वगैरह हैं जो कि हँसी ठठ्ठा करने के पात्र हैं। रति कर्म का नोकर्म अच्छा गुणवान् पुत्र है क्योंकि गुणवान् पुत्र पर अधिक प्रीति होती है।

अरति कर्म का नोकर्म द्रव्य इष्ट का (प्रिय वस्तु का) वियोग होना और अनिष्ट अर्थात् अप्रिय वस्तु का संयोग (प्राप्ति) होना है। शोक का नोकर्म द्रव्य सुपुत्र, स्त्री वगैरह का मरना है और सिंह आदिक भय के करने वाले पदार्थ भय कर्म के नोकर्म द्रव्य हैं तथा निंदित वस्तु जुगुप्साकर्म की नोकर्म द्रव्य हैं।

3.8 अब आयुकर्म के भेदों के तथा नामकर्म के भेदों के नोकर्म कहते हैं—

अनिष्ट आहार अर्थात् नरक की विषरूप मिट्टी आदि नरकायु का नोकर्म द्रव्य है और बाकी तिर्यंच आदि तीन आयु कर्मों का नोकर्म इंद्रियों को प्रिय लगे, ऐसा अन्न-पानी वगैरह है और गति नामकर्म का नोकर्म द्रव्य चार गतियों का क्षेत्र (स्थान) है।

नरकादि चार गतियों का नोकर्म द्रव्य नियम से नरकादि गतियों का अपना-अपना क्षेत्र है और जातिकर्म का नोकर्म द्रव्येन्द्रिय रूप पुद्गल की रचना है।

एकेन्द्रिय आदिक पाँच जातियों के नोकर्म अपनी-अपनी द्रव्येन्द्रियाँ हैं और शरीर नामकर्म का नोकर्म द्रव्य शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए अपने शरीर के स्कंध रूप पुद्गल जानना।

औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस शरीर नामकर्म का नोकर्म द्रव्य अपने उदय से प्राप्त हुई शरीरवर्गणा हैं क्योंकि उन वर्गणाओं से ही शरीर बना है और कार्मण शरीर का नोकर्म द्रव्य विस्रसोपचयरूप (स्वभाव से कर्मरूप होने योग्य कार्मण वर्गणा) परमाणु हैं।

शरीर बंधन नामकर्म से लेकर जितनी पुद्गलविपाकी प्रकृतियाँ हैं उनका और पहले कही हुई प्रकृतियों के सिवाय जीवविपाकी प्रकृतियों में से जितनी बाकी बची उनका नोकर्म शरीर ही है क्योंकि उन प्रकृतियों से उत्पन्न हुये सुखादिरूप कार्य का कारण शरीर ही है। क्षेत्रविपाकी चार आनुपूर्वी प्रकृतियों का नोकर्म द्रव्य अपना-अपना क्षेत्र ही है, इतनी विशेष बात जाननी।

स्थिर कर्म का नोकर्म अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहने वाले रस, रुधिर वगैरह और अस्थिर प्रकृति के नोकर्म अपने-अपने स्थान से चलायमान हुए रस, रुधिर आदिक हैं। शुभ प्रकृति के नोकर्म द्रव्य शरीर के शुभ अवयव हैं तथा अशुभ प्रकृति के नोकर्म द्रव्य शरीर के अशुभ (जो देखने में सुंदर न हों ऐसे) अवयव हैं। स्वर नामकर्म का नोकर्म

सुस्वर-दु:स्वर रूप परिणमें पुद्गल परमाणु हैं।

3.9 अब गोत्र कर्म तथा अंतराय कर्म के भेदों के नोकर्म दिखाते हैं—

उच्च गोत्र का नोकर्म द्रव्य लोकपूजित कुल में उत्पन्न हुआ शरीर है और नीच गोत्र का नोकर्म लोकनिंदित कुल में प्राप्त हुआ शरीर है। दानादिक चार का अर्थात् 1. दान, 2. लाभ, 3. भोग और 4. उपभोगान्तराय कर्म का नोकर्म द्रव्य दानादिक में विघ्न कराने वाले पर्वत, नदी, पुरुष,स्त्री वगैरह जानना चाहिए।

वीर्यांतराय कर्म के नोकर्म रूखा आहार वगैरह बल के नाश करने वाले पदार्थ हैं। इस प्रकार उत्तर प्रकृतियों के नोकर्म द्रव्यकर्म का स्वरूप कहा गया है।

3.10 अब नोआगमभावकर्म को कहते हैं—

जिस-जिस कर्म का जो-जो फल है उस फल को भोगते हुए जीव को ही उस-उस कर्म का नोआगमभाव कर्म जानना। पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का नोआगमभावकर्म नहीं होता क्योंकि उनका उदय होने पर भी जीवविपाकी प्रकृतियों की सहायता के बिना साताजन्य सुखादिक की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तरह सामान्य कर्म की मूल-उत्तर दोनों प्रकृतियों के चार निक्षेप कहे गए हैं।

3.11 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐
(ख) दो ☐
(ग) आठ ☐

प्रश्न 2-कर्म की चार संज्ञाओं में से दूसरी संज्ञा का नाम-

(क) प्रकृति ☐
(ख) पाप ☐
(ग) मल ☐

प्रश्न 3-जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उसको उस नाम से कहना.....है ?

(क) द्रव्य निक्षेप ☐
(ख) भाव निक्षेप ☐
(ग) नाम निक्षेप ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आगम द्रव्य कर्म और नोआगम द्रव्य कर्म में क्या भेद है ?

प्रश्न 2-कदलीघात मरण का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 3-तद्व्यतिरिक्त कर्म के भेद कितने हैं, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 4-कर्मों की मूल प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मूल प्रकृति एवं उत्तर प्रकृतियों के नोकर्मों का वर्णन कीजिए ?

पाठ 4–कर्म सिद्धान्त और सम्यग्दर्शन

4.1 सम्यग्दर्शन की प्रधानता—

जैनदर्शन सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों की युति रूप जीवन को मोक्षमार्ग मानता है और इन तीनों में सम्यग्दर्शन को प्रथमतः स्वीकार किया गया है तथा सम्यग्दर्शन का महत्त्व इस प्रकार कहा गया है—

नगर में जिस प्रकार द्वार प्रधान है, मुख में जिस प्रकार चक्षु प्रधान है तथा वृक्ष में जिस प्रकार मूल प्रधान है उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, वीर्य व तप इन चारों प्रकार की आराधनाओं में सम्यक्त्व ही प्रधान है। जिस प्रकार ताराओं में चन्द्र और पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि व श्रावक दोनों प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है। जैन आगम और अध्यात्म ग्रंथों में सम्यग्दर्शन की महिमा इस प्रकार ही वर्णित है।

4.2 सम्यग्दर्शन के लक्षण व उनकी सूक्ष्मता—

जिनवरों के द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थों का आज्ञा या अधिगम से श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रंथ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु, इनमें श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की निर्मल परिणति है "सम्यक्त्व वास्तव में सूक्ष्म है और केवलज्ञान के द्वारा गोचर है तथा अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा भी गोचर है परन्तु खास बात यह है कि मति व श्रुतज्ञान और देशावधि इनके द्वारा सम्यक्त्व की उपलब्धि या सम्यक्त्व का माप संभव नहीं है इसलिए कोई भी जीव उसके विधिपूर्वक कहने और सुनने का अधिकारी नहीं है।"

4.3 सम्यक्त्व की उत्पत्ति-व्यवस्था—

सम्यग्दर्शन का निमित्त जिनसूत्र है अथवा जिनसूत्र के जानने वाले पुरुष हैं, सम्यग्दर्शन के अन्तरंग हेतु मोह के क्षय, उपशम व क्षयोपशम हैं।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार अनन्तानुबन्धी की क्रोध–मान–माया–लोभ और दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से सम्यग्दर्शन होता है।

4.4 पुनः-पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति एवं च्युति सम्बन्धी व्यवस्था—

"प्रथमोपशम सम्यक्त्व, वेदक सम्यक्त्व, देशसंयम और अनन्तानुबंधी की विसंयोजना की विधि को यह जीव उत्कृष्ट रूप से अर्थात् अधिक से अधिक पल्य के असंख्यातवें भाग के जितने समय हैं, उतनी बार छोड़–छोड़कर पुनः-पुनः ग्रहण कर सकता है, पश्चात् नियम से सिद्धपद को प्राप्त होता है।

4.5 सम्यग्दृष्टि का सामान्य लक्षण—

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीनों में से किसी भी प्रकार के सम्यक्त्व से समन्वित तथा चरित्र मोह के उदय से जिसके परिणाम अत्यन्त अविरति रूप रहते हैं, उसको परम्परा में असयंत सम्यग्दृष्टि कहा गया है।"

वह सम्यग्दृष्टि पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता है और उसके इस गर्व न करने के भाव को उपशम भाव माना गया है और इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव अपने को तृण समान मानता है। जो उत्तम गुणों को ग्रहण करने में तत्पर रहता है, उत्तम साधुओं की विनय करता है तथा साधर्मीजनों से अनुराग करता है वह उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्यों को और पर्यायों को जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

4.6 चतुर्थ गुणस्थान तक बंध, अबंध और बंध व्युच्छित्ति है—

कर्मों की कुल 148 प्रकृतियाँ हैं उसमें अभेद विवक्षा से 120 प्रकृतियाँ बंध योग्य कही गई हैं। उन प्रकृतियों में से 43 प्रकृतियों का बंध चतुर्थ गुणस्थान में नहीं होता है, वे इस प्रकार से हैं—मिथ्यात्व, हुण्डकसंस्थान, नपुंसकवेद, असम्प्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकगति, नरगत्यानुपूर्वी, नरकायु, अनन्तानुबन्धी कषाय 4, स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा, प्रचला, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक और वामन संस्थान, वज्रनाराच, अर्द्धनाराच, कीलित संहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचायु, उद्योत, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति।

चतुर्थ गुणस्थान में 66 प्रकृतियों का बंध होता है, वे निम्न हैं—अप्रत्याख्यान 4, वज्रबृषभनाराच संहनन, औदारिकशरीर, औदारिक आंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, प्रत्याख्यानावरण चार, अस्थिर, अशुभ, असाता वेदनीय, अयश:कीर्ति, अरति, शोक, देवायु, निद्रा, प्रचला, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्माण, समचतुरस्त्रसंस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी वैक्रियकशरीर, वैक्रियकआंगोपांग, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन 4, अन्तराय 5, यश:कीर्ति, उच्चगोत्र, साता वेदनीय इस प्रकार 66 प्रकृतियाँ चतुर्थ गुणस्थान में बंधरूप हैं। इन प्रकृतियों के बंध रूप परिणामों का सूक्ष्म रूप समझना कठिन है क्योंकि परिणाम निरन्तर परिणमनशील होते हैं।

इस प्रकार अंतरंग में सूक्ष्म रूप से समझ पाना असंभव है कि ये परिणाम 4 गुणस्थानों के योग्य हैं और ये परिणाम चतुर्थ गुणस्थान के अयोग्य हैं। आगम की विवक्षा से अन्तरंग परिणाम सामान्य जीवों के ज्ञान के अविषय हैं।

4.7 उदय योग्य कर्म प्रकृतियों की व्यवस्था—

चतुर्थ गुणस्थान में 104 प्रकृतियों का उदय है, उदय योग्य 122 प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारक शरीर, शरीरांगोपांग, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, स्थावर, एकेन्द्रिय, विकलत्रय एवम् अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन अठारह प्रकृतियों के बिना शेष 104 प्रकृतियों का उदय है। उक्त तीर्थंकरादि 18 प्रकृतियों का अनुदय है। अप्रत्याख्यानचतुष्क, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, दुर्भग अनादेय एवम् अयश:कीर्ति इन 17 प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।" इस उदय, अनुदय और उदय से व्युच्छत्ति होने वाली प्रकृतियों की व्यवस्था से भी यही स्पष्ट होता है कि 8 कर्मों की अवान्तर प्रकृतियों के उदय से परिणामों की विचित्रता सम्भव है, जिसका निर्णय स्व–पर गम्य नहीं है।

अब साथ में चतुर्थ गुणस्थान में सत्व, असत्त्व और सत्व व्युच्छित्ति की व्यवस्था भी आगम के परिपेक्ष्य में देखेंगे।

"असंयत गुणस्थान में सभी 145 प्रकृतियों का सत्त्व है। असत्व का अभाव है तथा नरकायु की सत्व व्युच्छित्ति होती है।

सत्त्व की व्यवस्था से भी हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाये, यह कोई नियम नहीं है। उसे मुक्त होने के लिए अर्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल तक लग सकता है।

4.8 कर्म–बन्ध मुक्ति की प्रक्रिया में सम्यक्त्व की भूमिका—

प्रथम गुणस्थान में जो कर्म बन्ध होता है और चतुर्थ गुणस्थान में जो कर्म बन्ध होता है। वह बंध व्यवस्था से समझने में स्पष्ट होता है कि बहुत कम होता है क्योंकि 43 प्रकृतियों का इस गुणस्थान में बंध नहीं होता है, इससे संसार परिभ्रमण की प्रक्रिया कम हो जाती है। आन्तरिक परिणामों में जो सुधार होता है वह कषायों के उपशम रूप है। बहुत स्थायी कषायरूप परिणाम उसके नहीं रहते हैं। इस गुणस्थान में मानसिक उद्वेगों में एक हल्कापन आता है जो बाह्य में

हम भले ही निर्णय नहीं कर पायें किन्तु अंतरंग में ऐसा होता ही है। यह कर्मसिद्धान्त की अकाट्य व्यवस्था है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप परिणाम रखता है और नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना रूप जीवन में जीना चाहता है। आठ अंगों का पृथक्–पृथक् अवलोकन नहीं किया जा सकता है किन्तु उसके परिणामों में धर्म के प्रति एक ऐसा श्रद्धा भाव जाग्रत हो जाता है जिससे अपने जीवन का परिष्कार उसे पसन्द होता है। इसलिए कहा भी है—"निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रियसुख आदि परद्रव्य त्याज्य हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ प्रणीत निश्चय-व्यवहार को साध्य साधक भाव से मानता है। आत्मनिन्दादि सहित होकर इन्द्रियसुख का अनुभव करता है।"

किन्तु सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति इस प्रकार होना चाहिए और इस प्रकार नहीं होना चाहिए, ऐसा कोई भी निर्णय हम नहीं कर सकते क्योंकि परिणामों का सूक्ष्म रूप हम नहीं समझ सकते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टियों की भी प्रवृत्तियाँ कषाय के उदय से अनेक विसंगति रूप प्रथमानुयोग में देखने को प्राप्त होती हैं इसलिए सम्यग्दर्शन का सूक्ष्म रूप हमारे मापने का विषय नहीं है किन्तु जो जीव मुहूर्त काल पर्यन्त भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके अनन्तर छोड़ देते हैं, वे भी इस संसार में अनन्तानन्त काल पर्यन्त नहीं रहते हैं अर्थात् उनका भी अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन काल मात्र ही संसार शेष रहता है, इससे अधिक नहीं।

4.9 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र इन तीनों में किसकी प्रधानता है ?

(क) सम्यग्दर्शन ☐
(ख) सम्यग्ज्ञान ☐
(ग) सम्यक्चारित्र ☐

प्रश्न 2-अस्तिकाय कितने होते हैं ?

(क) छह ☐
(ख) नौ ☐
(ग) पाँच ☐

प्रश्न 3-सम्यग्दर्शन का निमित्त.....है अथवा जिनसूत्र के जानने वाले पुरुष हैं।

(क) कर्मों का उपशम ☐
(ख) जिनसूत्र ☐
(ग) कर्मों का पूर्णत: क्षय होना ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-कर्म सिद्धान्त के अनुसार सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?

प्रश्न 2-सम्यग्दृष्टि का सामान्य लक्षण बताइए ?

प्रश्न 3-चतुर्थ गुणस्थान में कितनी और कौन-कौन सी प्रकृतियों का बंध होता है ?

प्रश्न 4-चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्ति होती है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-कर्मबंध मुक्ति की प्रक्रिया में सम्यक्त्व की क्या भूमिका है ?

इकाई–4 विविध दृष्टिकोणों से कर्मसिद्धान्त की व्याख्या

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) तप से होता है कर्मों का क्षय

(2) कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्याप्ति की विवेचना (आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में)

(3) कर्म सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

(4) विविध जैन ग्रंथों के आधार से जानें कर्म सिद्धान्त

पाठ-1–तप से होता है कर्मों का क्षय

1.1 साधना का लक्ष्य कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करना है। कर्म-क्षय के लिए तप करना आवश्यक है क्योंकि तप के बिना कर्म-क्षय नहीं है और जिस क्रिया से कर्म-क्षय न हो, उसका नाम तप भी नहीं है इसीलिए भट्ट अकलंक देव ने तो कहा ही है कि जो कर्म-क्षय के लिए तपा जाय, वह तप है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कहना है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को प्रगट करने के लिए इच्छा का निरोध तप है।' वारसाणुपेक्खा में लिखा है कि पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषाय का विनिग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिन्तन करना तप है। भगवती आराधना के अनुसार अकर्तव्य के त्याग रूप चारित्र में जो रागादि समस्त भाव इच्छाओं के त्याग से स्व-स्वरूप में प्रतपन विजयन करना तप है। नीतिवाक्यामृत में आचार्य सोमदेव स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—पाँच इन्द्रियों—स्पर्शन आदि, इच्छाओं पर पूर्ण रूप से अंकुश लगाना तप है। इस प्रकार आचार्यों ने तप की विविध परिभाषाएँ लिखी हैं।

व्रत-ग्रहण और तप करने से इच्छाओं का निरोध होता है। इच्छाएँ आकाश की तरह अनन्त हैं, उन अनन्त इच्छाओं को रोकने का, निरुन्धन करने का कार्य तप करना है। तप से सभी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जहाँ तक इच्छाएँ नहीं रुकतीं, वहाँ तक तपन नहीं है। मन में उद्दाम इच्छाएँ पनप रही हों और ऊपर से यदि त्याग कर भी दिया गया हो तो वस्तुतः वह त्याग भी नहीं है, वह तप नहीं, वह तो ताप है। तप धर्म साधना का प्राण है। संसार के पदार्थों को छोड़कर तपस्या को अंगीकार करना श्रेष्ठ है, किसी आचार्य ने कहा है कि समस्त सिद्धियाँ तप-मूलक हैं। आचार्य नेमिचन्द्र ने स्पष्ट रूप से लिखा है—'जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे तप से ही प्राप्त होती हैं। तप से आत्मा में एक अद्भुत तेज का संचार होता है इसलिए आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव ने तप को स्वीकार करने को कहा है। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने साधना-काल के प्रारंभ में छः वर्ष तक बहुत ही उग्र तप की साधना की थी (मज्झिमनिकाय) जिससे उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, उन्होंने केशलुंचन आदि भी किया था।

उन्होंने अनशन तप की उपेक्षा कर उसे पूर्ण रूप से न मानकर मध्यमार्ग का उपदेश दिया किन्तु तप का सर्वथा निषेध नहीं किया; उन्होंने तप के लिए चार सर्वश्रेष्ठ स्थानों का निर्देश दिया। तथागत ने यह भी कहा कि मैं श्रद्धा का बीज-वपन करता हूँ और तप की उस पर दृष्टि होती है। एक बार बुद्ध ने राजा बिम्बसार से कहा—मैं तपस्या करने के लिए जा रहा हूँ क्योंकि उस मार्ग में मेरा मन लगता है। अंगुत्तरनिकाय के दिट्ठिबद्ध सुत्त में तप और व्रत करने की प्रेरणा दी है। संयुक्तनिकाय में कहा है कि तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी के ही अन्तरंग स्नान है, जो जीवन के विकारों के मल को धोकर साफ कर देता है। उक्त कथनों से स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य में भी तप का विशेष महत्त्व प्रतिपादित है।

वैदिक साहित्य में तप का वर्णन भरा पड़ा है। वैदिक संहिताओं में तप के अर्थ में 'तेजस्' शब्द व्यवहृत है। जीवन को तेजस्वी और वर्चस्वी बनाने के लिए तप की साधना के लिए प्रेरणा दी गई है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि तप रूप तेज शक्ति से मानव संसार में विजयश्री को वरण करता है और समृद्धि उसके चरण चूमने को लालायित रहती है। कृष्ण-

यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख मिलते हैं कि प्रजापति ने तप किया और उसी के प्रभाव से सृष्टि की। ऋषियों ने भी कहा कि तप ही मेरी प्रतिष्ठा है। श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप से ही प्रगट होता है। इसी प्रकार सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण ग्रंथों और वैदिक पुराण व आयुर्वेद शास्त्रों में भी तप की महिमा वर्णित है। यह भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व है अतः विस्तार से वर्ण्य है।

चारित्र मोक्ष प्राप्ति का चरम साधन है अतः मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ सभी श्रावकाचार एवं समाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में चारित्र का वर्णन किया है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्त में चारित्र का वर्णन करते हुए तप का सेवन करने के लिए कहा है—

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षांगमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः। ।

सम्यक्चारित्र में गर्भित होने से तप भी आगम में मोक्ष का अंग कहा गया है इसलिए वह तप भी अपनी शक्ति को नहीं छिपाने वाले और अपने मन को वश में रखने वाले पुरुष के द्वारा सेवन योग्य है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव का भाव है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए तप भी विशेष हेतु है। बिना तप अंगीकार के कर्मों की निर्जरा अशक्य है। मोक्षाभिलाषी को मन को वश में रखकर शक्ति को न छिपाकर तप अवश्य ही करना चाहिए । तत्त्वार्थसूत्रकार ने **'तपसा निर्जरा च'** इस सूत्र के द्वारा तप को संवर और निर्जरा का मुख्य कारण बताया है । तप के बिना मोक्षमार्ग ही प्रशस्त नहीं होता । तप सम्यक्चारित्र में अन्तर्भूत है। चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है और तप के बिना चारित्र नहीं है अतः जो तप की उपेक्षा करते हैं, तप को भी क्रियाकाण्ड जैसे शब्द से व्यवहृत करते हैं, उन अज्ञानियों को संबोधन करते हुए आचार्य कहते हैं कि तप को क्रियाकाण्ड कहकर निज आत्मा के शत्रु मत बन जाना। जो संयम चारित्र की अवहेलना कर रहा है ज्ञान की अवहेलना कर रहा है, वह अपनी आत्मा का घात अपने द्वारा ही कर चुका है। हाँ, यदि वह तप परमार्थ से शून्य है तो क्रियाकाण्ड है क्योंकि जो व्रती शील व संयम को धारण करके भी परमार्थ से शून्य होते हैं वे निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। परमार्थ से शून्य होकर जो कुछ भी करोगे, वह सब संसार का हेतु बनेगा। जो तप को मोक्षमार्ग नहीं मानता है वह जैन आगम से बाह्य अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ आचार्य तप के माध्यम से सम्यक् तप की चर्चा कर रहे हैं, जो कषायों का उपशमन कर जैनाचार्यों द्वारा बताये गये तप की आराधना करता है, वही मोक्षमार्गी है। वर्तमान में नाना भेष बनाकर कठोर से कठोर क्रियाओं को करते हुए खोटा तप तपा जा रहा है, उससे संसार समाप्त होने वाला नहीं है इसलिए जिनमत में प्रतिपादित तप का आचरण ही कर्म-क्षय का निमित्त है।

तप मुख्य रूप से मुनि आचरण का विषय है। मुनि ही महाव्रती कहा गया है और उसके द्वारा ही निर्दोष रीति से तप की साधना की बात शास्त्रों में कही गयी है।

आत्मशोधन की साधनभूत प्रक्रिया—तप को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सकल चारित्र के प्रतिपादन में अनशन, अवमौदर्य, विविक्त शय्यासन, रसत्याग, कायक्लेश, वृत्ति परिसंख्यान को बाह्यतप कहा है। इनसे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है।

बाह्य तपों और अभ्यन्तर तपों की संख्या और संज्ञा तो सभी आचार्यों ने समान रूप से स्वीकार की है किन्तु क्रम में भेद पाया जाता है, जैसे मूलाचारकार ने निम्न क्रम लिखा है—

अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ व वुत्ति परिसंख्या।
कायस्स व परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठी।।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश तथा विविक्तशय्यासन-ये बाह्य तप के छह भेद हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार के अनुसार **'अनशनावमौदर्यवृतिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन कायक्लेशाः बाह्यं तपः'**—ये छः बाह्य तप हैं।

मूलाचार की परम्परा का अनुसरण तत्त्वार्थसूत्रकार ने संज्ञा के अर्थ में किया है किन्तु मूलाचार में कायक्लेश का उल्लेख पाँचवें क्रम पर और विविक्त शय्यासन का छठें स्थान पर है। तत्त्वार्थसूत्र में विविक्तशय्यासन को पाँचवें स्थान

पर रखा है और कायक्लेश को छठे स्थान पर रखा है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में विविक्तशय्यासन को तृतीय स्थान पर, कायक्लेश को पाँचवें स्थान पर तथा वृत्तिपरिसंख्यान को छठे स्थान पर रखकर तत्त्वार्थसूत्र के क्रम को औचित्यपूर्ण सिद्ध करते हैं क्योंकि वृत्तिपरिसंख्यान का संबन्ध आहारचर्या से औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। विविक्तशय्यासन के बाद कायक्लेश भी संगतिपूर्ण है।

1.2 बाह्य तप के छह भेद—

अनशन—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारों का सर्वथा परित्याग कर देना अनशन है। धवला, तत्वार्थ वार्तिक' आदि ग्रन्थों में अनशन का विशेष वर्णन है।

अवमौदर्य—भूख से एक ग्रास, दो ग्रास, तीन ग्रास आदि क्रम से भोजन घटाकर लेना। घटते-घटते एक ग्रास मात्र लेना अवमौदर्य तप है। यह संयम की जागरुकता, दोषप्रशम, सन्तोष, स्वाध्याय और सुख की सिद्धि के लिए किया जाता है।

विविक्त शय्यासन—अध्ययन और ध्यान में बाधा करने वाले कारणों के समूहरहित विविक्त/एकान्त एवं पवित्र स्थान में शयन करना, बैठना आदि जो है, वह विविक्तशय्यासन तप है। विविक्त (एकान्त) में सोने-बैठने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है, ध्यान और स्वाध्याय की वृद्धि होती है और गमनागमन के अभाव से जीवों की रक्षा होती है।

शास्त्रों में शून्य घर, पहाड़ी की गुफा, वृक्ष का मूल, देवकुल, शिक्षाघर, किसी के द्वारा न बनाया गया स्थान, आराम घर, क्रीड़ा के लिए आये हुए के आवास के लिए बनाया गया स्थान, ये सब विविक्त वसतिकाएँ हैं। ऐसी वसतिका में रहने वाला साधक कलह आदि दोषों से दूर रहता है। ध्यान-अध्ययन में बाधा को प्राप्त नहीं होता। जहाँ स्त्री, नपुंसक और पशु न हों तथा उद्गम, उत्पादन दोष से रहित वसतिका हो वहीं साधु को रहना चाहिए, जहाँ राग परिणाम बढ़े और गृहस्थों का वास हो-"तिर्यंच—गाय-भैंस आदि, मनुष्य, स्त्री, स्वेच्छाचारिणी वेश्या आदि, भवनवासिनी, व्यन्तर आदि, विकारी वेशभूषा वाली देवियाँ अथवा गृहस्थजन सहित गृहों को अर्थात् वसतिकाओं को छोड़ देना चाहिए।"

रसत्याग—रसों के त्याग को रसत्याग कहा जाता है। दूध, दही, घी, तेल, शक्कर और नमक तथा घृतपूर्ण अपूप, लड्डू आदि का त्याग करना, इनमें एक-एक रस का या सभी रसों का छोड़ना तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रसपरित्याग है। इन्द्रियों के जीतने वाले मुनिराज घृतादि गरिष्ठ रसों के त्यागी होते हैं।

तत्त्वार्थवार्तिककार ने रसों के भेद न गिनकर 'घृतादिरसव्यंजन' घृत, दही, गुड़, तेल आदि रसों को छोड़ना रसत्याग है" इतना ही कहा है, साथ में प्रश्न किया है कि जितनी भी पौद्गलिक वस्तुएँ हैं, सभी रस वाली हैं, उन सब का उल्लेख होना चाहिए, तब भट्ट श्री अकलंकदेव ने उत्तर दिया कि यहाँ विशेष रस से प्रयोजन है कि जो रस इन्द्रियों को विशेष रीति से लालायित करने वाला है, उसी का त्याग आवश्यक है। तत्त्वार्थसार में नमक को रस नहीं गिनाया। मात्र तेल, क्षीर, इक्षु, दधि और घी को लिया है। तत्त्वार्थवार्तिक में नमक का ग्रहण किया गया है। इस तप से प्रबल इन्द्रियों की विजय होती है। रस ऋद्धि आदि महाशक्तियाँ प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कायक्लेश—अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापन, वृक्षमूल, सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। मूलाचार में कहा है—"खड़े होना, कायोत्सर्ग करना, सोना, अनेक विधि नियम ग्रहण करना और इन क्रियाओं के द्वारा आगमानुकूल कष्ट सहन करना, यह कायक्लेश तप है।" इस तप को आसन, शयन आदि क्रियाओं के माध्यम से करना चाहिए, आसन—वीरासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, पद्मासन, हस्तिशुण्डासन आदि। शयन—शव-शय्या, गो-शय्या, दण्ड-शय्या तथा चाप-शय्या आदि। इनके सिवाय शरीर से ममत्व छोड़कर श्मशान आदि में कायोत्सर्ग से खड़े रहना काय-क्लेश-तप के प्रकार है। दातून नहीं करना, खुजली, स्नान तथा झुकने का त्याग, रात में जागते रहना और केशलोच-ये सब कायक्लेश कहे गये हैं। कायक्लेश तप करने से बल ऋद्धि आदि अनेक महाऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाला

सुख प्राप्त होता है और कामेन्द्रिय पर विजय होती है, विषय-सुखों में आसक्ति नहीं होती है तथा धर्म की प्रभावना होती है।

वृत्तेः संख्या (वृत्ति परिसंख्यान) — कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिए प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इस प्रकार पड़गाहन होगा तो आहार लूँगा, अन्यथा नहीं, इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेना वृत्तिपरिसंख्यान है। एक घर, सात घर, एक गली, अर्द्धग्राम आदि के विषय का संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। घरों, दाता, बर्तनों या भोजन का नियम भी वृत्तिपरिसंख्यान तप है। यह तप आशा, तृष्णा की निवृत्ति के लिए किया जाता है। वृत्तिपरिसंख्यान तप करने से योगियों में धीर-वीरता उत्पन्न होती है। आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं। लोलुपता का भी विनाश होता है।

1.3 अन्तरंग तप के छह भेद—

बाह्य तपों के विवेचन के बाद अन्तरंग तपों का वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में किया गया है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव अभ्यन्तर तपों के भेदों का उल्लेख कर उन्हें पालने को कहते हैं-

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरंगमिति।।

विनय, वैय्यावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान आदि इन अन्तरंग तपों का सेवन करना चाहिए ।

पूर्वाचार्यों ने बाह्य तपों के समान अन्तरंग तपों के नाम तो समान ही दिए हैं किन्तु क्रम में भिन्नता है।

आचार्य श्री वट्टकेर — प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग; आचार्य उमास्वामी — प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान; आचार्य अमृतचन्द्र — विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय, ध्यान।

इनमें केवल व्युत्सर्ग और उत्सर्ग शब्द का अन्तर है ।

ये प्रायश्चित्त आदि अन्य धर्मावलम्बियों के द्वारा अनभ्यस्त हैं, उनसे नहीं किये जाते हैं, अतः इनको उत्तर और अभ्यन्तर तप कहते हैं। वे प्रायश्चित्तादि तप अन्तःकरण के व्यापार का अवलम्बन लेकर होते हैं इसलिए इनके अभ्यन्तरत्व है अथवा वे प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते हैं इसलिए इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं।

विनय — विनीत होना विनय है, कषाय और इन्द्रियों का मर्दन करना विनय है अथवा विनय के योग्य गुरुजनों के विषय में यथायोग्य नम्र भाव रखना विनय है। दर्शन, ज्ञान, तप, चारित्र, उपचार के भेद से चार प्रकार का है और तप को मिलाकर पाँच प्रकार का है।

वैय्यावृत्य — आपत्ति का प्रतिकार करना वैयावृत्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, ध्यान, अध्ययन आदि साधर्मियों के कार्य के लिए पुस्तक आदि उपकरणों को देना, इन शास्त्रों की व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्तिपूर्वक और भी साधर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना, सो सब वैयावृत्य कहलाता है। मूलाचार में कहा है—

आइरियादिसु पंचसु सबाल बुड्ढा उलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए।।

आचार्य आदि पाँचों में, बाल-वृद्ध से सहित गच्छ में वैयावृत्य को कहा गया है, सो सर्वशक्ति से वैय्यावृत्य करना चाहिए।

तप और त्याग आचार्यों ने शक्ति के अनुसार करने को कहा है किन्तु वैयावृत्ति में सर्वशक्ति से करने का विधान है। इससे वैय्यावृत्ति के विशेष महत्त्व को सूचित किया है।

यहाँ विनय के बाद वैयावृत्य रखने का मुख्य कारण है कि अहंकारी किसी की सेवा नहीं कर सकता है। आचार्य श्री वट्टकेर' और "आचार्य श्री उमास्वामी" ने वैयावृत्य के दस भेद बतलाये हैं। तपस्वियों की वैयावृत्ति का फल स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रायश्चित्त— शिष्य चित्त की शुद्धि के लिए तो स्वयं ही गुरु चरणों में दण्ड लेने के लिए जाता है और कहता है कि प्रभु! मुझे शुद्ध करो, जिसकी आत्मा में विशुद्धता नहीं है उसके प्रायश्चित्त लेने के परिणाम कभी नहीं होते, निज चित्त की शुद्धि जिससे हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। गुरु से प्रायश्चित्त भी लिया और चित्त की मलिनता दूर नहीं हुई तो ऐसे प्रायश्चित्त लेने से क्या लाभ ?.... इसके स्वरूप पर चर्चा पूर्वग्रन्थों के आधार पर करना भी प्रासंगिक है। आचार्य श्री वट्टकेर स्वामी अपर नाम श्री कुंदकुंदचार्य ने मूलाचार में लिखा है— 'अपराध को प्राप्त हुआ जीव जिस तप के द्वारा अपने पूर्व संचित पापों से विशुद्ध हो जाता है वह प्रायश्चित्त है, जिससे स्पष्टतया पूर्व के व्रतों से परिपूर्ण हो जाता है वह तप भी प्रायश्चित्त कहलाता है। आचार्य वीरसेन ने कहा है संवेग और निर्वेद से युक्त, अपराध करने वाला साधु अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त नाम से तपः कर्म है। इसके आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तप-छेद-परिहार-उपस्थापना आदि 9 भेद हैं।

व्युत्सर्ग— निजस्वभाव की लीनता ही व्युत्सर्ग तप है । बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहों का ममत्व त्याग कर तथा शरीर छोड़कर सज्जन पुरुष जो ध्यानपूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं, वह व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग तप है।

शरीर के प्रति ममत्व तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह के समागम का त्याग करना मुनि का व्युत्सर्ग तप है। जो शरीर से पूर्णतया निर्ममत्व होते हैं उन साधुओं के उत्सर्ग तप है, जो शरीर-पोषण में लगा रहता है, उसके यह तप कैसे होगा ?.... इसके दो फल हैं। इस तप के प्रभाव से कर्म क्षय होते है एवं ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वाध्याय— स्वयं के अध्याय का अध्ययन जिसमें हो, उसका नाम स्वाध्याय है। वट्टकेर आचार्य कहते हैं कि जिनोपदिष्ट बारह अंगों और चौदह पूर्वों का उपदेश करना, प्रतिपादन आदि करना स्वाध्याय है। यह परम तप है क्योंकि कर्मों की निर्जरा का जितना समर्थ कारण स्वाध्याय है, उतना अन्य तप नहीं। स्वाध्याय की महिमा शास्त्रों में विस्तार से वर्णित है। स्वाध्याय के पाँच भेद— वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश हैं। स्वाध्याय का फल केवलज्ञान प्राप्ति कहा गया है। आचार्य सकलकीर्ति का कहना है "जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धान्त ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं, उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है अतः स्वाध्याय नियमपूर्वक करना परमावश्यक है।

ध्यान— ध्यान के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने स्वतंत्र ग्रंथों की रचनाएँ की हैं अतः ध्यान का महत्त्व अपने आप सिद्ध होता है। विचार यह करना है कि किसका ध्यान, कौन सा ध्यान कार्यकारी है ?....इस प्रश्न का आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा समाधान दिया गया कि 'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है' अर्थात् उत्तम संहननधारी पुरुष ही ध्याता हो सकते हैं। एक पदार्थ को लेकर चित्त को उसी में स्थिर कर देना ध्यान है। ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार भेद हैं। अन्य प्रकार से निश्चयध्यान और व्यवहारध्यान अथवा प्रशस्तध्यान और अप्रशस्तध्यान रूप से भी भेद बताये गये हैं। आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भी चार भेद हैं। प्रथम दो ध्यान संसार के कारण हैं और बाद के धर्म्य तथा शुक्ल मोक्ष के कारण हैं, इस प्रकार बाह्य तप और अभ्यन्तर तपों का सर्वजन-संवेद्य प्रतिपादन किया गया। दोनों प्रकार के तपों की साधना के बिना न मोक्षमार्ग है और न मोक्ष की प्राप्ति है।

बहिरंग तपों के बाद अन्तरंग तप तपने में कारण-कार्य सम्बन्ध दिखाकर आचार्यों ने सुन्दर व्याख्यान किया है— बहिरंग तप क्यों करें ?... अन्तरंग की सिद्धि के लिए जैसे— वटलोई तपाते हो, पर वटलोई को तपाने-मात्र पर दृष्टि नहीं है, दृष्टि दूध पर है उसी प्रकार मुमुक्ष जीव बहिरंग तप करता जरूर है लेकिन दृष्टि अन्तरंग आत्म-रूप दुग्ध को शुद्ध करने की होती है। वटलोई के तपे बिना दुग्ध तपता भी तो नहीं है। यहाँ बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकार के तपो की उपादेयता दिखलायी गई है, जो सर्वथा उचित है।

अन्तरंग तप के बिना बहिरंग तप तो महत्वहीन होता है क्योंकि यह सुनिश्चित है कि बहिरंग तपस्या से मुनिराज तो

बनते हैं परन्तु गुणस्थान तभी बनता है जब बहिरंग में निर्ग्रंथभेष तथा अन्तरंग में तप होता है और वही तपस्वी है। तपस्वी की बाह्य तप साधना संक्लेशों का निवारण कराती है और अभ्यन्तर तप मनःशुद्धिपूर्वक आत्मशुद्धि में कारण होते हैं इसीलिए तप को आत्मोत्थान का प्रशस्त पथ कहना सयुक्तिक ही है। तप साधु जीवन का सर्वस्व है। वे तप साधना के द्वारा सकलविभूति के स्वामीपने को प्राप्त हो सकते हैं। यह सब माहात्म्य तप साधना का ही है। तप की उत्कृष्ट आराधना और साधना से तीर्थंकर जैसे गौरवपूर्ण पद की भी उपलब्धि होती है।

1.4 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को प्रगट करने के लिए इच्छा का निरोध करना क्या कहलाता है ?

(क) मोक्षमार्ग ☐ (ख) तप ☐ (ग) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ☐

प्रश्न 2-"जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे तप से ही प्राप्त होती हैं" ऐसा किन आचार्य ने कहा है ?

(क) आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ☐

(ख) आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ☐

(ग) आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ☐

प्रश्न 3-मोक्षाभिलाषी को मन को वश में रखकर.....को न छिपाकर तप अवश्य ही करना चाहिए ।

(क) त्याग ☐ (ख) चारित्र ☐ (ग) शक्ति ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार बाह्य तप के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 2-विविक्तशय्यासन तप की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 3-मूलाचार ग्रंथ के अनुसार कायक्लेश तप का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 4-प्रायश्चित्त तप का लक्षण बताते हुए उनके भेद एवं नाम बताइए ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-विभिन्न आचार्यों के अनुसार अन्तरंग एवं बाह्य तप का जो-जो क्रम रखा गया है, उसे विस्तार सहित बताइए ?

पाठ 2—कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत पर्याप्ति की विवेचना (आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में)

2.1 जैनदर्शन अपने मौलिक चिन्तन के लिए प्रसिद्ध रहा है। कर्म सिद्धान्त निक्षेप, नय, गुणस्थान, स्याद्वाद आदि सिद्धान्त इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। पर्याप्ति भी जैनदर्शन का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य है। दार्शनिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, साथ ही यह आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में भी अपना महत्त्व रखता है।

पर्याप्ति जीव की एक विशिष्ट शक्ति है, जिसके द्वारा वह आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण करता है तथा उन्हें उपयुक्त आहार, शरीर, इन्द्रियादि के रूप में परिणत करता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्ति, आहार, शरीरादि की निष्पत्ति का ही दूसरा नाम है। वस्तुतः जीव एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब भावी जीवन की यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्‌गलिक सामग्री का निर्माण करता है। इसे या इससे उत्पन्न होने वाली शक्ति को या पौद्‌गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं जैन ग्रंथों में छह प्रकार की पर्याप्तियों का उल्लेख मिलता है। इनके नाम हैं—1. आहार पर्याप्ति, 2. शरीर पर्याप्ति, 3. इन्द्रिय पर्याप्ति, 4. श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति, 5. भाषा पर्याप्ति 6. मनः पर्याप्ति। इन सब की विस्तृत चर्चा के पूर्व पर्याप्ति की व्याख्या विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में की जा रही है।

पर्याप्ति—शक्ति पुद्‌गल परमाणुओं के उपचय से उत्पन्न होती है अर्थात् पर्याप्ति वह शक्ति है जिसके द्वारा जीव उत्पत्ति—देश में आये हुए नवीन पुद्‌गल परमाणुओं को तथा प्रतिसमय जो अन्य परमाणु ग्रहण किए जा रहे हैं, उन दोनों में सम्पर्क कराता है और इस क्रिया के फलस्वरूप जो परिवर्तन होता है उसको आहार, शरीर, इन्द्रियादि रूपों में परिवर्तित करता है। तात्पर्य यह है कि पर्याप्ति के द्वारा ही जीव के शरीर, इन्द्रियादि की उत्पत्ति या निर्माण संभव है। काय या शरीर निर्माण के लिए आहारादि की आवश्यकता होती है। आहार रूप में समस्त वस्तुओं का उपयोग संभव नहीं है। यह निर्णय करना होता है कि कौन सी वस्तु आहार योग्य है और कौन सी अनाहार्य है और इसका निर्णय पर्याप्ति के द्वारा ही संभव है। आहार ग्रहण के बाद उसके पोषक तत्त्वों को शरीर-निर्माण की प्रक्रिया के योग्य बनाना भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। पर्याप्ति के द्वारा यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। कमोबेश स्थिति यह है कि जीव को अपने जीवन क्रम को बनाए रखने के लिए पर्याप्ति शक्ति से युक्त होना आवश्यक है।

जीव प्रतिक्षण आहार योग्य पुद्‌गल परमाणुओं को ग्रहण करता रहता है अर्थात् वह भोजन ग्रहण करता है। यह बात व्यवहार में कुछ अटपटी लगती है कि जीव प्रतिक्षण तो आहार ग्रहण नहीं करता; हाँ, कुछ अंतराल पश्चात् अवश्य आहार लेता है। दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिक्षण आहार पुद्‌गलों को ग्रहण करने की बात कुछ अर्थों में सही है; परंतु एक बात तो निश्चित है कि जीव आहार योग्य पुद्‌गल परमाणु को ग्रहण करता है। आहार ग्रहण के पश्चात् जीव के आंतरिक अंगों में उत्तेजनाएँ होती हैं, जिनके फलस्वरूप कुछ रासायनिक तत्त्व की उत्पत्ति होती है तथा कुछ यांत्रिक क्रियाएँ भी होती हैं और अंततः आहार योग्य पुद्‌गल परमाणु रस रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। यही रस जीव के अंग-उपागों का निर्माण करता है।

जीवों में चय (Anabolic) एवं अपचय (Catabolic) नामक दो तरह की क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। इन दोनों का संयुक्त नाम है चयापचय (Metabolism)। चय के द्वारा शरीर में निर्माण की प्रक्रिया होती है तथा अपचय के द्वारा नाश की। जीव का अस्तित्व इन दोनों क्रियाओं पर ही आधारित है क्योंकि जीव के शरीर के विभिन्न अवयवों के निर्माण के साथ-साथ उनके विनाश की प्रक्रिया भी आवश्यक है। अगर ऐसा नहीं होगा तो जीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

जब कोई रोगाणु जीव शरीर पर आक्रमण करता है, तब जीव के शरीर में उपस्थित श्वेत रक्तकण (White

bloodcorpuscells) उसकी रक्षा इन आक्रमणकारियों से करता है इस क्रम में शरीर के अंदर रक्त की मात्रा अधिक बनने लगती है और ये रक्त कण रोगाणुओं से लड़ते हैं और उसे मार डालते हैं। श्वेत रक्त के बनने की प्रक्रिया चय की क्रिया है। जब रोगाणु मर जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं तब ये श्वेत रक्तकण भी नष्ट होने प्रारंभ हो जाते हैं। इनका नष्ट होना अपचय की क्रिया है।

श्वेत रक्तकण का नष्ट होना क्यों आवश्यक है, इसे इस ढंग से समझा जा सकता है। जीव के शरीर में श्वेत और लाल रक्तकण पाए जाते हैं और इनकी मात्राएँ भी निर्धारित होती हैं। अगर ये दोनों रक्तकण अपनी इस सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो शरीर में चयापचय की क्रिया प्रारंभ होने लगती है और पुनः सीमा का निर्धारण हो जाता है।

लाल रक्त प्राणवायु को अपने साथ सारे शरीर में ले जाता है। इसके अतिरिक्त यह सम्पूर्ण शरीर को गर्मी भी प्रदान करता है। अगर शरीर में श्वेत रक्त की मात्रा बढ़ जाएगी तो लाल रक्त की मात्रा कम हो जाएगी जिसके फलस्वरूप शरीर विभिन्न तरह की व्याधियों से आक्रान्त हो जाएगा और अंततः इसका अस्तित्व मिट जाएगा। अगर सिर्फ लाल रक्त ही अधिक बनेंगे तो श्वेत रक्त कम हो जाएगा और वस्तुस्थिति वही होगी अर्थात् शरीर का विनाश अतः शरीर में चयापचय या निर्माण एवं विनाश का महत्त्व समझ में आ जाता है।

पर्याप्ति और चयापचय का संबंध भी समझ में आ जाता है। चूँकि पर्याप्ति के द्वारा शरीर, इन्द्रियादि अंगों के निर्माण के साथ-साथ श्वासोच्छ्वास, भाषा तथा भावनाओं (मन) को भी जोड़ दिया गया है, इस अर्थ में यह चयापचय से कुछ भिन्न अवश्य लगता है परंतु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। चयापचय तो एक उदाहरण है और यह भी सत्य है कि जीव की अधिकांश क्रियाएँ इसी का परिणाम हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जीव अपने कार्यों के सम्पादन हेतु चयापचय क्रिया पर ही आधारित है।

2.2 छह प्रकार की पर्याप्तियों का वर्णन—

1. आहार पर्याप्ति—जीव जन्म-ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को 'आहार पर्याप्ति' कहते हैं।

आहार पर्याप्ति के बारे में जीव वैज्ञानिकों की व्याख्या इस प्रकार है। आहार ग्रहण करना एवं उसे रस रूप में परिवर्तित करने के लिए जीवों के शरीर को विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं। आहार ग्रहण करते ही मुँह से ही पाचन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। यहाँ 'टाइलिन' नामक एक रासायनिक तत्त्व निकलता है जो आहार में उपस्थित 'वसा' तत्त्व के साथ क्रिया करता है। 'वसा' एक कार्बनिक जटिल तत्त्व है, जो सरल तत्त्व में बदल जाता है। इसके बाद भोजन पेट में आता है। पेट में बहुत ही लंबी आहार नली होती है और इससे अनेक तरह के रासायनिक तत्त्व निकलते हैं। ये रासायनिक तत्त्व आहार को पूर्णतः रस के रूप में बदल देते हैं और यही रस शरीर के द्वारा सोख लिया जाता है तथा बाकी बचे हुए पदार्थ मल के रूप में निकल जाते हैं।

संभवतः जीव वैज्ञानिकों ने आहार पर्याप्ति को पाचन क्रिया के साथ जोड़ा है और यह जैन विद्वानों को मान्य नहीं भी हो सकता है परंतु आहार पर्याप्ति के द्वारा जो योग्य आहार (पुद्गल समूह) ग्रहण किया जाता है एवं उसे रसरूप में परिवर्तित किया जाता है, इसका क्या अर्थ लगाया जाए क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि पाचन क्रिया के द्वारा ही आहार रस रूप में बदल जाता है अतः 'आहार पर्याप्ति' को आधुनिक विज्ञान में वर्णित 'पाचन क्रिया' मानने में किसी तरह की समस्या नहीं होनी चाहिए।

2. शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा आहार-रस को सात धातुओं में बदल दिया जाता है, उसे 'शरीर पर्याप्ति' कहते हैं। शरीर में उपस्थित सात धातुएँ हैं—1. रस, 2. रक्त, 3. मांस, 4. मेद, 5. हड्डी, 6. मज्जा, और

7. वीर्य। इन्हीं सात धातुओं से शरीर का निर्माण होता है क्योंकि प्रत्येक जीव के शरीर में किसी न किसी रूप में रक्त, मांसादि आवश्यक रूप से विद्यमान रहता है। इनके बिना किसी प्रकार से शरीर की कल्पना करना संभव नहीं है।

ग्राह्य आहार का जब पूर्णतया पाचन हो जाता है अर्थात् रस में बदल जाता है तब शरीर के आंतरिक अंग उन रसों को सोखते हैं और इसकी सहायता से सात प्रकार की धातुओं का निर्माण करते हैं। धातु निर्माण एक अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। भोजन के तत्त्व में कई तरह के कार्बनिक एवं अकार्बनिक रासायनिक तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों के परस्पर मिलने से ही इन सात तरह की धातुओं का निर्माण होता है।

रक्त में विशेषकर लाल रक्त में लौह तत्त्व होता है जो ऑक्सीजन से मिलता है और इन दोनों में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। इसके फलस्वरूप ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। यही ऊष्मा हमारे शरीर को गर्मी पहुँचाता है और हम स्वस्थ रहते हैं। ऑक्सीजन श्वसन के साथ शरीर के अंदर आता है तथा रक्त में लौह तत्त्व आहार के साथ आता है। लाल रक्त में जो लाली है वह लौह तत्त्व के कारण ही है। वैज्ञानिक इसे हीमोग्लोबिन कहते हैं। इसी प्रकार अन्य धातुओं के बारे में भी समझना चाहिए। अस्थि को ही लिया जाए, यह कैल्शियम और कार्बोनेट नामक रासायनिक तत्त्व से बनती है। यद्यपि अस्थि बनने की क्रिया भी अत्यन्त जटिल है परंतु इतना तो मानना ही पड़ता है कि इसके निर्माण में आहार-रस का ही हाथ है।

3. इन्द्रिय पर्याप्ति—धातु रूप को इन्द्रिय रूप में परिवर्तित करने की शक्ति को 'इन्द्रिय पर्याप्ति' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आहार ग्रहण किया गया, वह 'आहार पर्याप्ति' के द्वारा धातु रूप में बदल गया और यही धातु जब इन्द्रिय रूप में बदलता है तो यह इन्द्रिय-पर्याप्ति कहलाती है अर्थात् धातु का इन्द्रिय रूप में बदलना इन्द्रिय पर्याप्ति के कारण संभव है। आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति एवं इन्द्रिय पर्याप्ति में एक तारतम्य दृष्टिगोचर होता है क्योंकि हम देखते है कि क्रमशः आहार, धातु एवं इन्द्रिय निर्माण की प्रक्रियाएँ एक क्रम में वर्णित पाचन क्रिया, पाचकरस के द्वारा निर्मित रसों से रक्तादि बनने की प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।

इन्द्रियादि अंगों के निर्माण की प्रक्रिया का नाम कायनिर्माण या (Morphology) है। इन्द्रिय पर्याप्ति के द्वारा ही जीव के बाह्य अंग बनते हैं अतः इन्द्रिय-पर्याप्ति काय निर्माण का ही दूसरा नाम है। इसे मेंढक के काय निर्माण के द्वारा समझाया जा सकता है। मेंढक के अंडे का जब निषेचन होता है तो उसमें कोशिका के विभाजन के बाद एक अल्प विकसित टैडपोल निकलता है। यह टैडपोल केवल मुँह और पूँछ से युक्त होता है अतः इस समय यह बाह्य आहार नहीं ले सकता है। इस समय यह अपने अंदर की कोशिका को ही आहार रस के रूप में ग्रहण करता है तथा उसे ही धातु रूप में बदलकर शरीर के अन्य अगांगों का निर्माण करता है। बाद में श्वसन हेतु आंतरिक एवं बाह्य गिल बन जाते हैं, मुँह के दोनों जबड़ों में दाँतें बन जाती हैं एवं देह गुहा का भी निर्माण हो जाता है। इस देह गुहा में एक लम्बी सी आहार नाल होती है। अब वह बाह्य आहार लेने लगता है।

बाह्य आहार लेने के बाद पुनः इसके अन्य अंगों का निर्माण होता है अर्थात् एक पूर्ण मेंढक बनने की प्रक्रिया शुरू होने लगती है और इसके बाह्य तथा आंतरिक अंगों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। इस क्रम में वह लगातार आहार लेता रहता है और आहार पाचन की सम्पूर्ण प्रक्रिया भी उसके आहार नाल में चलती रहती है। इन पाचक रसों के विभिन्न घटकों के परस्पर समायोजन से उसके अंग-प्रत्यय भी बनने प्रारंभ हो जाते हैं और यह प्रक्रिया मेंढक के जीवन पर्यन्त चलती रहती है। प्रारंभ में यह प्रक्रिया उसके अंग-प्रत्ययों का निर्माण करती है तथा बाद में यही क्रिया अंगों को बलशाली बनाने, उसमें होने वाली टूट-फूट को ठीक करने में सहायक होती है।

मेंढक के काय निर्माण का यह वर्णन जैनाचार्य द्वारा प्रतिपादित इन्द्रिय पर्याप्ति से मेल बैठाने के लिए किया गया

है। जैनाचार्यों ने इन्द्रियपर्याप्ति के बारे में जो कुछ भी कहा है वह आधुनिक विज्ञान में प्रतिपादित काय निर्माण की प्रक्रिया को ही इंगित करता है।

4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति—योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करने की शक्ति श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ही है। इसे प्राणापाण पर्याप्ति भी कहा जाता है।

वायु में विभिन्न तरह के गैस हैं। श्वांस एवं प्रश्वांस की प्रक्रिया में ऑक्सीजन नामक गैस ली जाती है और कार्बन-डाईआक्साइड नामक गैस छोड़ी जाती है। जब हम श्वांस लेते हैं तब ऑक्सीजन के साथ-साथ वायु में मिली अन्य गैसें भी हमारे शरीर के अंदर चली जाती हैं। हम जो श्वांस लेते हैं, उसमें ऑक्सीजन के साथ-साथ अन्य कई गैसें भी रहतीं अवश्य हैं परन्तु शरीर के अंगों की बनावट एवं प्रक्रिया के फलस्वरूप मात्र ऑक्सीजन गैस ही उपयोग में लाई जाती है। ऑक्सीजन का संयोग अन्य तत्त्वों के साथ होता है जिसके फलस्वरूप ऊष्मा, कार्बनडाईआक्साइड आदि गैसें बनती हैं। कार्बनडाईआक्साइड प्रश्वांस के रूप में बाहर निकल आता है। यही प्रक्रिया श्वासोच्छ्वास कहलाती है।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति में कहा गया है कि श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना एवं उन्हें श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत कर देना ही श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति है। वस्तुतः इसका यही अर्थ है कि ऑक्सीजन ग्रहण करना और कार्बनडाइआक्साइड छोड़ना, क्योंकि श्वासोच्छ्वास का सही अर्थ भी यही है।

5. भाषा पर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव भाषा वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप में परिणत करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि के रूप में छोड़े, वही शक्ति 'भाषा पर्याप्ति' है। भाषा-पर्याप्ति जीव की वाक्शक्ति का द्योतक है। इसी के माध्यम से जीव अपनी अभिव्यक्ति को शब्द या भाषा रूप में व्यक्त कर पाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार ध्वनि ऊर्जा का एक रूप है तथा इसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में समय भी लगता है तथा माध्यम की भी आवश्यकता होती है। ध्वनि जब निकलती है तो वह वातावरण को कम्पित कर देती है और इसी कम्पन के फलस्वरूप वह सुनाई पड़ती है। जहाँ ध्वनि उत्पन्न होती है वहाँ कम्पन होता है और जब किसी वस्तु के कम्पन उत्पन्न होता है तो वह ध्वनि उत्पन्न करने लगता है। अब समस्या यह है कि ध्वनि बजती हुई घंटी से या अन्य माध्यम से हमारे कानों तक किस प्रकार पहुँचती है ?... अगर इस बिन्दु पर विचार करें तो हमारी समझ से ये दो तथ्य उपस्थित होते हैं—1. ध्वनि उत्पादक से छोटे-छोटे टुकड़े निकलते हैं जो हमारी आखों को दिखाई नहीं देते हैं परन्तु हमारे कानों से टकराकर ध्वनि का अनुभव कराते हैं; 2. ध्वनि उत्पादक एक ऊर्जा केन्द्र के समान कार्य करता है और वायु से तरंगें उत्पन्न करता है और वे तरंगें हमारे कानों से टकराकर ध्वनि का अनुभव कराती हैं।

प्रमाण एवं प्रयोगों के आधार पर यह निश्चित हो गया है कि ध्वनि तरंगें वायु से तरंगें उत्पन्न करती हैं और यही तरंगें जब हमारे कानों के परदे से टकराती हैं, तब हमको ध्वनि सुनाई देती है। अब प्रश्न यह है कि हम जो बोलते हैं, वही बातें कैसे सुनाई पड़ती हैं ?...इसका समाधान इस तरह से किया गया है। प्रत्येक जीव में ध्वनि उत्पन्न करने के लिए स्वर रज्जु होता है और यह भिन्न जीवों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है इसीलिए सभी जीवों की ध्वनि में अंतर होता है। वाक्शक्ति इन्हीं स्वर रज्जु की बनावट पर निर्भर करती है। जब कोई जीव किसी तरह के शब्द निकालना चाहता है तब उसके स्वर रज्जु पर दबाव डालता है और स्वर रज्जु की बनावट ऐसी होती है कि जब उस पर दबाव डाला जाता है तो उससे ध्वनि निकल पड़ती है। जिस तरह के शब्द बोलने होते हैं उन्हीं के अनुरूप स्वर रज्जु का प्रयोग किया जाता है तथा वह शब्द वायुमंडल को उसी दबाव से कम्पित करता है और उसी तरह की कम्पित वायु हमारे कान के परदे पर दबाव

डालती है एवं इस प्रकार हम अपने अनुरूप शब्द सुन लेते हैं।

6. मनः पर्याप्ति—मन को ग्रहण करने योग्य पुद्गल परमाणु को मन के परिणामी भावों में व्यक्त करने की शक्ति 'मनः पर्याप्ति' है। सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप चार प्रकार के मन योग्य पुद्गल द्रव्यों का अवलंबन कर चार प्रकार के मन की रचना यह जीव करता है, उस कारण की परिपूर्णता का होना मनः पर्याप्ति है। मनः पर्याप्ति के विषय अन्य पर्याप्तियों से अलग हैं। चूँकि मन-जैसी सत्ता का जिस रूप में वर्णन दार्शनिकों ने किया है, उस तरह की व्याख्या वैज्ञानिकों ने नहीं की है अतः मनः पर्याप्ति की वैज्ञानिक व्याख्या एक समस्या है, फिर भी एक प्रयास किया गया है।

जैनदर्शन के अनुसार जीव एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय से युक्त होते हैं। मन जैसी सत्ता मात्र पंचेन्द्रिय में ही होती है। यहाँ भी जैन दार्शनिकों ने सभी पंचेन्द्रियों को दो कोटियों में रखा है—1. संज्ञी, और 2. असंज्ञी। संज्ञी पंचेन्द्रिय ही मन से युक्त होते हैं। नारक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव के रूप में भी जीवों का विभेद किया गया है और इनमें मनुष्य, देव, नारकी संज्ञी ही होते हैं तथा तिर्यंच संज्ञी-असंज्ञी दोनों रूप में माने हैं। संज्ञी की विवेचना करते हुए 'पंचसंग्रह' में कहा गया है—"जो जीव किसी कार्य को करने से पूर्व कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की मीमांसा करे, तत्त्व और अतत्त्व का विचार करे, योग्य को सीखे और उसके नाम पुकारने पर आवे, वह संज्ञी जीव है और जो ऐसा नहीं करता है, वह असंज्ञी है। संज्ञी एवं असंज्ञी के लिए क्रमशः समनस्क एवं अमनस्क शब्द का ही प्रयोग मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संज्ञी जीव मन से युक्त होता है और यह विशेष प्रकार से विचार, तर्क आदि करने की शक्ति रखता है। यद्यपि चींटी जैसे निकृष्ट जीव में भी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति, प्रतिगमन और अनिष्ट पदार्थों से हटने की बुद्धि देखी जाती है परंतु उपरोक्त लक्षण के अभाव में वे संज्ञी नहीं कहे जा सकते हैं अर्थात् ऐसे जीव संज्ञी जीव की तरह विचार या तर्क नहीं कर पाते हैं।

'संज्ञी' और 'असंज्ञी' की इस चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुतः मन भी जीव की इन्द्रिय ही है परन्तु यह बाह्य नहीं आंतरिक इन्द्रिय है एवं आंतरिक संवेदनाओं यथा—सुख, दुःख जैसे मनोभावों को ग्रहण करता है। 'आधुनिक विज्ञान में भी अंतरिन्द्रिय की परिकल्पना की गई है और यही भूख-प्यास, सुख-दुःख जैसी अनुभूतियों को ग्रहण करता है। मन बाह्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रखता है तथा जब हमारे विरुद्ध कुछ घटित होता है तो हम तुरंत आक्रामक या गतिशील हो उठते हैं। जैन दार्शनिकों ने इन सबका कारण मन का सक्रिय होना माना है।

परन्तु वैज्ञानिकों ने जैनदर्शन में प्रतिपादित मन की अवधारणा को तंत्रिका तंत्र से जोड़ा है और यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जीव के समस्त क्रिया कलाप जो एक नियम से संचालित होते हैं वह वस्तुतः तंत्रिका तंत्र के कारण ही होता है। तंत्रिका तंत्र के मुख्य भाग मस्तिष्क, रीढ़-रज्जु तथा विभिन्न तरह की तंत्रिकाएँ (Nerves fibre) हैं। जब भी संवेदनाएँ हमारे ऊपर प्रभाव डालती हैं, तंत्रिकाएँ उन संवेदनाओं को ग्रहण करती हैं और तुरंत मस्तिष्क के पास पहुँचाती हैं। मस्तिष्क इस संदेश को प्रभावी अंगों तक पहुँचाने वाली तंत्रिका को प्रेरणा के माध्यम से भेजता है और वह अंग उस संवेदना को ग्रहण कर लेता है। हमारे ऊपर जब किसी तरह का आक्रमण होता है तो हम अनायास ही इस आक्रमण का प्रतिकार कर उठते हैं। इसका मुख्य कारण रीढ़-रज्जु है और वैज्ञानिकों ने रीढ़-रज्जु की तथा जीव की इस क्रिया को प्रतिवर्ती क्रिया (Reflexaction) का नाम दिया है अतः मनः पर्याप्ति के बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि यह आधुनिक विज्ञान के तंत्रिका संदेश तंत्र का ही दूसरा नाम है।

2.3 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-शरीरादि की निष्पत्ति का दूसरा नाम क्या है ?

(क) पर्याप्ति आहार ☐
(ख) गुणस्थान ☐
(ग) पौद्गलिक शक्ति ☐

प्रश्न 2-जैन ग्रन्थानुसार छहों पर्याप्तियों में से पाँचवीं पर्याप्ति का नाम-

(क) इन्द्रिय पर्याप्ति ☐
(ख) मनःपर्याप्ति ☐
(ग) भाषा पर्याप्ति ☐

प्रश्न 3-जीव जन्म ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गल को ग्रहण करता है, उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को.....कहते हैं।

(क) शरीर पर्याप्ति ☐
(ख) आहार पर्याप्ति ☐
(ग) इन्द्रिय पर्याप्ति ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-शरीर में उपस्थित धातुएँ कितनी और कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 2-मन कितने प्रकार का होता है, नाम बताइए ?

प्रश्न 3-जैन दार्शनिकों ने पंचेन्द्रिय जीवों को कितनी कोटियों में रखा है, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 4-वैज्ञानिकों ने जैनदर्शन में प्रतिपादित मन की अवधारणा को किससे जोड़ा है और उसे किस प्रकार स्पष्ट किया है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनदर्शन में वर्णित छहों पर्याप्तियों के नाम क्रमानुसार बताते हुए किन्हीं तीन पर्याप्तियों की परिभाषा बताइए ?

पाठ-3—कर्म सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

3.1 कर्म सिद्धान्त क्या है ?

जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है, अच्छे कर्म का अच्छा फल मिलता है, बुरे कर्म का बुरा। इस मान्यता या सिद्धान्त को कर्म सिद्धान्त कहते हैं। लोक में भी यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है, जो इन कहावतों से व्यक्त होता है—"जैसा करोगे, वैसा भरोगे" "जो बोओगे, वही काटोगे", As you sow, so will you reap. सन्तों की वाणी और शास्त्रों में भी यह सिद्धान्त बहुशः वर्णित मिलता है। जैसे—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा। (रामचरितमानस)

करता था तो क्यों रहा, अब करि क्यों पछताय।
बोवै पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय।। (कबीर)

जैनदर्शन में भी इस नियम को कर्म सिद्धान्त माना गया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे समयसार कलश में निम्नलिखित शब्दों में दर्शाया है—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।

अर्थात् अपने द्वारा किये गये कर्मों के उदय से ही जीवों को जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि फल प्राप्त होते हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने यही बात समयसार की निम्न गाथा में कही है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।102।।

अर्थात् आत्मा अपने जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उसका वह कर्त्ता और वही भाव उसका कर्म होता है तथा उसके ही फल को वह भोगता है।

3.2 जैनदर्शन का कर्म सिद्धान्त पूर्णतः मनोवैज्ञानिक—

जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त पूर्णतः मनोविज्ञान की आधारशिला पर स्थित है क्योंकि उसमें पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मों (पुद्गल निर्मित कर्मों) के उदय से आत्मा में उत्पन्न शुभाशुभ मनोभावों को ही मुख्यता से कर्म (भावकर्म) कहा गया है और बतलाया गया है कि उनके ही निमित्त से जीव नवीन द्रव्यकर्मों के बन्धन से बँधता है और वही जीव संसार में भ्रमण करते हुए क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, रोग, बुढ़ापा, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदि से मुक्त भी हो जाता है और जन्म-मरण आदि के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है। इस प्रकार आत्मा के बन्ध ओर मोक्ष उसके शुभाशुभ मनोभावों के सद्भाव और अभाव पर ही आश्रित हैं, द्रव्य कर्म उनके ही अनुचर हैं अतः जैनदर्शन का कर्म सिद्धान्त पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। इसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

3.3 मन का स्वरूप—

जैनदर्शन में मन दो प्रकार का माना गया है—द्रव्य मन और भाव मन। आत्मा के नो इन्द्रिय मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशय से प्रकट मतिज्ञान विशेष को भाव मन कहते हैं। मनोज्ञानरूप ज्ञान आत्मा का गुण है इसीलिए उसका आत्मा में अन्तर्भाव है—"**मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। तत्र भावमनो ज्ञानम्। तस्य जीव-गुणत्वादात्मन्यतर्भावः।**" (सर्वार्थसिद्धि)। 'भावमन' शब्द में भाव का अर्थ है चित्परिणाम, उस चित्परिणामात्मक इन्द्रिय का नाम भाव मन है—'**भावः चित्परिणामः तदात्मकमिन्द्रियं भावेन्द्रियम्।**' हृदयस्थल में जो अष्टदल कमल के आकार का पुद्गल से निर्मित, भाव मन के कार्य करने का (ज्ञानोपयोग रूप से परिणमित होने का) साधन

है वह द्रव्य मन कहलाता है–'**द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः। रूपादिवन्मनः ज्ञानोपयोग-करणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत्।** (स. सि.) '**यदष्टपत्रार्पिताकारं द्रव्यमनस्तदाधारेण शिक्षालापोपदेशग्राहकं भावमनः।**'' (**बृ. द्रव्यसंग्रह**)।

भावमन को अन्तःकरण भी कहते हैं क्योंकि उसे गुण–दोष–विचार तथा स्मरणादि व्यापार में इन्द्रियों की सहायता नहीं लेनी पड़ती तथा चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इसकी बाहर उपलब्धि नहीं होती अतः अन्तर्गत होने के कारण वह अन्तःकरण कहलाता है—''**तदन्तः करणमिति चोच्यते। गुण–दोष विचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियान-पेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं करणामन्तः करणमित्युच्चते।**'' (**स. सि.**)।

भाव मन में जो पदार्थों को (स्व पर को) जानने की इच्छा होती है उसे लब्धि कहा गया है और जानने के व्यापार को 'उपयोग' नाम दिया गया है—'**भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणम्।**' (पंचास्तिकाय)।

भाव मन का कार्य मतिज्ञान में भी होता है (**तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्**) और गुणदोषविचारात्मक श्रुतज्ञान में भी (''**श्रुतमनिन्द्रियस्य**'') अतः वह मतिज्ञानोपयोगरूप भी होता है और श्रुतज्ञानोपयोगरूप भी।

यद्यपि भाव मन ज्ञान का बहुमुखी साधन है। इन्द्रियाँ तो मात्र पदार्थों के वाचक शब्द को, पदार्थों को तथा पदार्थों की विचारगम्य विशेषताओं को भी जानती हैं और आत्मादि अरूपी पदार्थों तथा आत्मा के ज्ञानादि गुणों एवं शुभ–अशुभ–शुद्ध परिणामों को भी जानता है तथापि उसे इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय (ईषत् इन्द्रिय) कहा गया है। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थों को जानती हैं और कालान्तर में अवस्थित रहती हैं किन्तु मन नियत देश में स्थित पदार्थों को नहीं जानता और कालान्तर में अवस्थित नहीं रहता।

मन इन्द्रियों का नायक—

मन इन्द्रियों का नायक है। उसी की प्रेरणा से इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए भट्ट अकलंकदेव लिखते हैं—

'**चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः। कथम् ? शुक्लादिरूपं दिदृक्षुः प्रथमं मनसोपयोगं करोति 'एवंविधं रूपं पश्यामि, रसमास्वादयामि' इति। ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्याऽनिन्द्रियत्वम्।**' (**राजवार्तिक**)।

अनुवाद—चक्षु आदि इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानने में प्रवृत्त होने के पूर्व मन का व्यापार होता है। कैसे ? शुक्लादिरूप को देखने का इच्छुक पुरुष पहले मन में सोचता है कि मैं इस प्रकार के रूप को देखूँ, इस प्रकार से रस को चखूँ। तब उस मन के उपयोग से प्रेरित होकर चक्षु आदि इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं इसलिए मन अनिन्द्रिय कहलाता है।

श्री नागसेन मुनि ने तत्त्वानुशासन में कहा है कि इन्द्रियों का स्वामी मन है। वही उन्हें विषयों में प्रवृत्त करता है और वही उन्हें विषयों से निवृत्त करता है इसलिए मन को ही जीतना चाहिए। मन को जीत लेने वाला ही जितेन्द्रिय होता है–

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिञ्जितेन्द्रियः।।

परमात्मप्रकाशकार जोइन्दुदेव ने मन की प्रभुता को इन शब्दों में प्रकट किया है—

पंचहं णायकु वसि करहु, जेण होंति वसि अण्ण।
मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिं पण्ण।।

अनुवाद—पाँच इन्द्रियों के नायक इस मन को वश में करो, जिससे इन्द्रियाँ वश में होती हैं—'**येन वशीकृतेनान्यानीन्द्रियाणि वशीभवन्ति।**' वृक्ष की जड़ के नष्ट हो जाने पर पत्ते अवश्य सूख जाते हैं।

सभी इन्द्रियाँ एक साथ अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होतीं, भिन्न–भिन्न समय में भिन्न–भिन्न इन्द्रिय अपने विषय में व्यापृत होती हैं। इससे इन्द्रियों की विषय–प्रवृत्ति में मन की नियामकता सिद्ध होती है, और इसी में मन के अस्तित्व का भी अनुमान होता है। इस तथ्य की ओर भट्ट श्री अकलंकदेव ने इन शब्दों के द्वारा ध्यान आकृष्ट किया है–

''युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः। सत्सुचक्षुरादिकरणेषु शक्तिमत्सु, सत्सु च बाह्येषु रूपादिषु, सति चानेकस्मिन् प्रयोजने यतो ज्ञानानां क्रियाणां च युगपदनुत्पत्तिः, तदस्ति मन इत्यनुमीयते।''

अनुवाद—एक साथ सभी इन्द्रियाँ ज्ञान और क्रिया में प्रवृत्त नहीं होतीं, यह मन के अस्तित्व का हेतु है। चक्षु आदि इन्द्रियों के समर्थ होने पर भी, बाह्य रूपादि पदार्थों के उपस्थित रहने पर भी तथा उसके युगपत् जानने का प्रयोजन होने पर भी इन्द्रियाँ एक साथ ज्ञान और क्रिया में प्रवृत्त नहीं होतीं। इससे अनुमान होता है कि मन का अस्तित्व है। मन जिस समय जिस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान करना चाहता है, उस समय उसी के द्वारा ज्ञान और क्रिया होती है।

इस कथन की पुष्टि अकलंकदेव के इस वचन से भी होती है—**'मनसाऽधिष्ठितं हि इन्द्रियं स्वविषये व्याप्रियते।'** अर्थात् मन से अधिष्ठित होकर ही इन्द्रिय अपने विषय में संलग्न होती है।

3.4 मन के कार्य—

मन तीन प्रकार के कार्य करता है : ज्ञानात्मक, श्रद्धानात्मक और आचरणात्मक।

ज्ञानात्मक कार्य—

1. मन इन्द्रियों की सहायता से मूर्त पदार्थों को जानता है और पूर्वानुभव के स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, लक्षण इत्यादि के द्वारा विचार करके उनकी अतीन्द्रिय विशेषताओं एवं गुण-दोषों को जानता है।

2. वह आगम की सहायता से आत्मा, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन अमूर्त द्रव्यों को, स्वर्ग, नरक आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों को, जीवादि सात तत्त्वों एवं मोक्षमार्ग को, चिन्तन-मनन, ऊहापोह (वितर्क श्रुतम्) आदि के द्वारा जानता है।

3. वह अतीन्द्रिय आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञानादि गुणों को, क्रोधादि एवं क्षमादि परिणामों को, सुख-दुःखादि भावों को, विभिन्न शुभाशुभ इच्छाओं को तथा चित्तप्रसादजन्य सामान्य अतीन्द्रिय सुख एवं निर्विकल्पसमाधिसंजात विशिष्ट अतीन्द्रिय सुख को जानता है, उनका वेदन करता है। ये सब परिणाम चेतनात्मक होने से स्वसंवेद्य (स्वयं ही आत्मा के अनुभव में आने योग्य) हैं, जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है—**'स्वसंवेद्यसुख-दुःखादिवत्'** (पंचास्तिकाय) तथा भावमन भी चेतनात्मक होने से अपने आप उनका संवेदन करता है, आस्वादन करता है।

ज्ञान आत्मा का गुण है अतः मन आत्मा के ज्ञान गुण के अनुभव द्वारा आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ज्ञान गुण के द्वारा अपने अनुभव में स्वयं आती है अर्थात् ज्ञान ही अपने द्वारा अपने को जानता है। यदि ज्ञान, ज्ञान होते हुए भी स्वयं को न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं कहला सकता इसीलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा और उसके सभी परिणाम (गुण पर्याय) ज्ञानरूप होने से स्वसंवेद्य हैं।

आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने भी कहा है कि केवलज्ञान के अंशभूत मतिज्ञानादि का ज्ञान सभी को स्वसंवेदन—प्रत्यक्ष द्वारा निर्बाध रूप से होता है। तात्पर्य यह है कि वे आत्मा के भाव मन रूप ज्ञान में स्वयं ही आते हैं अतः केवलज्ञान असिद्ध नहीं है–**'ण च केवलणाणमसिद्धं, केवलणाणस्स ससंवेयणपच्चक्खेण णिब्बाहेणुपलंभादो।'** 'अर्थात् मतिज्ञानादिक केवलज्ञान के अंश रूप हैं और उनकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सभी को होती है अतः केवलज्ञान के अंशरूप अवयव के प्रत्यक्ष होने पर केवलज्ञानरूप अवयवी को परोक्ष कहना युक्त नहीं है।''

आत्मा को अपने ज्ञानादि गुणों और सुख–दुःखादि परिणामों का स्वयं ही वेदन होना (स्वयं ही अपने अनुभव में आना) स्व संवेदन ज्ञान कहलाता है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह मिथ्यादृष्टि को भी होता है, जैसा कि

आचार्य श्री जयसेन स्वामी के निम्नलिखित वचनों में 'सर्वजन प्रसिद्ध' शब्द से स्पष्ट है—**'विषयसुखानुभवानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति।'** (समयसार) अर्थात् विषयसुख के अनुभव से उत्पन्न आनन्दास्वादनरूप स्वसंवेदनज्ञान, जो कि सभी को होता है, सराग भी होता है और शुद्धात्मा के अनुभव से प्रकट सुखानुभूतिरूप स्वसंवेदनज्ञान वीतराग होता है।

आचार्य श्री जयसेन स्वामी का कथन है कि सभी लोगों को सामान्य अतीन्द्रियसुख का भी स्वसंवेदन होता है। इसका वर्णन उन्होंने समयसार की 415 वीं गाथा की टीका में किया है। यहाँ उसका हिन्दी अनुवाद मात्र दिया जा रहा है—"शिष्य प्रश्न करता है—हे भगवान् ! आपने अतीन्द्रिय सुख की व्याख्या निरन्तर की है किन्तु लोग उसे जानते नहीं हैं। भगवान् उत्तर देते हैं—'कोई देवदत्त नाम का पुरुष स्त्री सेवन आदि पंचेन्द्रिय विषयों का भोग नहीं कर रहा है किन्तु निर्व्याकुलचित्त होकर बैठा है।' उससे कोई पूछता है—'क्यों देवदत्त! सुख से बैठे हो! वह उत्तर देता है—'हाँ, सुख से बैठा हूँ।' यह सुख अतीन्द्रिय सुख है। क्यों ? इसलिए कि सांसारिक सुख पंचेन्द्रियों से उत्पन्न होता है किन्तु जो अतीन्द्रिय सुख है वह पंचेन्द्रियों के विषय भोग के बिना भी उपलब्ध होता है। यह सामान्य अतीन्द्रिय सुख है और जो पंचेन्द्रिय मनोजनित विकल्पों से रहित समाधि में स्थित परमयोगियों को स्वसंवेदनगम्य अतीन्द्रियसुख होता है वह विशेष अतीन्द्रिय सुख है तथा जो अतीन्द्रियसुख मुक्त जीवों को होता है, वह अनुमानगम्य और आगमगम्य है।.....अतः अतीन्द्रियसुख में सन्देह नहीं करना चाहिए।"

यहाँ देवदत्त नामक पुरुष के अतीन्द्रिय सुख का दृष्टान्त एक सामान्य पुरुष के अतीन्द्रिय सुख का दृष्टान्त है जिससे सिद्ध होता है कि सामान्य पुरुष भी निर्व्याकुलचित्त होने पर अर्थात् मिथ्यात्व और कषाय के मन्द होने पर **(कदाचिदनुक्तानुबन्धि कषायमन्दोदये सति'** जब चित्तगत कालुष्य या क्षोभ से रहित होकर चित्त प्रसाद की अवस्था को प्राप्त होता है तब पंचेन्द्रिय विषय भोग के अभाव में अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

3.5 मतिज्ञान का स्वसंवेदन मानस मतिज्ञान से—

यहाँ ध्यान देने योग्य है कि आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने केवलज्ञान के अंशभूत मतिज्ञानादि को स्वसंवेदनगम्य बतलाया है जिससे स्पष्ट होता है कि मतिज्ञान का स्वसंवेदन भी मानस——मतिज्ञान से होता है तथा श्रुतज्ञान का स्वसंवेदन श्रुतज्ञान से ही अर्थात् श्रुतज्ञान परिणत मन से होता है, इसके अतिरिक्त सामान्य लोगों को होने वाला चित्त प्रसादजन्य अतीन्द्रियसुख का स्वसंवेदन भी मानस——मतिज्ञान से होता है तथा निर्विकल्प समाधिगत योगियों को जो अतीन्द्रिय सुख का स्वसंवेदन होता है वह भावश्रुताण से अर्थात् भावश्रुतज्ञान-परिणत मन से होता है। इसी प्रकार विषयसुखानुभवरूप सराग स्वसंवेदन मानस मतिज्ञान से तथा स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूप वीतराग स्वसंवेदन भाव श्रुतज्ञान परिणत मन से होता है ।

3.6 श्रुतज्ञान और भावश्रुतज्ञान में भेद—

जो ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को जानता है, वह मतिज्ञान है तथा जो ज्ञान शब्दादि के द्वारा सूचित होने वाले पदार्थ को तथा उसकी अतीन्द्रिय विशेषताओं को जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं किन्तु उस अर्थबोध से आत्मा की जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति तज्जन्य निर्विकल्पसमाधिरूप परिणति एवं सत्संजात विशिष्ट अतीन्द्रियसुखरूप परिणति होती है, उन सब का स्वसंवेदन करने वाला ज्ञान भावश्रुत या भावश्रुतज्ञान कहलाता है, यह निम्नलिखित आर्षवचनों से स्पष्ट है—

'वर्तमानपरमागमाभिधानद्रव्यश्रुतेन तथैव तदा धारोत्पन्न-
निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेन च पूर्णाः समग्राः श्रुतपूर्णाः।'

(बृहद्द्रव्यसंग्रह)।

अत्र विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव- शुद्धात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणाभेदरत्नत्रयात्मकं यद्भावश्रुतं...।

''चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपाभेद-रत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधि-जात-वीतराग-सहजापूर्व-परमाधदरूप-सुखरसानुभव....।'' (समयसार)।

''समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं.....।''

4. स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान आदि भी मन के ज्ञानात्मक कार्य हैं।

श्रद्धानात्मक कार्य–

आत्मा, शरीर, सुख-दुख, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्ष, देव, शास्त्र, गुरु आदि के स्वरूप, उनकी हिताहितकरता तथा हेयोपादेयता के विषय में सम्यक् या मिथ्या धारणाएँ बनाना, सही या गलत श्रद्धा अर्थात् विश्वास करना भी मन का कार्य है । जैनदर्शन में सम्यक् धारणा या श्रद्धा को सम्यग्दर्शन तथा मिथ्याधारणा या श्रद्धा को मिथ्यादर्शन नाम दिया गया है ।

आचरणात्मक कार्य–

अनादिबद्ध मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद आदि अस्वाभाविक भाव उत्पन्न होते हैं । ये भावमनरूप परिणत आत्मा में ही आविर्भूत होते हैं अर्थात् भाव मन ही इन अस्वाभाविक भावों के रूप में परिणत होता है । इनके कारण मन में अनेक प्रकार के पदार्थों की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनमें ये छह प्रमुख हैं——वैभव (Money), प्रभुत्व (Power), ख्याति (popularity), सम्मान (respect), समाज में सर्वोच्च स्थान (prominence) और इन्द्रियसुख (pleasure)। इनको पाने के लिए मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह और छल-कपट आदि पापों में प्रवृत्त होता है। ये पाप भाव भी मन में ही आते हैं और मन ही मनुष्यों को पापमय वचन बोलने और पापात्मक क्रिया करने के लिए प्रेरित करता है। उपर्युक्त पाप भाव अशुभ भाव कहलाते हैं।

परोपदेश, स्वाध्याय या स्वबुद्धि के द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि शुभ भावों का महत्त्व मालूम होने पर और उनमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाने पर मन में ये शुभभाव भी उद्भूत होते हैं और मन जीव को शुभ वचन बोलने और शुभ क्रिया करने के लिए प्रेरित करता है ।

जिनोपदिष्ट तत्त्वों का ज्ञान और श्रद्धान होने पर मोक्ष की इच्छा भी मन में ही जन्म लेती है और तब मन शुभाशुभ परिणामों को छोड़कर शुद्ध रूप से परिणमन करता है, जिसे शुद्धोपयोग या निर्विकल्प समाधि कहते हैं और जो मोक्ष का परमार्थभूत मार्ग है।

इस प्रकार पुण्य-पाप का बन्ध कराकर संसार भ्रमण कराने वाले शुभाशुभ भाव रूप से या शुभाशुभ चारित्र रूप से तथा मोक्ष प्राप्त कराने वाले शुद्धभावरूप से या शुद्ध चारित्र रूप से मन ही परिणत होता है। इसके समर्थक आगमवचन नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

''मिथ्यात्व-विषय-कषायादि-विकल्पसमूहपरिणतं मनो वीतरागनिर्विकल्प समाधिशस्त्रेण मारयित्वा''- (परमात्मप्रकाश)।

अर्थात् मिथ्यात्व, विषयकषायादि, विकल्पसमूहरूप से परिणत मन को वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप शस्त्र से मारकर...।

'अनेकमानसविकल्पजालरहिते परमात्मनि स्थित्वा शुभाशुभ विकल्पजालरूपं मनो मारय।'' (परमात्म प्रकाश)।

अर्थात् अनेक मानस विकल्पजाल से रहित परमात्मा में स्थित होकर शुभाशुभ विकल्पजालरूप मन को मारो।

''मोहो वा रागो वा द्वेषश्चित्तप्रसादश्च यस्य जीवस्य भावे मनसि विद्यते तस्य शुभोऽशुभो वा भवति

परिणाम इति।'' (पंचास्तिकाय)।

अर्थात् जिस जीव के भाव में अर्थात् मन में मोह अथवा राग अथवा द्वेष या चित्त-प्रसाद होता है, उससे शुभ या अशुभ परिणाम होता है।

शुभाशुभ विकल्पों को त्यागकर मन के शुद्ध रूप अथवा निर्विकल्प समाधि रूप से परिणत होने का उल्लेख निम्नलिखित उद्धरणों में किया गया है—

एवं जीवपदार्थमधिगम्य कै :? पर्यायै:....निश्चयेनाभ्यन्तरै: रागद्वेषमोहरूपैरशुद्धैस्तथैव च नीराग-निर्विकल्प-चिदानन्दैकस्वाभावात्मपदार्थ-संवित्ति पस-जात-परमानन्दरसुस्थित-सुखामृत-रसानुभव-समरसीभाव-परिणत-मनोरूपै: शुद्धैश्चान्यैरपि --- पश्चात् जानातु --- अजीवपदार्थम् । ''(पंचास्तिकाय)।

अर्थात् इस प्रकार जीव पदार्थ को अन्य पर्यायों के द्वारा भी, जैसे—निश्चयनय से राग द्वेष मोहरूप अभ्यन्तर अशुद्ध पर्यायों के द्वारा तथा वीतराग, निर्विकल्प, चिदानन्दैक स्वभाव वाले आत्मपदार्थ के संवेदन से उत्पन्न परमानन्द में स्थित सुखामृत रस के अनुभव में समरसीभाव से परिणत मनोरूप शुद्ध पर्यायों के द्वारा जानकर, फिर अजीव पदार्थ को जानना चाहिए।

यहाँ निर्विकल्पक समाधि में स्थित होने तथा तज्जन्य अतीन्द्रियसुख के वेदन को मन की शुद्ध पर्याय कहा गया है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में इसे ही मन:शुद्धि कहा है—

मन:शुद्धयैव शुद्धि : स्याद्देहिनां नात्र संशय:।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।
ध्यानशुद्धिं मन:शुद्धि: करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्त्यपि नि:शेषकर्मजालानि देहिनाम्।।

अनुवाद—नि:संदेह मन की शुद्धि से ही जीवों की शुद्धि होती है। मन की शुद्धि के बिना केवल काय को क्षीण करना निरर्थक है । मन की शुद्धि केवल ध्यान को ही शुद्ध नहीं करती, जीवों के कर्मों का भी क्षय करती है। यहाँ मन की शुद्धि को कर्म क्षय का हेतु कहा गया है, इससे सिद्ध है कि मन की शुद्धि का नाम ही शुद्धोपयोग या निर्विकल्प-समाधि है।

इस प्रकार मन ही मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणत होता है और मन ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप से परिणमन करता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मन के ही परिणाम हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान (क्षीणमोह गुणस्थान तक) भी मन की ही अवस्थाएँ हैं। अशुभोपयोग और शुभोपयोग भी मन की ही पर्यायें हैं तथा शुद्धोपयोग भी मन की ही परिणति है।

3.7 मन की शुभ-अशुभ परिणतियाँ : कर्मबन्ध की हेतु—

मन की शुभ-अशुभ और शुद्ध इन तीन परिणतियों में से शुभ और अशुभ परिणतियाँ जीव के कर्मबन्ध की हेतु हैं।

भावकर्म के फल का दाता—द्रव्यकर्म—

जिनशासन में कर्म के दो भेद बतलाये गये हैं : भावकर्म और द्रव्यकर्म। शुभाशुभ मनोभाव भावकर्म हैं। उनके प्रभाव से आत्मा के समीप स्थित कार्मणवर्गणा नामक पुद्गलद्रव्य (भूत =रूप रस गन्धस्पर्शात्मक द्रव्य) आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और ज्ञानावरणादि अनेक प्रकार के कर्मों के रूप में परिणत होकर आत्मा के साथ संश्लिष्ट हो जाता है। ये पुद्गल निर्मित कर्म द्रव्यकर्म कहलाते हैं। इनमें जीव के ज्ञानादि गुणों को आच्छादित करने, उसमें शुभाशुभ मनोभावों को प्रेरित करने तथा नाना प्रकार की सुखदु:खोत्पादक सामग्री का संयोग कराने एवं सुख-दु:खानुभव कराने की योग्यता आ जाती है । आत्मा के साथ संश्लिष्ट होने के बाद आबाधाकाल पूर्ण होने पर द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव और

भव का निमित्त पाकर ये द्रव्यकर्म उदय में आते हैं और जीव को सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। इस प्रकार द्रव्यकर्म जीव को अपने पूर्वकृत शुभाशुभ भावकर्म का फल भोगने में निमित्त बनते हैं।

कर्मफलदाता ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध-

जैनेतर भारतीयदर्शन मानते हैं कि जीव के शुभाशुभ मनोभावों के प्रभाव से उसके चित्त में पुण्य-पाप रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं जिन्हें कर्माशय और वासना भी कहते हैं। ये ही जीव के अदृष्ट या कर्म कहलाते हैं। पातंजलयोगदर्शन में कहा गया है—**'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'** तात्पर्य यह कि "शुभाशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप जो धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) होते हैं, वे आशयरूप से अर्थात् वासनारूप से चित्त में तब तक विद्यमान रहते हैं जब तक सुख-दुःख रूप फल प्राप्त नहीं हो जाते। कर्म के आशय अर्थात् वासनारूप होने से पुण्य-पाप कर्माशय कहे जाते हैं।" इन दर्शनों की मान्यता यह भी है कि जीव को अपने पुण्य-पाप रूप कर्मों के फल का भोग ईश्वर कराता है। इसी उद्देश्य से वह स्वर्ग-नरक आदि की सृष्टि करता है। महाभारत में कहा गया है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।

इसका अभिप्राय यह है कि अज्ञानी जीव अपने कर्मों का सुख-दुःख रूप फल प्राप्त करने में स्वयं समर्थ नहीं है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित होकर वह अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाता है।

.....किन्तु यह मान्यता युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती क्योंकि यदि ईश्वर जीवों को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक में भेजता है, तो वह उन्हें ऐसी प्रेरणा भी दे सकता है कि वे स्वर्ग-नरक में जाने योग्य कर्म न करें, मोक्ष पाने योग्य ही कर्म करें किन्तु ऐसा होते हुए दिखायी नहीं देता। अतः ईश्वर को जीवों को कर्मफल प्रदान करने वाला मानना युक्ति-संगत सिद्ध नहीं होता। अतः जीव के भावकर्मों के प्रभाव से उत्पन्न हुए पौद्गलिक द्रव्यकर्म ही सुखदुःखादिरूप फल का भोग कराने वाली सामग्री का सम्पादन करते हैं, यह मत ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

3.8 मनोभावों का पुद्गल पर प्रभाव—

जीव के मनोभावों से पुद्गल द्रव्य प्रभावित होता है, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। हमारी समस्त शारीरिक क्रियाओं का संचालन मन के भावों, मन में उत्पन्न इच्छाओं के अनुसार होता है। हम जिस वस्तु को देखना चाहते हैं और देखने का मानसिक प्रयत्न करते हैं, उसी की तरफ आँख उठती है, जिस वस्तु को उठाना चाहते हैं और उठाने की मानसिक चेष्टा करते हैं उसी की तरफ हाथ बढ़ाने की शारीरिक चेष्टा होती है। जिस दिशा में जाने की इच्छा और मानसिक प्रयत्न होता है उसी दिशा मे पैर आगे बढ़ते हैं। मन में काम-भाव आते ही शरीर में काम-विकार उत्पन्न हो जाता है, मन में भय पैदा होने पर शरीर रोमांचित हो जाता है। जब मन मे हर्ष, विषाद, भय, शोक, चिन्ता आदि भावों की उत्पत्ति होती है तब मुख के पुद्गल स्कन्धों (मांसपेशियों) में ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि चेहरे पर हर्ष-विषाद आदि के भाव झलकने लगते हैं और हम समझ जाते हैं कि सामने वाला व्यक्ति दुखी, भयभीत, शोकग्रस्त या चिन्ताग्रस्त है इसीलिए हम कभी-कभी पूछ बैठते हैं—"क्या बात है, आज बहुत खुश दिखाई दे रहे हो", 'बात क्या है, आज तुम उदास दिख रहे हो' "आप किस चिन्ता में डूबे हुए हैं" इत्यादि।"

मनोभावों का शारीरिक स्वास्थ्य पर बड़ा असर पड़ता है। क्रोधादि आवेगों की अवस्था में रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) बढ़ जाता है, पाचन प्रणाली अस्त व्यस्त हो जाती है। विभिन्न ग्रन्थियों (Glands) के रस क्षण में अनियमितता आ जाती है किसी ग्रन्थि का रसक्षरण बन्द हो जाता है, किसी का सामान्य से कम और किसी का सामान्य से अधिक हो जाता है । इससे अनेक प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। जो मनुष्य सदा दुःखी और चिन्तित रहता है उसे मधुमेह

जैसा खतरनाक रोग हो जाता है। इसके विपरीत जब मन प्रसन्न (चित्तप्रसाद) होता है, मन में धनात्मक (positive) विचारधारा प्रवाहित होती है, वह आशा और उत्साह से भरा होता है तब शरीर पर अनुकूल (स्वास्थप्रद) प्रभाव पड़ता है। चित्तप्रसाद औषधि बनकर शरीर के रोगों का उन्मूलन करता है, शरीर को पुष्ट करता है ।

मनोभावों का पुद्गल पर उक्त प्रभाव देखकर यह अनुमान युक्तिसंगत सिद्ध होता है कि आत्मा के शुभाशुभ मनोभावों के प्रभाव से आत्मा के समीप स्थित कार्मणवर्गणा नामक पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के रूप में परिणत होकर आत्मा में संश्लिष्ट हो जाते हैं और आगामी काल में आत्मा को सुखदुःखादि रूप फल प्रदान करते हैं।

3.9 पुद्गल का मनोभावों पर प्रभाव—

यह भी एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि विभिन्न पौद्गलिक पदार्थ मन में शुभाशुभ भाव उत्पन्न करते हैं। रास्ते में पड़ा हुआ स्वर्ण मनुष्य के मन में लोभ भाव जगाता है। किसी स्त्री का सुन्दर शरीर पुरुष के मन में काम-भाव उद्दीप्त करता है, पंचेन्द्रियों के इष्ट विषयों को देखकर उनके भोग की इच्छा उत्पन्न होती है। शरीर में भूख, प्यास की स्वाभाविक पीड़ा होने पर तो मन में संक्लेश परिणाम उत्पन्न होता ही है, इसके अलावा जब बीड़ी, तम्बाकू, चाय, मदिरा आदि अनावश्यक पदार्थों के सेवन की लत लग जाती है तब शरीर के पुद्गल स्कन्धों (मांसपेशियों) में ऐसा व्यसन उत्पन्न हो जाता है कि जिस समय जिस पदार्थ के सेवन की आदत पड़ गई है ठीक उस समय उस पदार्थ के सेवन के लिए शरीर में पीड़ा उत्पन्न होती है, जिसे तलब कहते हैं। तब मन में इतनी बेचैनी पैदा होती है कि उसे बरबस इन्द्रियों को उस पदार्थ के सेवन में प्रवृत्त करना पड़ता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्ररूपण श्रीमद्भगवत्गीता में इन शब्दों में किया गया है–

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमादीनि हरन्तिप्रसभं मनः।।

अनुवाद—हे अर्जुन! (व्यसनग्रस्त) इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि ज्ञानी पुरुष के यत्न करने पर भी ये उसके मन को बलपूर्वक विषयों की ओर खींच ले जाती हैं।

इष्टमिष्टोतकटरसैराहारैरुद्भटीकृता ।
यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयन्ति बहिर्मनः।।

अनुवाद—इन इन्द्रियरूपी योद्धाओं को यदि इष्ट, मिष्ट और अत्यन्त स्वादिष्ट आहार से अत्यन्त शक्तिशाली बना दिया जाता है तो ये मन को अपनी इच्छानुसार बाह्य पदार्थों में भ्रमण कराते हैं।

इसी तरह जिस धर्मगुरु और इष्टदेव के प्रति हमारी श्रद्धा होती है उसकी प्रतिमा या चित्र के दर्शन होने पर हमारे मन में आदर-सम्मान और भक्ति का शुभ भाव उत्पन्न होता है। इसके विपरीत किसी अप्रिय व्यक्ति का चित्र देखकर अनादर की अशुभ भावना जन्म लेती है।

इस प्रकार यह सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुद्गल द्रव्य मनुष्य के मन में शुभाशुभ भावों की उत्पत्ति में निमित्त होता है। इससे यह अनुमान युक्तिसम्मत सिद्ध होता है कि आत्मा के शुभाशुभ मनोभावों के प्रभाव से उत्पन्न हुए पौद्गलिक द्रव्यकर्म आत्मा में सुख-दुःखादि भावों की उत्पत्ति में निमित्त बनते हैं।

3.10 शुभाशुभ मनोभावों के निरोध से मोक्ष—

शुभाशुभ मनोभाव अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्मों के बन्ध के कारण हैं अतः शुभाशुभ मनोभावों के निरोध से जो शुद्ध मनोभाव अर्थात् शुद्धोपयोग या निर्विकल्प समाधि घटित होती है उससे द्रव्य कर्मों का क्षय होता है और जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है, जिसमें सदा आत्मोत्थ अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता रहता है। इस प्रकार कर्मों के बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया एकमात्र शुभाशुभ मनोभावों के सद्भाव और अभाव पर आश्रित है अतएव जैनदर्शन का कर्म सिद्धान्त पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है ।

3.11 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त पूर्णतः.....है।

(क) स्याद्वादमय ☐
(ख) मनोवैज्ञानिक ☐
(ग) द्रव्य कर्मों से सहित ☐

प्रश्न 2-जैनदर्शन में मन कितने प्रकार का माना गया है ?

(क) तीन प्रकार का ☐
(ख) पाँच प्रकार का ☐
(ग) दो प्रकार का ☐

प्रश्न 3-भावमन में जो पदार्थों को जानने की इच्छा होती है, उसे क्या कहा गया है ?

(क) लब्धि ☐
(ख) उपयोग ☐
(ग) अन्तःकरण ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-इन्द्रियों का नायक किसे कहा है तथा इसके बारे में भट्टाकलंकदेव के क्या विचार हैं ?

प्रश्न 2-मन कितने प्रकार के कार्य करता है, उनमें से किसी एक को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 3-श्रुतज्ञान और भाव श्रुतज्ञान में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 4-जिनशासन में कर्म के कितने और कौन-कौन से भेद बताए हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-मनोभावों का पुद्गल पर एवं पुद्गल का मनोभावों पर क्या प्रभाव पड़ता है, सविस्तार वर्णन कीजिए ?

पाठ 4—विविध जैन ग्रंथों के आधार से जानें कर्म सिद्धान्त

4.1 कर्मवाद का सामान्य विवेचन प्रायः जैन आगमिक तथा दार्शनिक ग्रंथों एवं जैन कथा साहित्य में मिलता है। इसके साथ ही स्वतंत्र रूप से भी कर्म सम्बन्धी विशाल साहित्य का निर्माण हुआ है। जैन अनुश्रुति "कर्मवाद" नामक एक अति विस्तृत ग्रंथ का उल्लेख करती है, जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म सिद्धान्त था परन्तु पूर्व साहित्य के विलुप्त होने के साथ ही यह ग्रन्थ भी विलुप्त हो चुका है। कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी उपलब्ध जैन साहित्य का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

4.2 षट्खण्डागम—

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में षट्खण्डागम का अन्यतम स्थान है, इस ग्रन्थ के कर्ता आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि हैं। यह ग्रन्थ अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना है। इसमें छः खण्ड हैं—जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध। जीवस्थान आठ अनुयोग द्वारों में विभक्त है—1. सत्प्ररूपणा, 2. द्रव्यप्रमाणानुगम, 3. क्षेत्रानुगम, 4. स्पर्शानुगम 5. कालानुगम 6. अन्तरानुगम, 7. भावानुगम और 8. अल्पबहुत्वानुगम।

(1) सत्प्ररूपणा में दो प्रकार का कथन है—"ओघ अर्थात् सामान्य की अपेक्षा से और आदेश अर्थात् विशेष की अपेक्षा से।" यहाँ ओघ और आदेश से अभिप्राय क्रमशः गुणस्थान और मार्गणास्थान की दृष्टि से जीव की विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन करना है। गुणस्थानों के विस्तृत विवेचन के लिए गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार—इन चौदह मार्गणाओं के उल्लेख हैं। गुणस्थान और मार्गणास्थान कर्मप्रकृतियों के बन्ध और उदय से सम्बन्धी हैं। 'गुणस्थान कर्मों के क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम के आधार पर जीवों के आध्यात्मिक विकास एवं पतन के सूचक हैं। चौदह गुणस्थान निम्नलिखित हैं—1. मिथ्यादृष्टि, 2. सासादन 3. सम्यक्मिथ्यादृष्टि, 4. असंयतसम्यग्दृष्टि 5. संयतासंयत, 6. प्रमत्तसंयत, 7. अप्रमत्तसंयत, 8.अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण 10. सूक्ष्मसाम्पराय, 11. उपशान्तकषाय 12. क्षीणकषाय, 13. सयोगकेवली और 14. अयोगकेवली। इन गुणस्थानों से कर्मप्रकृतियों के बन्धन, उदय एवं क्षयसम्बन्धी जानकारी मिलती है। ये गुणस्थान यह सूचित करते हैं कि इन पर अवरोह मुक्ति की ओर और अवतरण संसार की ओर ले जाता है। इस प्रकार गुणस्थानों का विस्तृत विवरण कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में अति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इनसे उन तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है जो कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय से संबंधित हैं।

जीवस्थान के सत्प्ररूपणा अनुयोगद्वार में प्रथम गुणस्थान की चर्चा है एवं तदनन्तर मार्गणाओं का विवरण है तथा प्रत्येक मार्गणा में कौन-कौन से गुणस्थान पाये जाते हैं, इसका उल्लेख किया गया है। मार्गणास्थान कर्मों के अनुसार जीव को मिलने वाली विभिन्न गतियों के सूचक हैं। जीव अपने कृतकर्म के फलोपभोग हेतु इन्हीं 14 मार्गणाओं में भ्रमण करता है। इसमें प्रत्येक मार्गणा की गति मानी गयी है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति एवं देवगति। इसके बाद किस गुणस्थान वाले जीव इन गतियों में से किस गति में रहते हैं, इसका विवरण है, जैसे—इसमें यह उल्लेख है कि 'नरकगति में प्रारंभ के चार गुणस्थानों वाले जीव होते हैं। तिर्यंचगति में आदि के पाँच गुणस्थान वाले जीव होते हैं। मनुष्यगति में चौदह गुणस्थानों वाले जीव होते हैं। देवगति में नरकगति की तरह चार गुणस्थान वाले जीव होते हैं। इसी प्रकार अन्य शेष 13 मार्गणाओं में भी कौन से गुणस्थानवर्ती जीव पाये जाते हैं, इसका विवरण है।

इन अनुयोगों में ओघ और आदेश से उन भावों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम किस गुणस्थान में कौन सा भाव होता है, इसका विवेचन है, जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान में औदयिकभाव होता है, सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव होता है, सम्यक्दृष्टि गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होता है आदि। ये पाँचों भाव कर्मों के उदय, क्षय, उपशम

आदि के कारण होते हैं अतः अनुयोग द्वार कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित है।

इसी प्रकार उत्तरप्रकृति समुत्कीर्तन में कर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख है। ज्ञानावरणीय कर्म की चर्चा करते हुए इसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ निर्दिष्ट हैं, यथा—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृतियाँ बतायी गयी हैं, जैसे—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय। वेदनीय कर्म की दो उत्तरप्रकृतियाँ बताई गयी हैं, यथा—सातावेदनीय और असातावेदनीय। मोहनीय कर्म का उल्लेख करते हुए उसकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ बताई गयी हैं। मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के उल्लेख में पहले मोहनीय कर्म को दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय इस प्रकार दो वर्गों में विभाजित किया गया है। दर्शनमोहनीय के पुनः तीन भेद किये गये हैं—सम्यक्त्वमोह, मिथ्यात्वमोह एवं सम्यग्मिथ्यात्वमोह। इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद किये गये हैं—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय। चारित्रमोहनीय के भेदों में कषायवेदनीय के 16 भेद, यथा—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ किये गये हैं। इस प्रकार नो कषाय (उपकषाय) वेदनीय के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा—ये नौ भेद किये गये हैं। इस प्रकार आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की सभी उत्तर प्रकृतियों का विवेचन उत्तर प्रकृतिसमुत्कीर्तन में मिलता है।

जीवस्थान की स्थानसमुत्कीर्तन नामक दूसरी चूलिका में कर्मप्रकृतियों के बन्धन के विषय में प्रकाश डाला गया है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस गुणस्थान वाले जीव कर्म की किन प्रकृतियों का बन्ध करते हैं ? इसमें प्रारम्भ के 6 गुणस्थानों वाले जीवों को बन्धक कहा गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानावरणीय कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ एक साथ बँधती हैं और उसका बंध किस गुणस्थानवर्ती जीव करते हैं। दर्शनावरणीय कर्म के तीन बन्धस्थान बताये गये हैं तथा नौ प्रकृतियों से सम्बंधित, छः प्रकृतियों से संबंधित और चार प्रकृतियों से संबंधित पहले और दूसरे गुणस्थान में एक साथ नौ प्रकृतियाँ बँधती हैं। तीसरे गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान पर्यन्त जीवों के नौ में से एक साथ छः ही प्रकृतियाँ बँधती हैं, तीन नहीं बँधती। आठवें से दसवें गुणस्थान पर्यन्त छः में से भी चार का ही बंध एक साथ होता है। वेदनीय कर्म की दो ही प्रकृतियाँ हैं—साता और असाता ।

जीवस्थान की प्रथम महादण्डक नामक तीसरी चूलिका में मुख्य रूप से पहली बार सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच एवं मनुष्य किन-किन प्रकृतियों का बंध करते हैं, इसका निरूपण किया गया है। द्वितीयमहादण्डक नामक चौथी चूलिका में प्रथम सम्यक्त्व के अभिमुख देव और सातवें नरक के नारकियों को छोड़कर शेष नारकियों के बँधने वाली प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं।

क्षुद्रकबन्ध—षट्खण्डागम के द्वितीय खण्ड क्षुद्रकबंध में भी कर्मसिद्धान्त से सम्बंधित महत्त्वपूर्ण सामग्री है। इसमें अपने नामानुकूल क्षुद्र रूप से कर्म बन्ध का विवेचन है। इस खण्ड के प्रारंभ में पहले 14 मार्गणाओं का उल्लेख है। तदनन्तर उनके भेदों के अनुसार उनमें कौन बन्धक अर्थात् कर्मबन्ध करने वाली है एवं कौन अबन्धक अर्थात् कर्मबन्ध नहीं करने वाली हैं, इसको स्पष्ट किया गया है। गति-मार्गणा की दृष्टि से इसमें स्पष्टतया कहा गया है कि नारकी जीव बन्धक है, तिर्यंच बन्धक है और देव बन्धक है किन्तु मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी है। इसी तरह शेष अन्य मार्गणाओं के बन्धकत्व का विचार किया गया है।

4.3 कसायपाहुड-

कसायपाहुड के रचयिता आचार्य श्री गुणधर स्वामी थे। आचार्य गुणधर के इस 'कसायपाहुड' की रचना अति-संक्षिप्त एवं बीजपदरूप थी और उसका अर्थ-बोध कठिन था अतः सर्वप्रथम कसायपाहुड पर आचार्य यतिवृषभ ने छह

हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र रचे, फिर भी अनेक स्थलों का अर्थ स्पष्ट नहीं होता था अतः उच्चारणाचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारण वृत्ति का निर्माण किया, शामकुण्डाचार्य ने अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण 'पद्धति' नाम की टीका और तुम्बुलूराचार्य ने चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूड़ामणि नाम की टीका रची। आचार्य वीरसेन ने उपर्युक्त टीकाओं को हृदयंगम करके साठ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका रची। इसी कारण यह कसायपाहुड - 'जयधवलसिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

कसायपाहुड प्राकृत गाथा सूत्रों में निबद्ध है। इस ग्रन्थ की पहली गाथा में बतलाया गया है कि पाँचवे पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है, इसी प्राभृत से यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है।

पीठिका में पूर्वों के अन्तर्गत अधिकारों, प्राकृत अधिकारों के विषय में बतलाया गया है कि प्रत्येक पूर्व में वस्तु नामक अनेक अधिकार होते हैं और एक वस्तु अधिकार में बीस प्राकृताधिकार होते हैं। एक प्राकृताधिकार में चौबीस अनुयोग द्वार नामक अधिकार होते हैं, इस प्रकार पाँचवे पूर्व ज्ञानप्रवाद में बारह वस्तु नामक अधिकार हैं और प्रत्येक वस्तु अधिकार में बीस-बीस प्राभृताधिकार हैं। इनमें से दसवें वस्तु अधिकार के अन्तर्गत केवल एक तीसरे प्राभृत से प्राकृत कषायपाहुड रचा गया है।

कसायपाहुड की जयधवला टीका में तीसरे पेज्जपाहुड का परिमाण सोलह हजार पद प्रमाण बतलाया गया है।

कसायपाहुड में पन्द्रह अधिकार हैं तथा कुल गाथाओं की संख्या 233 है ।

प्रेयो-द्वेष विभक्ति—

किस प्रकार किस नय की अपेक्षा किस-किस विषय में प्रेय (राग) या द्वेष का व्यवहार होता है ?... अथवा कौन सा नय किस द्रव्य में द्वेष को प्राप्त होता है और कौन नय किस द्रव्य में प्रिय (राग) भाव को प्राप्त है ?....इन आशंकाओं का समाधान किया गया है कि नैगम और संग्रहनय की अपेक्षा क्रोध द्वेष रूप है, मान द्वेष रूप है किन्तु माया प्रेय रूप है और लोभ प्रेय रूप है । व्यवहार नय की अपेक्षा क्रोध, मान, माया ये तीन कषाय द्वेष रूप हैं और लोभ कषाय राग रूप है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा क्रोध द्वेष रूप है, मान नो द्वेष नो राग-रूप है, माया नो द्वेष नो राग रूप है और लोभ राग रूप है। शब्द नयों की अपेक्षा चारों कषाय द्वेष रूप हैं तथा क्रोध, मान, माया कषाय नो राग रूप है और लोभ स्यात् राग रूप है। यह जीव परिस्थितिवश कभी सभी द्रव्यों में द्वेष रूप व्यवहार करता है और कभी सभी द्रव्यों में राग रूप भी आचरण करता है।

इन राग द्वेष रूप चारों कषायों का बारह अनुयोगद्वारों से विवेचन किया गया है—एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग, विचय, सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन सभी अनुयोगों द्वारा राग-द्वेष का विस्तृत विवरण जयधवला टीका में किया गया है। यहाँ काल की अपेक्षा मात्र सूचित किया जाता है कि सामान्य की अपेक्षा राग द्वेष दोनों का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है पर विशेष की अपेक्षा दोनों का जघन्य काल एक समय है और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

प्रकृति विभक्ति—

कसायपाहुड में केवल एक मोहनीय कर्म का ही वर्णन किया गया है अतः गुणस्थानों की अपेक्षा जो मोह कर्म अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप पन्द्रह सत्त्वस्थान हैं, उनका वर्णन इस प्रकृति विभक्ति में एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल और अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंग विचय, परिणाम, क्षेत्र स्पर्शन, काल, अन्तर, अल्पबहुत्व, भुजाकार, पदनिक्षेप और वृद्धि-इन तेरह अनुयोगद्वारों से किया गया है। जैसे—अट्ठाईस प्रकृति सत्त्वस्थान का स्वामी सादि मिथ्यादृष्टि जीव है। छब्बीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी अनादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति की उद्वेलना करने वाला सादि-मिथ्यादृष्टि जीव है। चौबीस प्रकृतिक सत्त्वस्थान का स्वामी अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टक का विसंयोजन जीव होता है। इक्कीस प्रकृतिक

सत्त्व स्थान का स्वामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि आदि सभी सत्त्व स्थानों का विस्तृत वर्णन इस विभक्ति में किया गया है।

स्थिति विभक्ति—

इस अधिकार में मोहकर्म की सभी प्रकृतियों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन अनेक अनुयोगद्वारों से किया गया है। जैसे—मोहनीय कर्म की सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण उत्कृष्ट-स्थिति के बन्ध का जघन्य काल एक समय है और लगातार उत्कृष्ट स्थिति बाँधने का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। अनुत्कृष्ट बन्ध का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परिवर्तन प्रमाण अस्त काल है। जघन्य स्थिति के बन्ध का जघन्य काल और उत्कृष्ट काल एक-समय मात्र है। अजघन्य बन्ध का काल अनादि-अनन्त (अभव्यों की अपेक्षा) तथा (भव्यों की अपेक्षा) अनादिकाल सान्तकाल है। परिणाम की अपेक्षा एक समय में मोह कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के विभक्ति वाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। जघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव संख्यात हैं और अजघन्य स्थिति के विभक्तिक जीव अनन्त हैं। इस प्रकार स्वामित्व, क्षेत्र, स्पर्शन आदि 24 अनुयोग द्वारों के द्वारा मोह कर्म की स्थिति-विभक्ति का वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

अनुभाग विभक्ति—

आत्मा के साथ बँधने वाले कर्मों के फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं। बन्ध के समय कषाय जैसी तीव्र या मन्द जाति की हो, तदनुसार ही उसके फल देने की शक्ति भी तीव्र या मन्द रूप में पड़ती है चूँकि मोहकर्म पाप रूप ही है अतः उसका अनुभाग नीम, कांजी, विष और हालाहल के तुल्य जघन्य या मन्द स्थान से लेकर तीव्र उत्कृष्ट स्थान तक उत्तरोत्तर अधिक कटु विपाक वाला होता है। मोहकर्म के इस अनुभाग का वर्णन 'संज्ञा' सर्वानुभाग विभक्ति, नोसर्वानुभाग विभक्ति आदि 27 अनुयोगद्वारों से किया गया है। जैसे—संज्ञानुयोगद्वार की अपेक्षा मोहकर्म का उत्कृष्ट सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभाग सर्वघाती भी होता है और देशघाती भी होता है। जघन्य अनुभाग देशघाती होता है और अजघन्य अनुभाग देशघाती भी होता है और सर्वघाती भी होता है। स्वामित्वानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकार एवं जागृत उपयोगी, उत्कृष्ट क्लेश परिणाम वाला ऐसा किसी भी गति का मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट अनुभाग को बाँधकर जब तक उसका घात नहीं करता है, जब तक वह उसका स्वामी है। मोहकर्म के जघन्य अनुभाग का स्वामी दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में विद्यमान क्षपक मनुष्य है। परिणामानुयोग द्वार की अपेक्षा मोहकर्म के उत्कृष्ट अनुभाग विभक्ति वाले जीव असंख्यात हैं। अनुत्कृष्ट विभक्ति वाले अनन्त हैं। जघन्य विभक्ति वाले संख्यात हैं और अजघन्य विभक्ति वाले अनन्त जीव हैं। इस प्रकार शेष अनुयोग द्वारों की अपेक्षा मोहकर्म की अनुभाग विभक्ति का विस्तृत वर्णन इस अधिकार में किया गया है।

प्रदेश विभक्ति—

प्रतिसमय आत्मा के भीतर आने वाले कर्म परमाणुओं का तत्काल सर्व कर्मों में विभाजन होता जाता है, उसमें से जितने कर्म प्रदेश मोहकर्म के हिस्से में आते हैं, उनका भी विभाग उसके उत्तरभेद प्रमेयों में होता है। मोहकर्म के इस प्रकार के प्रदेश सत्व का वर्णन इस अधिकार में 22 अनुयोगद्वारों से किया गया है। जैसे—स्वामित्व की अपेक्षा पूछा गया कि मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेश सत्व किसके होता है ? **उत्तर**—जो जीव बादर पृथ्वीकायिकों में साधिक दो सहस्र सागरोपम से न्यून कर्म स्थिति प्रमाण काल तक अवस्थित रहा। वहाँ पर उसके पर्याप्त भव अधिक और अपर्याप्तक भव अल्प हुए। पर्याप्त काल दीर्घ रहा और अपर्याप्त काल अल्प रहा। बार-बार उत्कृष्ट योगस्थानों को प्राप्त हुआ और बार-बार अतिसंक्लेश परिणामों को प्राप्त हुआ, इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ वह बादरकायिक जीवों में उत्पन्न हुआ। उनमें परिभ्रमण करते हुए उसके पर्याप्तभव अधिक और अपर्याप्तक भव अल्प हुए। पर्याप्तकाल दीर्घ और अपर्याप्तकाल "स्व" रहा। वहाँ पर भी बार-बार उत्कृष्ट योगस्थानों और अतिसंक्लेश दशा को प्राप्त हुआ। इस प्रकार संसार में

परिभ्रमण करके वह सातवीं पृथ्वी के नारकों में तेतीस सागरोपम स्थिति का धारक नारकी हुआ, वहाँ से निकलकर वह पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पत्र हुआ और वहाँ अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहकर मरण करके, पुनः तेतीस सागरोपम आयु वाले नारकों में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसके तेतीस सागरोपम बीतने के बाद अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के समय में मोहकर्म का उत्कृष्ट प्रदेश सत्त्व होता है। मोहकर्म की जघन्य प्रदेश विभक्ति उपर्युक्त विधान से निकलकर मनुष्य होकर क्षपक श्रेणी पर चढ़े हुए चरम समयवर्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत के होती है।

श्री वीरसेनाचार्य ने प्रदेश विभक्ति के अन्तर्गत क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्ति ये दो अधिकार कहे हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है।

क्षीणाक्षीणाधिकार—

किस स्थिति में अवस्थित कर्म प्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य या अयोग्य होते हैं, इसका विवेचन इस अधिकार में किया गया है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण, घटने को अपकर्षण और अन्य प्रकृति रूप से परिवर्तित होने को संक्रमण कहते हैं। सत्ता में अवस्थित कर्म के समय पाकर फल देने को उदय कहते हैं। जो कर्मप्रदेश उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदय के योग्य होते हैं उन्हें क्षीण स्थिति कहते हैं और जो इनके योग्य नहीं होते उन्हें अक्षीण स्थिति कहते हैं। इन दोनों का प्रस्तुत अधिकार में बहुत सूक्ष्म वर्णन है।

स्थित्यन्तिक–

अनेक प्रकार की स्थिति को प्राप्त होने वाले कर्म परमाणुओं को स्थितिक या स्थित्यन्तिक कहते हैं। ये स्थिति-प्राप्त कर्मप्रदेश उत्कृष्ट स्थिति, निषेक स्थिति, यथानिषेक स्थिति और उदय स्थिति के भेद से चार प्रकार के होते हैं। जो कर्मबंधन के समय से लेकर उस कर्म की जितनी स्थिति है, उतने समय तक सत्ता में रहकर अपनी स्थिति के अन्तिम समय में उदय को प्राप्त होता है, उसे उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म प्रदेश बन्ध के समय जिस स्थिति में निक्षिप्त किया गया है, तदनन्तर उसका उत्कर्षण या अपकर्षण होने पर भी उसी स्थिति को प्राप्त होकर जो उदयकाल में दिखाई देता है उसे निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। बन्ध के समय जो कर्म जिस स्थिति में निक्षिप्त हुआ है, वह यदि उत्कर्षण और अपकर्षण न होकर उसी स्थिति के रहते हुए उदय में जाता है, उसे यथा निषेक स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। जो कर्म जिस किसी स्थिति को प्राप्त होकर उदय में आता है उसे उदय स्थिति प्राप्त कर्म कहते हैं। प्रकृत अधिकार में इन चारों ही प्रकारों के कर्मों का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

बन्धक और संक्रम अधिकार—

जीव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप से परिणत होकर जीव के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर बँधने को बन्ध कहते हैं। बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। यतः प्रकृति विभक्ति आदि चारों विभक्तियाँ इन चारों प्रकार के बन्धाश्रित ही हैं अतः इस बन्ध पर मूल गाथाकार और चूर्णि सूत्रकार ने केवल उनके जानने मात्र की सूचना दी है और जयधवलाकार ने यह कहकर विशेष वर्णन नहीं किया है कि भूतबली स्वामी ने महाबन्ध में विविध अनुयोग द्वारों से बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है अतः जिज्ञासुओं को वहाँ से जानना चाहिए।

संक्रम अधिकार—

बँधे हुए कर्मों का यथासंभव अपने अवान्तर भेदो में संक्रान्त या परिवर्तित होने को संक्रम कहते हैं। बन्ध के समान संक्रम के भी चार भेद हैं–(1) प्रकृति संक्रम (2) स्थिति संक्रम, (3) अनुभाग संक्रम (4) प्रदेश संक्रम। एक कर्म प्रकृति के दूसरी प्रकृति रूप होने को प्रकृति संक्रम कहते हैं। जैसे–साता वेदनीय का असातावेदनीय रूप से परिणत हो जाना। विवक्षित कर्म की जितनी स्थिति पड़ी थी, परिणामों के वश से उसके हीनाधिक होने को या अन्य प्रकृति की

स्थिति रूप से परिणत हो जाने को स्थिति संक्रम कहते हैं। सातावेदनीय आदि जिन प्रकृतियों में जिस जाति के सुखादि देने की शक्ति थी उसके हीनाधिक होने या अन्य प्रकृति के अनुभाग रूप से परिणत होने को अनुभागसंक्रम कहते हैं। विवक्षित समय में आये हुए कर्मपरमाणुओं में से विभाजन के अनुसार जिस कर्मप्रकृति को जितने प्रदेश मिले थे, उनके अन्य प्रकृतिगत प्रदेशों के रूप से संक्रम होने को प्रदेश संक्रमण कहते हैं। इस अधिकार में मोहकर्म की प्रकृतियों के चारों प्रकार के संक्रम का अनेक अनुयोग द्वारों से बहुत विस्तृत एवं अपूर्व विवेचन किया गया है।

वेदक अधिकार—

इस अधिकार में मोहकर्म के वेदन अर्थात् फलानुभव का वर्णन किया गया है। कर्म अपना फल उदय से भी देते हैं और उदीरणा से भी देते हैं। स्थिति बन्ध के अनुसार नियत समय पर कर्म के फल देने को उदय कहते हैं तथा उपाय विशेष से असमय में ही निश्चित समय के पूर्व फल देने को उदीरणा कहते हैं। जैसे–शाखा में लगे हुए आम का समय पर पककर गिरना उदय है तथा स्वयं पकने के पूर्व ही उसे तोड़कर पाल आदि में रखकर समय से पूर्व ही पका लेना उदीरणा है। ये दोनो ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार के हैं।

उपयोग अधिकार—

जीव के क्रोध, मान, मायादि रूप परिणामों के होने को उपयोग कहते हैं। इस अधिकार में चारों कषायों के उपयोग का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि एक जीव के एक कषाय का उदय कितने काल तक रहता है, किस गति के जीव के कौन सी कषाय बार-बार उदय में आती है, एक भव में एक कषाय का उदय कितने बार होता है और एक कषाय का उदय कितने भवों तक रहता है ?.... जितने जीव वर्तमान समय में जिस कषाय से युक्त हैं, क्या वे उतने ही पहले उसी कषाय से युक्त थे, और क्या आगे भी युक्त रहेंगे ?.... इत्यादि रूप से कषाय विषयक अनेक ज्ञातव्य बातों का बहुत ही वैज्ञानिक विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

चतुःस्थान अधिकार—

कर्मों में फल देने की शक्ति की अपेक्षा लता, दारु, अस्थि और शैल रूप से चार विभाग किये गये हैं जिन्हें क्रमशः एकस्थान, द्विस्थान, त्रिस्थान और चतुःस्थान कहते हैं। इस अधिकार में क्रोधादि चारों कषायों के चारों ही स्थानों का वर्णन किया गया है इसलिए इस अधिकार का नाम चतुस्थान है। इस अधिकार में बतलाया गया है कि क्रोध चार प्रकार का होता है–पाषाण रेखा के समान, पृथ्वी रेखा के समान, बालू रेखा के समान और जल रेखा के समान। जैसे जल में खींची हुई रेखा तुरन्त मिट जाती है और बालू, पृथ्वी एवं पाषाण में खींची गई रेखाएँ उत्तरोत्तर अधिक-अधिक समय में मिटती हैं, इसी प्रकार क्रोध कषाय के भी चार जाति के स्थान होते हैं, जो हीनाधिक काल के द्वारा उपशम को प्राप्त होते हैं। क्रोध के समान मान, माया और लोभ के भी चार-चार जाति के स्थान होते हैं। इन सबका वर्णन इस अधिकार में किया गया है। इसके अतिरिक्त चारों कषायों के सोलह स्थानों में से कौन सा स्थान किस स्थान से अधिक होता है और कौन किससे हीन होता है ? कौन स्थान सर्वघाती है और कौन स्थान देशघाती है ?....क्या सभी जातियों में सभी स्थान होते हैं या कहीं कुछ अन्तर है ?..... किस स्थान का अनुभवन करते हुए किस स्थान का बन्ध नहीं करते हुए किस स्थान का बन्ध नहीं होता ?...इत्यादि अनेक सैद्धान्तिक गहन बातों का निरूपण इस अधिकार में किया गया है ।

व्यंजन अधिकार—

व्यंजन नाम पर्यायवाची शब्दों का है। इस अधिकार में क्रोध, मान, माया और लोभ आदि इन चारों ही कषायों के पर्यायवाचक नामों का निरूपण किया गया है। जैसे—क्रोध, कोप, रोष, अक्षमा, कलह, विवाद आदि। मान के मान, मद, दर्प, स्तम्भ, परिभव आदि। माया के माया, निकृति, वंचना, सातियोग, अनृजुता आदि। लोभ के लोभ, राग निदान, प्रेयस्, मूर्च्छा आदि। इन विविध नामों के द्वारा कषायविषयक अनेक ज्ञातव्य बातों की नवीन जानकारी दी गई है।

दर्शन मोहोपशमना अधिकार—

जिस कर्म के उदय से जीव को अपने स्वरूप का दर्शन, साक्षात्कार, यथार्थ प्रतीति या श्रद्धान नहीं होने पाता है, उसे दर्शन मोह कर्म कहते हैं। काललब्धि पाकर जब कोई संज्ञी, पंचेन्द्रिय भव्य जीव तीन करण—परिणामों के द्वारा दर्शन मोह कर्म के परमाणुओं का एक अन्तमुहूर्त के लिए अन्तररूप अभाव करके उपशान्त दशा को प्राप्त करता है तब उसे दर्शनमोह की उपशमा कहते हैं। दर्शनमोह की उपशमना करने वाले जीव के कौन सा योग, कौन सा उपयोग, कौन सी कषाय, कौन सी लेश्या और कौन सा वेद होता है, इन सब बातों का विवेचन करते हुए उन अध:करणादि परिणामों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिनके द्वारा यह जीव अलब्ध-पूर्व सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त करता है। दर्शनमोह की उपशमना जीव कर सकते हैं किन्तु उन्हें संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, साकारोपयोगी, जागृत, प्रवर्धन, विशुद्ध परिणामी और शुभ लेश्या वाला होना चाहिए। अधिकार के अन्त में इस उपशम सम्यक्त्वी के कुछ विशिष्ट कार्यों और अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

दर्शन मोह क्षपणा अधिकार—

ऊपर जिस दर्शनमोह की उपशम अवस्था का वर्णन किया गया है वह अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है और फिर वह जीव पहले जैसा ही आत्मदर्शन से वंचित हो जाता है। आत्म साक्षात्कार सदा बना रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उस दर्शनमोह कर्म का सदा के लिए क्षय कर दिया जावे। इसके लिए जिन खास बातों की आवश्यकता होती है, उन सबका विवेचन इस अधिकार में किया गया है। दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य ही कर सकता है। हाँ, उसकी पूर्णता चारों गतियों में की जा सकती है। दर्शन मोह की क्षपणा का प्रारम्भ करने वाले मनुष्य के कम से कम तेजोलेश्या अवश्य होनी चाहिए । दर्शनमोह की क्षपणा का काल अन्तर्मुहूर्त है । इस क्षपण क्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही यदि उस मनुष्य की मृत्यु हो जाय तो वह अपनी पूर्वबद्ध आयु के अनुसार यथासम्भव चारों ही गतियो में उत्पन्न होकर शेष क्षपण क्रिया को पूरी करता है। मनुष्य जिस भाव में दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ करता है, इसके अतिरिक्त अधिक से अधिक तीन भव धारण करके संसार से मुक्त हो जाता है । इस दर्शनमोह की क्षपणा के समय अधकरणादि परिणामों को करते हुए अन्तरंग में कौन-कौन सी सूक्ष्म क्रियाएँ होती हैं, इनका अति गहन और विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है।

संयमासंयमलब्धि अधिकार—

जब आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और वह मिथ्यात्व रूप कर्दम (कीचड़) से निकलकर बाहर आता है तो वह दो बातों का प्रयास करता है—एक तो यह कि मेरा पुन: मिथ्यात्व कर्दम में पतन न हो और दूसरा यह कि लगे हुए कीचड़ को धोने का प्रयत्न करता है । इसके लिए एक ओर जहाँ वह अपने सम्यक्त्व को दृढ़तर करता है, वहीं दूसरी ओर सांसारिक विषय वासनाओं से जितना भी संभव होता है अपने को बचाते हुए लगे सलिल—कर्दम को उत्तरोत्तर धोने का प्रयत्न करता है। इसी को संयमासंयमलब्धि कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के अभाव से देशसंयम को प्राप्त करने वाले जीव के जो विशुद्ध परिणाम होते हैं उसे संयमासंयम या देशसंयम लब्धि कहते हैं। इसके निमित्त से जीव श्रावक के व्रतों को धारण करने में समर्थ होता है। इस अधिकार में संयमासंयम लब्धि के लिए आवश्यक सर्व कार्य विशेषों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

संयमलब्धि अधिकार—

यद्यपि गुणधराचार्य ने संयमासंयम और संयम इन दोनों लब्धियों को एक ही गाथा में निर्दिष्ट किया है और चूर्णिकार यतिवृषभाचार्य ने संयम के भीतर ही चारित्र मोह की उपशमना और क्षपणा का विधान किया है तथापि जयधवलाकार ने संयमालब्धि का स्वतन्त्र अधिकार के रूप में वर्णन किया है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव होने

पर आत्मा में संयमालब्धि प्रकट होती है, जिससे आत्मा की प्रवृत्ति हिंसादि असंयम से दूर होकर संयम धारण करने की ओर होती है। संयम के धारण कर लेने पर भी कषायों के उदयानुसार परिणामों का कैसा उतार-चढ़ाव होता है, इन सब बातों का प्रकृत अधिकार में विस्तृत विवेचन करते हुए संयमलब्धि स्थानों के भेद बतलाकर अन्त में उनके अल्पबहुत्व का वर्णन किया गया है।

चारित्र मोहोपशमना अधिकार—

चारित्र मोहकर्म के उपशम का विधान करते हुए बतलाया गया है कि उपशम कितने प्रकार का होता है, किस-किस कर्म का उपशम होता है, विवक्षित चारित्र मोह प्रकृति की स्थिति से कितने भाग का उपशम करता है, कितने भाग का संक्रमण करता है और कितने भाग की उदीरणा करता है। विवक्षित चारित्र मोहनीय प्रकृति का उपशम कितने काल में करता है, उपशम करने पर संक्रमण और उदीरणा कब करता है ? उपशम के आठ कारणों में से कब किस कारण की व्युच्छित्ति होती है, इत्यादि प्रश्नों का उद्भावन करके विस्तार के साथ उन सबका समाधान किया गया है। अन्त में बतलाया गया है कि उपशामक जीव वीतराग दशा को प्राप्त करने के बाद भी किस कारण से नीचे के गुणस्थानों में से नियम से गिरता है और उस समय उससे कौन-कौन से कार्य विशेष किस क्रम से प्रारंभ होते हैं।

चारित्रमोह क्षपणा अधिकार—

चारित्र मोह कर्म की प्रकृतियों का क्षय किस क्रम से होता है, किस प्रकृति के क्षय होने पर कहाँ, कितना स्थिति-बन्ध और स्थिति सत्त्व रहता है, इत्यादि अनेक आन्तरिक कर्मविशेषों का इस अधिकार में बहुत गहन, सूक्ष्म एवं अद्वितीय विस्तृत वर्णन किया गया है। अन्त में बतलाया गया है कि जब तक यह जीव कषायों का क्षय हो जाने पर और वीतराग दशा के पालने पर भी छद्मस्थ पर्याप्त से नहीं निकलता है तब तक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्म का नियम से वेदन करता है। तत्पश्चात् द्वितीय शुक्लध्यान से इन तीनों घातिया कर्मों का भी अन्तर्मुहूर्त में ही समूल नाश करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त वीर्यशाली होकर धर्मोपदेश करते हुए वे आर्यक्षेत्र में आयुष्य के पूर्ण होने तक विहार करते हैं।

मूल कसायपाहुडसुत्त यहीं पर समाप्त हो जाता है किन्तु इसके पश्चात् भी वीतराग केवली के चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं, उनकी क्षपणविधि बतलाने के लिए चूर्णिकार ने पश्चिमस्कन्ध अधिकार कहा।

पश्चिम स्कन्ध अधिकार—

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी सयोगी जिन अपनी आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाने पर पहले आवर्जित करण करते हैं और तृतीय शुक्लध्यान का आश्रय लेकर केवलि समुद्घात के द्वारा नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा करके उनकी स्थिति को अन्तुर्मुहूर्त प्रमाण कर देते हैं। पुनः चौथे शुक्लध्यान का आश्रय लेकर योग निरोध के लिए आवश्यक सभी क्रियाओं को करते हुए अयोगी जिन की दशा का अनुभव कर शरीर से मुक्त हो जाते हैं और सदा के लिए अजर-अमर बन जाते हैं।

4.4 कसायपाहुड़ की जयधवला टीका—

कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण टीका लिखी गयी है, उसका नाम 'जयधवला' है।

जयधवला टीका की शैली व्याख्यानात्मक है। इसमें प्राकृत भाषा की बहुलता होते हुए भी बीच में कहीं-कहीं संस्कृत भाषा का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है। जयधवला टीका में दुर्गम विषय को भी सरल शैली में प्ररूपित किया गया है ताकि सर्वसाधारण, सहज एवं स्वाभाविक रूप से विषय का अर्थावबोध कर सके। जयधवला टीका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ग्रंथ के मूल सूत्रों में जो बातें सार रूप में कही गयी हैं उनका स्पष्ट, सुविस्तृत एवं सोदाहरण विवरण इस टीका में प्राप्त होता है।

4.5 नेमिचन्द्राचार्य कृत गोम्मटसार—

गोम्मटसार के दो भाग हैं, जो जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड नाम से विख्यात हैं। इसमें कुल 1705 गाथाएँ हैं, जिनमें 733 गाथाएँ जीवकाण्ड में हैं और 972 गाथाएँ कर्मकाण्ड में हैं।

1. जीवकाण्ड—इस खण्ड में षट्खण्डागम में वर्णित जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड, इन पाँच विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रथम गाथा में तीर्थंकर नेमि को नमस्कार करके जीव का कथन करने की प्रतिज्ञा की गयी है। दूसरी गाथा में उन 20 प्ररूपणाओं अर्थात् विवेचनीय विषयों का नामोल्लेख किया गया है, जिनमें जीव का कथन है।

2. कर्मकाण्ड—गोम्मटसार के द्वितीय भाग का नाम कर्मकाण्ड है। इसमें नौ विषयों का प्रतिपादन है, जो इस प्रकार हैं—1. प्रकृतिसमुत्कीर्तन, 2. बन्धोदयसत्त्व 3. सत्त्वस्थानभंग, 4. त्रिचूलिका 5. स्थानसमुत्कीर्तन, 6. प्रत्यय, 7. भावचूलिका 8. त्रिकरणचूलिका, 9. कर्मस्थिति रचना।

पंचभागहारचूलिका में यह स्पष्ट किया गया है कि जीवों के शुभाशुभ कर्म कर्ता के परिणामों के निमित्त से अन्य कर्म प्रकृतियों का परिणमन करते हैं, जैसे—यदि जीव का परिणाम शुभ है, तो अशुभ परिणमन रूप असातावेदनीय कर्म भी शुभसूचक सातावेदनीय कर्म में परिणत हो जाता है। इससे कर्म की संक्रमण अवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

4.6 पंचसंग्रह–

पंचसंग्रह में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं, जिनमें योगोपयोगमार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहु और बन्धविधि इन पाँच द्वारों का कथन किया गया है। योगोपयोगद्वार 4 से लेकर 33 तक की गाथाओं में वर्णित है। इसमें योग के 5 भेद किये गए हैं, जिनमें सत्य, असत्य, मिश्र और असत्यामृष ये चार-चार, इस प्रकार कुल आठ मनोयोग और वचनयोग के भेद हैं और वैक्रियिक, आहारक, औदारिक, मिश्र, शुद्ध एवं कार्मण आदि सात भेद काययोग के किये गए हैं।

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ–पंचसंग्रह की उपलब्ध टीकाओं में एक स्वोपज्ञवृत्ति तथा दूसरी मलयगिरि कृत टीका है। स्वोपज्ञवृत्ति नौ हजार श्लोक प्रमाण तथा मलयगिरि कृत टीका अट्ठारह हजार श्लोक प्रमाण है।

षट्खण्डागम, कसायपाहुड, गोम्मट्टसार प्रभृति ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य दिगम्बर जैन ग्रंथों में भी प्रकारान्तर से कर्मविषयक विवेचन मिलता है। जैसे—

1. मूलाचार—आचार्य श्री वट्टकेर स्वामी अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत मूलाचार में कर्म के लक्षण एवं उसके भेद-प्रभेदों पूतिकर्म, कृतिकर्म, चित्कर्म, पूजाकर्म एवं विनयकर्म आदि का विस्तृत वर्णन है।

2. समयसार—आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कृत समयसार में कर्म एवं उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी कृत प्रवचनसार मूल में कर्मसिद्धान्त जानने का प्रयोजन बताया गया है।

नियमसार एवं पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में भी कर्मविषयक विवेचन है।

3. सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपादस्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के टीका ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में द्रव्यभाव या जीव-अजीव कर्मों का विवेचन अच्छा किया गया है।

4. आप्तपरीक्षा—विद्यानन्दि कृत आप्तपरीक्षा में भी कर्म का पर्याप्त विवेचन मिलता है।

5. राजवार्तिक—आचार्य श्री अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थसूत्र के वार्तिक ग्रंथ राजवार्तिक में 'कर्म' शब्द की विस्तृत व्याख्या की गई है।

दिगम्बर परम्परा के कर्मविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों के ऐतिहासिक स्वरूप को देखने से ऐसा लगता है कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के लिप्यात्मक रचनाकाल तक कर्म सिद्धान्त की सभी महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ बन चुकी थीं। श्वेताम्बर

परम्परा के ग्रन्थों में उतनी सूक्ष्मता से प्रतिपादन नहीं हुआ है। एक मुख्य अन्तर, जो इन दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में है, वह कर्म सिद्धान्त के विवेचन की शैली से सम्बन्धित है। विद्वानों का मत है कि दिगम्बर साहित्य में कर्मविषयक तथ्यों को सूक्ष्म, गूढ़ एवं गम्भीर शैली में वर्णित किया गया है। कर्मसिद्धान्त को एक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों का विशेष योगदान है।

4.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-षट्खण्डागम ग्रंथ के मूल रचयिता आचार्य का क्या नाम है ?

(क) धरसेनाचार्य ☐
(ख) वीरसेनाचार्य ☐
(ग) पुष्पदन्त-भूतबली ☐

प्रश्न 2-जीवस्थान आठ अनुयोगद्वारों में विभक्त है, उसमें से सातवें अनुयोगद्वार का क्या नाम है ?

(क) क्षेत्रानुगम ☐
(ख) भावानुगम ☐
(ग) अन्तरानुगम ☐

प्रश्न 3-मार्गणाएँ कितनी होती हैं ?

(क) 14 ☐
(ख) 8 ☐
(ग) 5 ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-गुणस्थान कितने होते हैं ? नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 2-मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 3-षट्खण्डागम के द्वितीय खण्ड में किससे संबंधित जानकारी प्रदान की गई है ?

प्रश्न 4-गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कितने और कौन-कौन से विषयों का प्रतिपादन किया गया है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-बंधक और संक्रम अधिकार में किसका वर्णन है, विस्तार सहित परिभाषित कीजिए ?

इकाई–5 सामायिक विधि एवं ध्यान साधना

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) कृतिकर्मपूर्वक सामायिक विधि

(2) सामायिक के लिए योग्य काल-आसन-मुद्रा आदि

(3) ध्यान, ध्याता एवं ध्येय

(4) चिन्ता छोड़ो चिन्तन करो

(5) ध्यान के विषय में विशेष ज्ञातव्य

पाठ 1 – कृतिकर्मपूर्वक सामायिक विधि

1.1 जैन साधुओं की त्रिकालदेववन्दना ही त्रिकाल सामायिक है। यह देववन्दना कृतिकर्म विधिपूर्वक की जाती है।

कृतिकर्म क्या है ? देववन्दना की विधि क्या है ? देववन्दना का समय क्या है ? और किन-किन ग्रंथों में इसका कथन है ?

इन्हीं विषयों का वर्णन यहाँ षट्खण्डागम, कसायपाहुड़, मूलाचार, आचारसार, गोम्मटसार, चारित्रसार, अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों के आधार से प्रस्तुत है।

1.2 कृतिकर्म विधि-

श्रुतज्ञान द्वादशांगरूप है। इसे ग्यारह अंग और चौदह पूर्व नाम से भी जानते हैं। अथवा अंग और अंगबाह्य के नाम से श्रुतज्ञान के मूल में दो भेद करके अंग के 12 भेद और अंगबाह्य के 14 भेद किए हैं। कहीं पर अंगश्रुत और अनंगश्रुत ऐसे भी दो नाम कहे हैं। किन्हीं ग्रंथों में 14 अंगबाह्य श्रुत को प्रकीर्णक भी कहा है। अर्थात् 12 अंग से अतिरिक्त श्रुतज्ञान के अंगबाह्यश्रुत, अनंगश्रुत या प्रकीर्णक ऐसे तीन नाम हैं। षट्खण्डागम, धवला पुस्तक 1 में पहले अंगबाह्य के नाम कहे हैं व उनके लक्षण दिये हैं। पुनः अंगश्रुत के 12 भेद कहे हैं। यथा—

अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट नाम से अर्थाधिकार—श्रुतज्ञान के दो भेद हैं। इनमें अंगबाह्य के चौदह भेद हैं— 1. सामायिक, 2. चतुर्विंशतिस्तव, 3. वंदना, 4. प्रतिक्रमण, 5. वैनयिक, 6. कृतिकर्म, 7. दशवैकालिक, 8. उत्तराध्ययन, 9. कल्पव्यवहार, 10. कल्पाकल्प, 11. महाकल्प, 12. पुण्डरीक, 13. महापुण्डरीक और 14. निषिद्धिका।

अंगप्रविष्ट के 12 भेद हैं—1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग 5. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, 6. नाथधर्मकथांग, 7. उपासकाध्ययनांग, 8. अंतःकृद्दशांग, 9. अनुत्तरौपपादिकदशांग, 10. प्रश्नव्याकरणांग, 11. विपाकसूत्रांग और 12. दृष्टिवादांग।

इनमें से बारहवें अंग दृष्टिवाद के 5 भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

चतुर्थ भेदरूप पूर्वगत के 14 भेद हैं, जो कि चौदह पूर्व कहलाते हैं। इनके नाम- 1. उत्पादपूर्व 2. अग्रायणीय पूर्व 3. वीर्यानुप्रवाद, 4. अस्तिनास्तिप्रवाद, 5. ज्ञानप्रवाद, 6. सत्यप्रवाद, 7. आत्मप्रवाद, 8. कर्मप्रवाद, 9. प्रत्याख्यान, 10. विद्यानुप्रवाद, 11. कल्याणवाद, 12. प्राणावाय, 13. क्रियाविशाल और 14. लोकविंदुसार पूर्व हैं।

ऐसा ही क्रम षट्खण्डागम पुस्तक नवमीं में दिया है।

वहाँ पर अंगश्रुत और अनंगश्रुत ऐसे नाम दिये हैं। पुनः अनंगश्रुत अर्थात् अंगबाह्य- श्रुत के सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि चौदह भेद अनंतर अंगश्रुत के आचारांग आदि 12 भेद करके दृष्टिवाद नाम के अंग में पाँच भेदों में से चौथे भेदरूप पूर्वगत के उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व बताये हैं।

गोम्मटसार जीवकांड में गाथा 356 से लेकर गाथा 366 तक द्वादशांग व बारहवें अंग के पाँच भेद तथा चौदह पूर्वों का

वर्णन किया है। पुनः सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि चौदह भेदों को अंगबाह्य नाम से लिया है।

"तत्त्वार्थवार्तिक' ग्रंथ में—

"श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्"। सूत्र की टीका में श्री अकलंकदेव ने विस्तृत विवेचन किया है। अर्थात् श्रुतज्ञान के मूल में दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य अनेक प्रकार का है और अंगप्रविष्ट के 12 भेद हैं। अंगप्रविष्ट का लक्षण देखिए—

अंगप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तागणधरानुस्मृतग्रंथ-रचनं। भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवाग्गङ्गार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनं आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते।

बुद्धि आदि अतिशय वाले गणधरों के द्वारा रचित अंगप्रविष्ट 12 प्रकार का है। भगवान अर्हन्त सर्वज्ञदेवरूपी हिमाचल से निकली हुई वचनरूपी गंगा के अर्थरूपी निर्मल जल से जिनका अन्तःकरण प्रक्षालित है, ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रंथरूप से रचित आचारादि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं।

पुनः अंगबाह्य का लक्षण देखिए-

आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्। यद् गणधरशिष्य-प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थ-मुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्।

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात्। तदङ्गबाह्यमनेकविधम्—कालिकमुत्कालिकमित्येवमादिविकल्पात्। स्वाध्यायकाले नियतकालं कालिकम्। अनियतकालमुत्कालिकम्। तद्भेदा उत्तराध्यनादयोऽनेकविधाः।

आरातीय आचार्यकृत अंग अर्थ के आधार से रचे गये ग्रंथ अंगबाह्य हैं। श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधरदेव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु-बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं।

कालिक, उत्कालिक आदि विकल्प से अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं। स्वाध्यायकाल में जिनके पठन-पाठन का नियम (नियतकाल) है, वे कालिक कहलाते हैं तथा जिनके पठन-पाठन का कोई नियत समय न हो, वे उत्कालिक हैं। उत्तराध्ययन आदि अनेक प्रकार के अंगबाह्य ग्रंथ हैं।

यहाँ हमें यह चिंतन करना है कि जो 'आचारांग' नाम से पहला अंगश्रुत है। इसमें मुनियों के मूलगुण-उत्तरगुण व देववंदना विधि, कृतिकर्मविधि आदि का विस्तार से कथन होगा ही होगा। पुनश्च 'उपासकाध्ययन' नाम के सातवें अंग में श्रावकों की ग्यारह (11) प्रतिमाओं का एवं दान, पूजा आदि क्रियाओं का विस्तृत विवेचन है, उनमें श्रावकों के लिए 'कृतिकर्म विधि' का वर्णन है।

फिर भी अंगबाह्य में जो "कृतिकर्म" नाम से छठा भेद है, उसका लक्षण आगम में वर्णित है। वास्तविकता यह है कि दिगम्बर जैन परम्परा में अंग और पूर्वों के श्रुत-शास्त्र आज नहीं है क्योंकि यह ज्ञान इतना विस्तृत है कि मौखिक ही श्रुतज्ञानी महामुनियों को प्राप्त था। इस युग में अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु महामुनि लगभग 2000 (दो हजार) वर्ष पूर्व हुए हैं। उनके बाद अंग-पूर्वों के अंश-अंश आदि के ज्ञाता महामुनि हुए हैं। उन्हीं का अंश-अंश श्रुतज्ञान आज शास्त्रों में निबद्ध है।

तात्पर्य यह है कि आज जो भी कसायपाहुड़, षट्खण्डागम आदि शास्त्र हैं, वे सब द्वादशांग के और अंगबाह्य के अंश ही हैं, अतः वे सब पूर्ण प्रमाण हैं।

"कृतिकर्म" नामक अंगबाह्य श्रुत में वर्णित जो विषय है, उसका संक्षिप्त उल्लेख धवला, जयधवला आदि ग्रंथों में है।

1.3 कृतिकर्म का लक्षण—

''कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदम्बकेन परिणामेन क्रियया वा तत् कृतिकर्म पापविनाशनोपायः।''

जिन अक्षरसमूह से या जिनपरिणामों से या जिनक्रियाओं से आठ प्रकार के कर्म काटे जाते हैं—छेदे जाते हैं, उसका नाम ''कृतिकर्म'' है अर्थात् पापविनाश का उपाय ही कृतिकर्म है।

1.4 कृतिकर्म के भेद—

मूल में कृतिकर्म के यहाँ पर दो भेद विवक्षित हैं—देववन्दना, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में भक्ति पढ़ने के प्रारंभ में प्रतिज्ञा से लेकर भक्तिपाठ से पूर्व तक जो विधि होती है, वह प्रथम भेद है।

प्रथम भेद—

किदियम्मं अरहंत-सिद्धाइरिय-उवझाय-गणचिंतय-गणवसहाईणं कीरमाण-पूजाविहाणं वण्णेदि।

कृतिकर्म अधिकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गणचिन्तक (साधु संघ के कार्यों की चिन्ता करने वाले) और गणवृषभ (गणधर) आदिकों की, की जाने वाली पूजा के विधान का वर्णन करता है।

सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवपर्यंतःकृतिकर्मेत्युच्यते।

''सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तवपर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं।''

दोणदं तु जधाजादं वारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्धिं च किदियम्मं पउंजदे।।603।।

''यथाजात मुद्राधारी साधु मनवचनकाय की शुद्धि करके दो प्रणाम, बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करें।'' अर्थात् किसी भी क्रिया के प्रयोग में पहले प्रतिज्ञा करके भूमिस्पर्शरूप पंचांग नमस्कार किया जाता है, जैसे—

''अथ पौर्वाण्हिकदेववन्दनाक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजा-वंदनास्तवसमेतं चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं'' ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है। पुनः **''णमो अरिहंताणं''** से लेकर **''तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि''** पाठ बोला जाता है इसे सामायिक स्तव कहते हैं। इसमें **''णमो अरिहंताणं''** पाठ प्रारंभ करते समय तीन आवर्त करके एक शिरोनति की जाती है, पुनः पाठ पूरा करके तीन आवर्त एक शिरोनति की जाती है। फिर कायोत्सर्ग करके पंचांग प्रणाम किया जाता है पुनः **''थोस्सामि''** इत्यादि चतुर्विंशति स्तव के प्रारंभ में तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनन्तर प्रणाम, ऐसे दो प्रणाम हुए। सामायिक दण्डक के आदि-अन्त में और थोस्सामि स्तव के आदि-अन्त में ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुए तथा प्रत्येक में एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति हो गईं।

सामायिक के लिए आवश्यक जानकारी—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम्।।2।।

तथा–''आदाहीणं, पदाहीणं, तिक्खुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं, वारसावत्तं, चेदि।''

(1) वन्दना करने वाले की स्वाधीनता (2) तीन प्रदक्षिणा (3) तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग (4) तीन निषद्या–1. ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनन्तर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी क्रिया-विज्ञापन करना 2. चैत्यभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरुभक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना 3. पंचगुरुभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना (5) चार शिरोनति (6) बारह आवर्त। यही सब सामायिक विधि में आता है।

कसायपाहुड़ पु. 1 में वर्णित कृतिकर्म सामायिक विधि को बतलाता है। यही वर्णन षट्खण्डागम (धवला टीका सहित) पुस्तक 13 में वर्णित है।

1.5 सामायिक कब और कैसे करें?—

साधुओं की सामायिक और देववंदना एक है। विधिवत् देववंदना करना इसी का नाम सामायिक है। **'सत्त्वेषु मैत्रीं'** आदि पाठ पढ़कर जाप्य आदि करके सामायिक करना और देवदर्शन के समय देववंदना क्रिया करना ऐसा नहीं है प्रत्युत त्रिकाल सामायिक के समय ही तीन बार देववंदना का विधान है। उसी को यहाँ सप्रमाण दिखाया जाता है।

मूलाचार में श्रीकुन्दकुन्ददेव ने अट्ठाईस मूलगुणों का वर्णन करते हुए समता नाम के आवश्यक का लक्षण किया है-

जीविदमरणे लाभा-लाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु, समदा सामाइयं णाम।।

इसकी टीका में श्री वसुनंदि आचार्य ने कहा है-

''सामाइयं णाम-सामायिकं नाम भवति। जीवितमरणलाभालाभ-संयोगविप्रयोगबन्ध्वरिसुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकाल-देववंदनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवति।''

अभिप्राय यह है कि जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, बंधु-शत्रु और सुख-दुःख आदि में जो समान परिणाम का होना है **''और त्रिकाल में देववंदना करना है वह सामायिक व्रत है।''**

अन्यत्र सामायिक के नियतकालिक-अनियतकालिक ऐसे दो भेद करके नियतकालिक में त्रिकालदेववंदना और अनियतकालिक में समताभाव को रखना ऐसा कहा है।

आचारसार ग्रंथ में सामायिक आवश्यक का वर्णन करते हुए सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीवीरनंदि आचार्यदेव ने तीर्थक्षेत्र या जिनमंदिर में जाकर विधिवत् ईर्यापथशुद्धि और चैत्य-पंचगुरुभक्ति करने का आदेश दिया है।

त्रिसंध्यं वंदने युंज्यात्, चैत्यपंचगुरुस्तुती।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वंते दोषविशुद्धये।।13।।

तीनों सन्ध्या संबंधी जिनवन्दना में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़ें तथा वृहद्भक्तियों के अन्त में पाठ की हीनाधिकतारूप दोषों की विशुद्धि के लिए प्रियभक्ति (समाधिभक्ति) करना चाहिए।

1.6 वन्दना योग्य मुद्रा—

मुद्रा के चार भेद हैं—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा। इन चारों मुद्राओं का लक्षण क्रम से कहते हैं।

जिनमुद्रा—दोनों पैरों में चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटकाकर कायोत्सर्गरूप से खड़े होना सो जिनमुद्रा है। **योगमुद्रा**—पद्मासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियों को चित रखने को जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं। **वन्दना मुद्रा**—दोनों हाथों को मुकुलितकर और कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए पुरुष के वन्दना मुद्रा होती है। **मुक्ताशुक्तिमुद्रा**—दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर और दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए को आचार्य मुक्ताशुक्तिमुद्रा कहते हैं।

देववन्दना के लिए जिनमंदिर में पहुँचकर हाथ-पैर धोकर 'निःसहि' का तीन बार उच्चारण कर जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करें। अनंतर **''दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि''** इत्यादि स्तोत्र को पढ़ते हुए चैत्यालय की तीन प्रदक्षिणा देवें। पुनः **'निःसंगोऽहं जिनानां''** इत्यादि दर्शनस्तोत्र पढ़कर यदि खड़े होकर सामायिक करना है तो खड़े होकर **''ईर्यापथशुद्धि पाठ''** से सामायिक शुरू करें। यदि खड़े होकर सामायिक करने की शक्ति नहीं है तो बैठकर करें।

बैठकर भी देववन्दना करने का विधान—

''साधुः पुनर्वंदनां यथोक्तविशेषणविशिष्टः-सपर्यंकः सप्रतिलेखन-मुकुलितवत्सोत्संगितकरः कुर्यात् । कया? अशक्त्या। उद्भो यदि वंदितुं न शक्नुयादित्यर्थः।''

साधु यदि खड़े होकर वंदना नहीं कर सकते हैं-असमर्थ हैं तो पर्यंकासन से बैठकर, पिच्छी लेकर, मुकुलित हाथ जोड़कर वक्षःस्थल के पास रखकर देववंदना करें।

चैत्यभक्ति में तीन प्रदक्षिणा —

चैत्यभक्ति पढ़ते-पढ़ते जिनप्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा देने का भी विधान है।

दीयते चैत्यनिर्वाण-योगिनंदीश्वरेषु हि।
वंद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा।।

चैत्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, योगिभक्ति और नन्दीश्वरभक्ति पढ़ते-पढ़ते मंदिर में, निर्वाणक्षेत्रों में, योगियों की व जिनबिम्बों की प्रदक्षिणा करना चाहिए।

1.7 णमोकार महामंत्र एवं चत्तारिमंगल पाठ—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

चत्तारि मंगलं—अरिहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहु मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहु लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहु सरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि। अनादि सिद्धमंत्रः।

(हस्तलिखित वसुनंदि प्रतिष्ठासार संग्रह)

इसलिए ये महामंत्र और चत्तारि मंगल पाठ अनादि निधन है, ऐसा स्पष्ट है।

वर्तमान में विभक्ति लगाकर 'चत्तारिमंगल पाठ' —नया पाठ पढ़ा जा रहा है। जो कि विचारणीय है। यह पाठ 40-50 वर्षों से अपनी दिगम्बर जैन परम्परा में आया है। देखें प्रमाण—'ज्ञानार्णव' जैसे प्राचीन ग्रंथ में बिना विभक्ति का प्राचीन पाठ ही है। यह विक्रम सम्वत् 1963 से लेकर कई संस्करणों में वि.सं. 2054 तक में प्रकाशित है। प्रतिष्ठातिलक जो कि वीर निर्वाण सं. 2451 में सोलापुर से प्रकाशित है, उसमें भी यही प्राचीन पाठ है। आचार्य श्री वसुविंदु-अपरनाम जयसेनाचार्य द्वारा रचित 'प्रतिष्ठापाठ' जो कि वीर निर्वाण सं. 2452 में प्रकाशित है। उसमें भी प्राचीन पाठ ही है। हस्तलिखित 'श्री वसुनंदिप्रतिष्ठापाठ संग्रह' में भी प्राचीन पाठ है। प्रतिष्ठासारोद्धार जो कि वीर निर्वाण सं. 2443 में छपा है, उसमें भी यही पाठ है। 'क्रियाकलाप' जो कि वीर निर्वाण सं. 2462 में छपा है, उसमें भी तथा जो 'सामायिकभाष्य' श्री प्रभाचंद्राचार्य द्वारा 'देववंदना' की संस्कृत टीका है, उसमें भी अरहंत मंगलं-अरहंत लोगुत्तमा,..... अरहंत सरणं पव्वज्जामि, यही पाठ है।

यहाँ प्रसंगोपात्त लघु सामायिक पाठ कृतिकर्म विधि सहित प्रस्तुत है। सामायिक का सम्पूर्ण पाठ जो प्रतिदिन साधु-साध्वियाँ त्रिकाल में करते हैं उसे मुनिचर्या या सामायिक विधि नाम की पुस्तकों से (जम्बूद्वीप से प्रकाशित) देखना चाहिए।

लघु सामायिक पाठ-

(सामायिक प्रारंभ करने से पूर्व गमन-आगमन आदि में हुये जीव विराधना आदि दोषों की शुद्धि के लिये 'ईर्यापथ शुद्धि' पाठ किया जाता है)

ईर्यापथ शुद्धि पाठ

दडिक्कमामि भंते ! इरियावहियाए विराहणाए अणागुत्ते अइगमणे, णिग्गमणे, ठाणे, गमणे, चंकमणे, पाणुग्गमणे,

बीजुग्गमणे, हरिदुग्गमणे, उच्चार–पस्सवण–खेल सिंहाणयवियडिय पइट्ठावणियाए, जे जीवा एइंदिया वा, बेइंदिया वा, तेइंदिया वा, चउरिंदिया वा, पंचिंदिया वा, णोल्लिदा वा, पेल्लिदा वा, संघट्टिदा वा, संघादिदा वा, उद्दाविदा वा, परिदाविदा वा, किरिच्छिदा वा, लेस्सिदा वा, छिंदिदा वा, भिंदिदा वा, ठाणदो वा, ठाणचंकमणदो वा, तस्सउत्तरगुण, तस्स पायच्छित्तकरणं, तस्स विसोहिकरणं, जाव अरहंताण भयवंताणं णमोक्कारं पज्जुवासं करेमि, तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(२७ श्वोच्छ्वास में ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य)

आलोचना-पद्यानुवाद (गवासन से बैठकर)

ईयापथ से गमन में, मैंने किया प्रमाद।
एकेन्द्रिय आदिक सभी, जीवों का जो घात।।१।।

किया यदी चउ हाथ प्रम, नहीं भूमि को देख।
गुरु भक्ती से पाप सब, हों मिथ्या मम देव।।२।।

भगवन् ! ईर्यापथ आलोचन करना चाहूँ मैं रुचि से।
पूर्वोत्तर दक्षिण पश्चिम चउदिश विदिशा में चलने से।।३।।

चउकर देख गमन भव्यों का होता पर प्रमाद से मैं।
शीघ्र गमन से प्राण भूत अरु जीव सत्व को दुःख दीने।।४।।

यदि किया उपघात कराया अथवा अनुमति दी रुचि से।
श्री जिनवर की कृपा दृष्टि से सब दुष्कृत मिथ्या होवें।।५।।

नमोस्तु भगवन्! देववन्दनां करिष्यामि।
सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थं सिद्धेः कारणमुत्तमम्।
प्रशस्तदर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपादनम्।।१।।

सुरेन्द्रमुकुटाश्लिष्टपादपद्मांशुकेशरम्।
प्रणमामि महावीरं, लोकत्रितयमंगलम्।।२।।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केणवि।।३।।

राग बंध अरु प्रदोष हर्षे, दीन भाव उत्सुकता को।
भय अरु शोक रती अरती को त्याग करुं दुर्भावों को।।४।।

हा ! दुष्कृत किये हो ! दुश्चिंते, हा ! दुर्वचन कहे मैंने।
कर कर पश्चाताप हृदय में, झुलस रहा हूँ मैं मन में।।५।।

द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव से, कृत अपराध विशोधन को।
निन्दा गर्हा से युत हो, प्रतिक्रमण करुँ मन वच तन सों।।६।।

सभी प्राणियों में समता हो, संयम हो शुभ भाव रहे।
आर्तरौद्र दुर्ध्यान त्याग हो, यही श्रेष्ठ सामायिक है।।७।।

भगवन्नमोस्तु प्रसीदंतु प्रभुपादौ :, वंदिष्येऽहं एषोऽहं सर्वसावद्ययोगाद्विरतोस्मि।

अथ पौर्वाण्हिकदेववंदनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पंचांग नमस्कार करके तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्तिमुद्रा–दोनों हाथ मिलाकर जोड़कर सामायिक दण्डक पाठ पढ़ें।)

सामायिक दंडक (पद्यानुवाद)

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं।।

चत्तारि मंगलं–अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा–अरहंत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि–अरहंत सरणं पव्वज्जामि, सिद्ध सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि।

जाव अरहंताणं, भयवंताणं, पज्जुवासं करेमि ताव कालं पाव कम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके ९ बार णमोकार मंत्र का जाप्य, तीन आवर्त एक शिरोनति करके मुक्ताशुक्ति मुद्रा से थोस्सामिस्तव पढ़ें।)

–थोस्सामिस्तव–

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवर लोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे।।
लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो।।

(तीन आवर्त एक शिरोनति करके वंदना मुद्रा से कमल के समान मुकुलित हाथ जोड़कर चैत्यभक्ति पढ़ें।)

–चैत्यभक्ति–

आज से २५७० वर्ष पूर्व श्री गौतम गणधर के मुखकमल से निकली यह चैत्यभक्ति है इसमें ३५ काव्य हैं यहाँ एक काव्य दिया गया है।)

–हरिणीछंद–

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ ।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताःपरस्परवैरिणो
विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।१।।

हिन्दी पद्यानुवाद–कुसुमलताछंद–

जय हे भगवन् ! चरण कमल तव, कनक कमल पर करें विहार।
इन्द्रमुकुट की कांति प्रभा से, चुंबित शोभें अति सुखकार।।
जातविरोधी कलुषमना, क्रुध मान सहित जन्तूगण भी।
ऐसे तव पद का आश्रय ले, प्रेम भाव को धरें सभी।।१।।

यावन्ति जिनचैत्यानि, विद्यन्ते भुवनत्रये।
तावन्ति सततं भक्त्या, त्रिःपरीत्य नमाम्यहं।।

आलोचना या अंचलिका
(गवासन से बैठकर अंचलिका पढ़ें)

भगवन् ! चैत्यभक्ति अरु कायोत्सर्ग किया उसमें जो दोष।
उनकी आलोचन करने को, इच्छुक हूँ धर मन सन्तोष।।१।।

अधो मध्य अरु ऊर्ध्वलोक में, अकृत्रिम कृत्रिम जिनचैत्य।
जितने भी हैं त्रिभुवन के, चउविध सुर करें भक्ति से सेव।।२।।
भवनवासि व्यंतर ज्योतिष, वैमानिक सुर परिवार सहित।
दिव्य गंध सुम धूप चूर्ण से, दिव्य न्हवन करते नितप्रति।।३।।
अर्चें पूजें वंदन करते, नमस्कार वे करें सतत।
मैं भी उन्हें यहीं पर अर्चूं, पूजूँ वंदूँ नमूँ सतत।।४।।
दु:खों का क्षय कर्मों का क्षय, होवे बोधि लाभ होवे।
सुगतिगमन हो समाधिमरणं, मम जिनगुण संपत् होवे।।५।।

(पंचागं नमस्कार पढ़ें)

अथ पौर्वाण्हिकदेववन्दनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं पंचगुरुभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्व में कही विधि से 'सामायिक दण्डक' पढ़कर ९ बार णमोकार मंत्र जपकर पुन: विधिवत् 'थोस्सामि स्तव' पढ़कर वंदनामुद्रा करके पंचगुरुभक्ति पढ़ें)

पंचगुरुभक्ति पद्यानुवाद

हिन्दी पद्यानुवाद–

प्रातिहार्य से युत अर्हंतों, को अठगुण युत सिद्धों को।
वंदूं अठ प्रवचनमाता से, संयुत श्री आचार्यों को।।
शिष्यों से युत पाठकगण को, अष्टयोग युत साधू को।
वंदूं पंचमहागुरुवर को, त्रिकरण शुचि से मुद मन हो।।

(गवासन से बैठकर अंचलिका पढ़ें)

अंचलिका

भगवन् ! पंचमहागुरु, भक्ति कायोत्सर्ग।
करके आलोचन विधि, करना चाहूँ सर्व।।१।।
अष्टमहाशुभ प्रातिहार्य, संयुत अर्हंत जिनेश्वर हैं।
अष्टगुणान्वित ऊर्ध्वलोक, मस्तक पर सिद्ध विराज रहें।।
अठ प्रवचनमाता संयुत हैं, श्री आचार्य प्रवर जग में।
आचारादिक श्रुतज्ञानामृत, उपदेशी पाठकगण हैं।।२।।
रत्नत्रय गुण पालन में रत, सर्वसाधु परमेष्ठी हैं।
नितप्रति अर्चूं पूजूं वंदूं, नमस्कार मैं करूँ उन्हें।।
दु:खों का क्षय कर्मों का क्षय, हो मम बोधिलाभ होवे।
सुगतिगमन हो समाधिमरण, मम जिनगुण संपत् होवे।।३।।

(पंचांग नमस्कार करें)

अथ पौर्वाण्हिकदेववंदनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्री चैत्यपंचमहागुरुभक्ती विधाय तद्धीनाधिकत्वादि दोषविशुद्धयर्थं आत्मपवित्रीकरणार्थं समाधिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।

(पूर्व के समान विधिवत् सामायिक दण्डक पढ़कर ९ बार णमोकार मंत्र जपकर पुन: विधिवत् थोस्सामिस्तव पढ़कर वंदना मुद्रा से समाधि भक्ति पढ़ें)

समाधि भक्ति

स्वात्मरूप के अभिमुख संवेदन, को श्रुत दृग से लखकर।
भगवन् ! तुमको केवलज्ञान, चक्षु से देखूं झट मनहर।।

अंचलिका

दोहा– भगवन! समाधिक भक्ति अरु, कायोत्सर्ग कर लेत।
चाहूँ आलोचन करन, दोष विशोधन हेत।।
रत्नत्रय स्वरूप परमात्मा, उसका ध्यान समाधि है।
नितप्रति उस समाधि को अर्चूं, पूंजूं वंदूं नमूँ उसे।।
दु:खों का क्षय कर्मों का क्षय, हो मम बोधिलाभ होवे।
सुगति गमन हो समाधिमरणं, मम जिनगुण संपत होवे।।

(पंचांग नमस्कार करके ध्यान करें या महामंत्र अथवा सिद्धचक्र मंत्र आदि का जाप्य करें)

नोट - यहाँ यह ध्यान रखना है कि प्रतिज्ञावाक्य में प्रात:काल की सामायिक के समय पौर्वाण्हिक देववन्दनायां, मध्यान्ह सामायिक में माध्यान्हिक देववंदनायां तथा सायंकालिक सामायिक में अपराण्हिक देववंदनायां बोलना चाहिए।

1.8 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-अंगबाह्य के कितने भेद हैं ?

(क) 10 ☐ (ख) 14 ☐ (ग) 12 ☐

प्रश्न 2-मूलाचार ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य वीरसेन ☐ (ख) आचार्य जिनसेन ☐ (ग) आचार्य कुन्दकुन्ददेव ☐

प्रश्न 3-मुद्रा के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) दो ☐ (ग) चार ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-अंग प्रविष्ट के 12 भेदों के नाम बताओ ?

प्रश्न 2-कृतिकर्म का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 3-सामायिक व्रत का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 4-मुक्ताशुक्तिमुद्रा किसे कहते हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-सामायिक कब और कैसे करना चाहिए ?

पाठ 2—सामायिक के लिए योग्य काल-आसन-मुद्रा आदि

2.1 कृति-कर्म—

सामायिक अथवा देववन्दना के समय संयतों और देश-संयतों को कृति-कर्म करना चाहिये । पाप कर्मों को छेदने वाले अनुष्ठान को कृति-कर्म कहते हैं अर्थात् जिन क्रियाओं से पाप कर्मों का नाश हो वह कृति-कर्म है। इस कृतिकर्म के सात भेद हैं। यथा—

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः ।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत्।।

अर्थात्—योग्यकाल, योग्यआसन, योग्यस्थान, योग्यमुद्रा, योग्यआवर्त, योग्यशिर, योग्यनति ये सात कृति-कर्म हैं। इसको नग्न-मुद्राधारी संयत, बत्तीस दोष रहित , विनयपूर्वक करे ।।1।।

2.2 योग्यकाल—

तिस्त्रोऽह्नोऽन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः।
मध्याह्नस्य च षट् कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने।।

अर्थात्—नित्यवन्दना के तीन काल हैं। पूर्वाह्नकाल, मध्याह्नकाल और अपराह्नकाल। ये तीनों काल छह-छह घड़ी के हैं। रात्रि की पीछे की तीन घड़ी और दिन की पहिली तीन घड़ी एवं छह घड़ी पूर्वाह्नवन्दना में उत्कृष्ट काल है । दिन की अन्त की तीन घड़ी और रात्रि की पहली तीन घड़ी एवं छह घड़ी अपराह्नवन्दना में उत्कृष्ट काल है तथा मध्य दिन की आदि अन्त की तीन-तीन घड़ी एवं छह घड़ी मध्याह्नवन्दना में उत्कृष्ट काल है। इस तरह सन्ध्यावन्दना में छह-छह घड़ी उत्कृष्ट काल है।।

2.3 योग्य-आसन—

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः।
तद्योग्यासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि।।

अर्थात्—वन्दना की निष्पत्ति के लिये वन्दना करने को उद्युक्त साधु , जिस देश में, जिस पीठ पर और जिन पद्मासनादि आसनों से बैठता है उसे योग्य आसन कहते हैं।।

2.4 वन्दनायोग्य-प्रदेश—

विविक्तः प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यः श्रेयो देशः समाधिचित्।।

अर्थात्—विविक्त—जिसमें अशिष्ट जन का संचार न हो , जो प्रासुक—सम्मूर्छन जीवों से रहित हो, संक्लेशकरण-रागद्वेष आदि से और क्लेशकारण—परीषहरूप उपसर्ग से रहित हो, पुण्य—वन, भवन,चैत्यालय,पर्वत की गुफा सिद्धक्षेत्रादि रूप हो, रम्य—चित्त को प्रफुल्लित करने वाला हो , मुमुक्षु पुरुषों के सेवन करने योग्य हो और प्रशस्त ध्यान को बढ़ाने वाला हो ऐसे देश की वन्दना करने वाला साधु वन्दना की सिद्धि के लिये आश्रय ले।।

2.5 वन्दनायोग्य-पीठ—

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम् ।
स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम्।।

अर्थात्— जो खटमल आदि प्राणियों से रहित हो, चर चर शब्द न करता हो, जिसमें छेद न हो, जिसका स्पर्श सुखोत्पादक हो, जिसमें कील कांटा वगैरह न हो, जो हिलता-डुलता न हो, निश्चल हो ऐसे तृणमय दर्भासन चटाई वगैरह, काष्ठमय— चौकी, तखत आदि, शिलामय— पत्थर की शिला जमीन आदि रूप पीठ की वन्दना करने वाला साधु वन्दना सिद्धि के लिये आश्रय ले अर्थात् तृणरूप, काष्ठरूप और शिलारूप पीठ पर बैठ कर नित्यवन्दना करे।।

2.6 वन्दनायोग्य पद्मासनादि—

पद्मासनं श्रितौ पादौ जंघाभ्यामुत्तराधरे।
ते पर्यंकासनं न्यस्तावूर्वोर्वीरासनं क्रमौ।।

अर्थात्— दोनों जंघाओं (गोड़ों) से दोनों पैरों के संश्लेष को पद्मासन कहते हैं अर्थात् दाहिनी जंघा के नीचे बायें पैर को करना और बाईं जंघा के नीचे दाहिने पैर को करना अथवा बाएँ पैर के ऊपर दाहिनी जंघा को करना और दाहिने पैर के ऊपर बाईं जंघा का करना सो पद्मासन है। जंघाओं को ऊपर नीचे रखने को पर्यंकासन कहते हैं अर्थात् बायें गोड़ के ऊपर दाहिने गोड़ को रखना सो पर्यंकासन है। दोनों उरु (जांघों) के ऊपर दोनों पैरों के रखने को वीरासन कहते हैं अर्थात् बायां पैर दाहिनी जांघ के ऊपर रखना और दाहिना पैर बायीं जांघ के ऊपर रखना सो वीरासन है।।

2.7 वन्दनायोग्य स्थान—

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम् ।
उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम्।।

अर्थात्— वन्दना करने वाला जिसमें खड़ा रहे या बैठे वह स्थान वन्दना में दो प्रकार का माना गया है। एक उद्भीभाव (खड़ा रहना) दूसरा निषद्या (बैठना) । इन दोनों स्थानों में से अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक का प्रयोग करना चाहिये।।

2.8 वन्दनायोग्य-मुद्रा—

मुद्रा के चार भेद हैं— जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा । इन चारों मुद्राओं का लक्षण क्रम से कहते हैं।

2.9 जिन-मुद्रा—

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम् ।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्।।

अर्थात्— दोनों पैरों का चार अंगुलप्रमाण अन्तर (फ़ासला) रखकर और दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर कायोत्सर्गरूप से खड़ा होना सो जिनमुद्रा है।।8।।

2.10 योगमुद्रा—

जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम् ।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे।।9।।

अर्थात्— पद्मासन, पर्यङ्कासन और वीरासन इन तीनों आसनों की गोद में नाभि के समीप दोनों हाथों की हथेलियों को चित रखने को जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं।।

2.11 वन्दनामुद्रा—

मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम् ।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदिता।।

अर्थात्—दोनों हाथों को मुकुलित कर और उनकी कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए पुरुष के वन्दना मुद्रा होती है।

भावार्थ—दोनों कुहनियों को पेट पर रखकर दोनों हाथों को मुकुलित करना सो वन्दना मुद्रा है।।

2.12 मुक्ताशुक्तिमुद्रा—

मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्।
ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नङ्गुलि सूरिभिः।।

अर्थात्—दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर और दोनों कुहनियों को उदर पर रखकर खड़े हुए को आचार्य मुक्ताशुक्तिमुद्रा कहते हैं।

भावार्थ—दोनों कुहनियों को पेट पर रखना और दोनों हाथों को जोड़ कर अंगुलियों को मिला लेना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है।

2.13 मुद्राओं का प्रयोगनिर्णय—

स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे ।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने।।

अर्थात्—"जयति भगवान्" इत्यादि चैत्यवन्दना करते समय वन्दनामुद्रा का प्रयोग करना चाहिये । "णमो अरहंताणं इत्यादि सामायिकदण्डक के समय और "थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवदंडक के समय मुक्ताशुक्ति मुद्रा का प्रयोग करना चाहिये । बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा का प्रयोग करना चाहिये तथा खड़े रह कर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा का प्रयोग करना चाहिये।

2.14 आवर्त का स्वरूप—

कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्।
स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः।।

अर्थात्—मन, वचन और काय के पलटने को आवर्त कहते हैं। ये आवर्त बारह होते हैं जो सामायिकदण्डक के प्रारम्भ और समाप्ति में तथा चतुर्विंशतिस्तवदण्डक के प्रारम्भ और समाप्ति के समय किये जाते हैं। जैसे-"णमो अरहंताणं" इत्यादि सामायिक दण्डक के पहले क्रिया विज्ञापनरूप मनोविकल्प होता है उस मनोविकल्प को छोड़कर सामायिकदंडक के उच्चारण के प्रति मन को लगाना सो मनःपरावर्तन है। उसी सामायिकदंडक के पहले भूमिस्पर्शनरूप नमस्कार किया जाता है उस वक्त वन्दनामुद्रा की जाती है उस वन्दनामुद्रा को त्यागकर पुनः खड़ा होकर मुक्ताशुक्तिमुद्रा-रूप दोनों हाथों को करके तीन बार घुमाना सो कायपरावर्तन है। "चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि उच्चारण को छोड़कर "णमो अरहंताणं" इत्यादि पाठ का उच्चारण करना सो वाक्परावर्तन है। इस तरह सामायिक दण्डक के पहले मन, वचन और काय परावर्तनरूप तीन आवर्त होते हैं। इसी तरह सामायिकदण्डक के अन्त में और स्तवदण्डक के आदि तथा अन्त में तीन-तीन आवर्त यथायोग्य होते हैं। एवं सब मिलकर एक कायोत्सर्ग में बारह आवर्त होते हैं।

त्रिः सम्पुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत्पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत् ।।

अर्थात्— मुकुलित दोनों हाथों को तीन बार घुमाकर सामायिकदंडक पढ़े । पढ़ कर फिर तीन बार घुमावे। चतुर्विंशतिस्तवदण्डक में भी इसी तरह करे । अर्थात् -मुकुलित दोनों हाथों को तीन बार घुमा कर चतुर्विंशतिस्तव दण्डक पढ़े । पढ़कर फिर मुकुलित दोनों हाथों को तीन बार घुमावे।

2.15 शिर-लक्षण—

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः।
यत्पाणिकुड्मलाङ्के तत् क्रियायां स्याच्चतुः शिरः।।

अर्थात्— तीन-तीन आवर्त के प्रति जो भक्तिपूर्वक शिर झुकाना है वह शिरोनति है। मुकुलित हाथ इसका चिन्ह है और ये चार बार शिरोनति चैत्यभक्त्यादि कायोत्सर्ग के समय की जाती हैं।

भावार्थ— सामायिकदण्डक के आदि में तीन आवर्त कर शिर झुकाकर नमस्कार करना। अन्त में तीन आवर्त कर शिर झुकाना। इसी तरह स्तवदण्डक के आदि में तीन आवर्त कर शिर झुकाना और अन्त में भी तीन आवर्त कर शिर झुकाना यह एक कायोत्सर्ग के प्रति चार शिरोनमन-शिरोनति होते हैं।।

चैत्यभक्ति आदि में दूसरी तरह से भी आवर्त होते हैं सो दिखाते हैं—

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत् ।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति।।

अर्थात्— चैत्यभक्त्यादि के करते समय हर एक प्रदक्षिणा में एक एक दिशा में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनमन करे ।

भावार्थ— एक प्रदक्षिणा देने में चारों दिशाओं में बारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं इसी तरह दूसरी तीसरी प्रदक्षिणा में तीन-तीन आवर्त और चार-चार शिरोनमन होते हैं अतः ये आवर्त और शिरोनमन पूर्वोक्त प्रमाण से अधिक हो जाते हैं सो दोष नहीं हैं।।

2.16 नति—

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती ।
वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते ।।

अर्थात्-सामायिकदण्डक और स्तुतिदण्डक के पहले भूमिस्पर्शरूप पंचांगप्रणाम करने से दो नति की जाती हैं। कोई-कोई आचार्य वन्दना के पहले और पीछे बैठकर प्रणाम करने से दो नती मानते हैं।

भावार्थ— सामायिकदण्डक के पहले और चतुर्विंशतिस्तवदण्डक के पहले दो बार पंचांगप्रणाम किया जाता है इसलिये दो शिरोनती होती हैं। स्वामी समन्तभद्रादिक का मत है कि वन्दना के प्रारम्भ में एक और समाप्ति में एक ऐसे दो प्रणाम बैठकर करना चाहिये इसलिये उनके मत से ये दो शिरोनती होती हैं।।

2.17 देववन्दना प्रयोग विधि—

त्रिसन्ध्यं वन्दने युञ्ज्याश्चैत्यपंचगुरुस्तुती।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये ।।

तथा—

जिणदेववन्दणाए चेदियभत्ती य पञ्चगुरुभत्ती ।।
ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका ।।

तीनों सन्ध्या सम्बन्धी जिनवन्दना में चैत्यभक्ति और पञ्चगुरुभक्ति तथा सभी बृहद्भक्तियों के अन्त में वन्दनापाठ की हीनाधिकतारूप दोषों की विशुद्धि के लिये प्रियभक्ति—समाधिभक्ति करना चाहिये ।

इस देववन्दना में छह प्रकार का कृतिकर्म भी होता है। यथा—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ता:।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम्।।2।।

तथा—

आदाहीणं, पदाहिणं, तिक्खुत्तं, तिऊणदं, चदुस्सिरं, वारसावत्तं, चेदि ।

(1) वन्दना करने वाले की स्वाधीनता,

(2) तीन प्रदक्षिणा,

(3) तीन भक्ति सम्बन्धी तीन कायोत्सर्ग

(4) तीन निषद्या—

(1) ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनन्तर बैठ कर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना,

(2) चैत्यभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना और पञ्चमहागुरुभक्ति संबंधी क्रिया विज्ञापन करना

(3) पञ्चमहागुरुभक्ति के अन्त में बैठ कर आलोचना करना,

(5) चार शिरोनति,

(6) और बारह आवर्त ।

2.18 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-कृतिकर्म के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) सात ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 2-नित्य वन्दना के कितने काल हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) दो ☐ (ग) एक ☐

प्रश्न 3-आसन कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) तीन ☐ (ग) आठ ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-वन्दना योग्य प्रदेश कौन से हैं ?

प्रश्न 2-जिनमुद्रा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3-आवर्त किसे कहते हैं ? एक कायोत्सर्ग में कितने आवर्त होते हैं ?

प्रश्न 4-शिरोनति का लक्षण क्या है एक कायोत्सर्ग में ये कितनी होती हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-देववन्दना में छह प्रकार का कृतिकर्म कौन सा है ? उनके नाम एवं लक्षण लिखें ?

पाठ 3 — ध्यान, ध्याता एवं ध्येय

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती रचित द्रव्यसंग्रह ग्रंथ में ध्यान का वर्णन निम्न प्रकार से आया है-

3.1 **मुनिवरगण ध्यान लगा करके, इन द्विविध मोक्ष के कारण को।**
जो निश्चय औ व्यवहार रूप, निश्चित ही पा लेते उनको।।
अतएव प्रयत्न सभी करके, तुम ध्यानाभ्यास करो नित ही।
सम्यक् विधि पूर्वक बार-बार, अभ्यास सफल होता सच ही।।

मुनिराज निश्चित ही ध्यान के द्वारा व्यवहार और निश्चय इन दोनों प्रकार के मोक्ष के कारण को प्राप्त कर लेते हैं इसलिए हे भव्य! तुम भी प्रयत्नपूर्वक चित्त को एकाग्र करके उस ध्यान का अभ्यास करो।

निश्चयरत्नत्रय ही निश्चयमोक्षमार्ग है और व्यवहाररत्नत्रय व्यवहारमोक्षमार्ग है। इनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। साधन से ही साध्य की सिद्धि होती है, इस नियम के अनुसार मुनिराज व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करते हैं। इन दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को ध्यान के बल पर ही प्राप्त किया जाता है इसलिए यहाँ आचार्यदेव ने ध्यान के लिए प्रेरणा दी है।

3.2 ध्यान करने वाला ध्याता पुरुष कैसा होना चाहिए ?—

सब इष्ट अनिष्ट पदार्थों में, मत मोह करो मत राग करो।
मत द्वेष करो इन तीनों का, जैसे होवे परिहार करो।।
इस विध के ध्यान सुसाधन के, हेतू यदि तुम अपने मन को।
स्थिर करना चाहो तो तुम, बस सब विभाव से दूर हटो।।

यदि तुम अनेक प्रकार का ध्यान सिद्ध करने के लिए मन को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग मत करो और द्वेष मत करो।

माता, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, मकान, चंदन, तांबूल, वस्त्र, आभूषण आदि पाँचों इन्द्रियों के लिए रुचिकर सामग्री इष्ट विषय है। इनसे विपरीत सर्प, विष, कांटा, शत्रु, रोग आदि अप्रिय वस्तुएँ अनिष्ट हैं।

मोह, राग और द्वेष इन इष्ट-अनिष्ट विषयों में ही होता है। इनके छोड़े बिना ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि ये सब वस्तुएँ और मोहादि आकुलता को उत्पन्न करते रहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के इच्छुक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह मन की एकाग्रता के लिए इन विषयों का त्याग कर देवे।

3.3 ध्यान के भेद-प्रभेद—

ध्यान के चार भेद हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चारों के भी चार-चार भेद हैं।

3.4 आर्तध्यान के 4 भेद—

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान।

अपने इष्ट का वियोग हो जाने पर बार-बार उसके प्राप्त होने की चिंता करना **इष्टवियोगज आर्तध्यान** है।

अनिष्ट का संयोग हो जाने पर, यह मेरे से कैसे दूर हो ? ऐसा बार-बार सोचते रहना **अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान** है। रोग आदि के हो जाने पर, यह कैसे मिटे ? ऐसा चिंतन करते रहना **वेदनाजन्य आर्तध्यान** है। आगामी काल में भोगों की वांछा करना **निदान आर्तध्यान** है। ये चारों आर्तध्यान तरतमता से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक पाए जाते हैं। इनमें निदान आर्तध्यान मुनियों के नहीं होता है। यद्यपि ये दुर्ध्यान हैं और

मिथ्यादृष्टि आदि जीवों को तिर्यंचगति में ले जाने वाले हैं फिर भी सम्यग्दृष्टि, देशव्रती अथवा महाव्रती मनुष्य अपनी शुद्ध आत्मा को ही उपादेय मानते हैं इसलिए विशेष भावना के बल से उनके परिणामों में तिर्यंचगति के लिए कारण ऐसा संक्लेश नहीं होता है।

3.5 रौद्रध्यान के 4 भेद—

हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द।

हिंसा करने में आनन्द मानना **हिंसानंद** है। झूठ बोलने में आनंद मानना **मृषानन्द** है। चोरी करने में आनंद मानना **चौर्यानंद** है और पंचेन्द्रियों के विषयों के संरक्षण में आनंद मानना **विषयसंरक्षणानंद** है। इसे **परिग्रहानंद रौद्रध्यान** भी कहते हैं।

यह तरतमता से पहले गुणस्थान से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक जीवों के होता है। यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि जीवों के नरकगति का कारण है तो भी जिस सम्यग्दृष्टि ने नरक आयु बांध ली है उसके सिवाय अन्य सम्यग्दृष्टियों के नरकगति का कारण नहीं होता, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के देवायु के सिवाय अन्य आयु का बंध नहीं होता यह नियम है और इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्मा को ही उपादेय मानता है अतः उसके नरकगति या तिर्यंचगति के लिए कारणभूत ऐसे तीव्र संक्लेश परिणाम नहीं हो सकते हैं।

यह दोनों ध्यान अप्रशस्त कहलाते हैं। इन्हें संसार का हेतु ही कहा है अतः इन दुर्ध्यानों से बचने के लिए धर्मध्यान का अवलम्बन लेना चाहिए।

3.6 धर्मध्यान के 4 भेद—

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। यह ध्यान तरतमता से असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक, प्रमत्तसंयत मुनि और अप्रमत्तसंयत मुनि तक इन चार गुणस्थानों में होता है। यह मुख्यरूप से पुण्यबंध का कारण होते हुए भी परम्परा से मुक्ति का कारण है।

अब क्रम से इन चारों का लक्षण देखिए—

स्वयं की बुद्धि मंद है और विशेष उपाध्याय गुरु मिल नहीं रहे हैं, ऐसे समय यदि कदाचित् जीव आदि पदार्थों में या अन्य किसी भी विषय में सूक्ष्मता होने से समझ में नहीं आ रहा है, तब यह सोचना कि 'जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये वाक्य—तत्व सूक्ष्म हैं, उनका किसी हेतु आदि के द्वारा खण्डन नहीं हो सकता है, इसलिए उनकी आज्ञा को प्रमाण मानकर इन पर श्रद्धान करना है क्योंकि 'नान्यथावादिनो जिनाः" जिनेन्द्र भगवान असत्यवादी नहीं हैं।' ऐसा चिंतवन करके जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को प्रमाण मानकर प्रवृत्ति करना **आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान** है।

भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना से हमारे अथवा अन्य जीवों के कर्मों का नाश कब होगा ? ऐसा बार-बार सोचना **अपायविचय धर्मध्यान** है।

यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुभ -अशुभ कर्म के विपाक फल से रहित है फिर भी अनादिकालीन कर्मबंध के निमित्त से पाप के उदय से अनेक दुःखों को भोग रहा है और पुण्य के उदय से देवादि के सुखों का अनुभव करता रहता है। इस प्रकार कर्मों के उदय-फल, बंध, सत्व आदि का बार-बार चिंतवन करना **विपाकविचय धर्मध्यान** है।

लोक के आकार का, उसके ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक आदि के विस्तार का, जंबूद्वीप, धातकी खण्ड आदि के स्वरूप का बार-बार चिंतन करना **संस्थानविचय धर्मध्यान** है।

सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प ध्यान में भी यह धर्मध्यान ही होता है न कि शुक्लध्यान। इस ध्यान का ही सतत अभ्यास करना चाहिए।

3.7 शुक्लध्यान के 4 भेद—

पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति।

प्रथम शुक्लध्यान उपशम श्रेणी में चढ़ने वाले मुनि के आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान में होता है। क्षपकश्रेणी में आरोहण करने वाले मुनियों के आठवें, नवमें और दशवें गुणस्थान में होता है।

दूसरा ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है। इसी से घातिया कर्मों का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान में होता है और चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में माना गया है।

यद्यपि केवलियों के भावमन का अभाव होने से 'एकाग्रचिंतानिरोध' लक्षण ध्यान नहीं घटता है फिर भी कर्मों का क्षयरूप कार्य ध्यान से माना है अतः उपचार से केवली भगवान के भी ध्यान कहे गये हैं।

इन चारों ध्यानों में एक धर्मध्यान ही वर्तमान में हम और आपके लिए उपयोगी है। अध्यात्मभाषा से सहज शुद्ध परम चैतन्यस्वरूप, परिपूर्ण आनंद का धारी भगवान आत्मा ही निज आत्मा है, उपादेय बुद्धि करके 'अनंतज्ञानोऽहं, अनंतसुखोऽहं'' मैं अनन्तज्ञान का धारक हूँ, मैं अनंत सुखस्वरूप हूँ इत्यादि रूप जो भावना है सो अंतरंग धर्मध्यान है। पंचपरमेष्ठी की भक्ति, पूजा आदि तथा उनकी आज्ञा के अनुकूल शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंग धर्मध्यान है। उसी प्रकार निज शुद्ध आत्मा में विकल्प रहित ध्यानावस्था शुक्लध्यान है।

इन सब ध्यान का स्वामी चेतन आत्मा ही है। गुणस्थान की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि धर्मध्यान के अधिकारी हैं।

3.8 पदस्थ ध्यान—

धर्मध्यान के अंतर्गत जो चौथा संस्थानविचय भेद है, उसके भी चार भेद माने हैं—पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

संक्षेप में इनका लक्षण यह है कि—

''पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिंतनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम्।।''

अनेक मंत्र वाक्यों का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है, अपनी आत्मा का चिंतवन करना पिंडस्थ ध्यान है, जिसमें सर्व चिद्रूप का चिंतवन हो अथवा जिसमें अर्हंत भगवान के स्वरूप का चिंतवन हो वह रूपस्थ ध्यान है और निरंजन परमात्मा का अर्थात् सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान है, वह रूपातीत ध्यान है।

3.9 ध्यान के प्रतिबंधक कारण—

ध्यान को रोकने वाले बाधक कारण ध्यान के प्रतिबंधक कहलाते हैं, वे मोह, राग और द्वेष इन तीन भागों में विभाजित हैं।

शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न करने वाला जो मोह है वह दर्शन मोह है जो कि मिथ्यात्व रूप है। इसे ही ''मोह'' शब्द से जानना चाहिए। यह मोह सतत पर में अपनेपन की बुद्धि को कराने वाला है अतः मूलरूप में यही अनंत संसार का कारण है।

निर्विकार निज आत्मानुभव रूप वीतराग चारित्र है, उसको रोकने वाला जो चारित्रमोह है, वह राग और द्वेष इन दो रूप वाला है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि चारित्र मोह राग, द्वेष रूप कैसे है ?

उसका उत्तर यह है कि चारित्र मोह की कषायों में क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद हैं। उनमें से क्रोध और मान

ये दो कषाय द्वेष के अंग हैं और माया तथा लोभ ये दोनों कषाय राग के अंग हैं। नव नोकषायों में स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य और रति ये पाँच कषायें तो रागरूप हैं और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये चार कषायें द्वेषरूप हैं। इस प्रकार ये पच्चीस कषायें राग और द्वेष इन दो रूप में विभाजित हो जाती हैं।

प्रश्न—रागादि भाव कर्मों से उत्पन्न हुए हैं या जीव से ?

उत्तर—जैसे पुत्र माता और पिता दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है अथवा जैसे चूना और हल्दी इन दोनों के मेल से लाल रंग बन जाता है उसी प्रकार जीव और कर्म इन दोनों के संयोग से ही राग-द्वेष आदि भाव उत्पन्न होते हैं। जब नयों की विवक्षा लगाते हैं तब विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से यह विभाव भाव कर्म से उत्पन्न हुए कहलाते हैं और अशुद्ध निश्चयनय से ये जीव से उत्पन्न हुए कहलाते हैं क्योंकि इनका उपादान कारण जीव ही है। यह अशुद्ध निश्चयनय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय ही है।

प्रश्न—साक्षात् शुद्ध निश्चयनय से ये राग द्वेष किसके हैं ?

उत्तर—शुद्ध निश्चयनय से ये रागद्वेष आदि विभाव भाव हैं ही नहीं, क्योंकि इस नय से तो जीव सदा काल शुद्ध ही है। जैसे—स्त्री-पुरुष के संयोग बिना पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही जीव और कर्म इनके संयोग बिना राग-द्वेष आदि भाव नहीं होते हैं। शुद्ध निश्चयनय संयोगज अवस्था को देखता ही नहीं है इसीलिए ये रागद्वेष न केवल कर्मजनित हैं न जीवजनित, प्रत्युत दोनों से उत्पन्न हुए हैं और इनको कहने वाला अशुद्धनय ही है न कि शुद्धनय।

इस प्रकार से ध्याता, राग-द्वेष आदि से मन को हटाकर धर्मध्यान का अवलंबन लेता है। यहाँ पर ध्यान के अनेक भेद बतलाये हैं, वे सब विचित्र ध्यान हैं।

इन पिण्डस्थ आदि ध्यानों में सबसे सरल पदस्थ ध्यान है उसी को यहाँ आचार्यदेव ने बताया है—

परमेष्ठी के वाचक पैंतिस, अक्षरयुत महामंत्र शाश्वत।
सोलह छह पाँच चार दो औ, एकाक्षर ॐ अकारादिक।।
गुरु के उपदेशों से बहुविध, के अन्य मंत्र को भी पाकर।
नित जाप करो तुम ध्यान करो, जैसे हो मन स्थिरता कर।।49।।

परमेष्ठी के वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर वाले मंत्रों का तथा गुरु के उपदेश से अन्य भी मंत्रों का तुम जाप करो और ध्यान करो।

यहाँ इन मंत्रों में से कुछ मंत्र दिये जाते हैं। वैसे तो इस णमोकार मंत्र से 84 लाख मंत्र निकलते हैं अथवा सम्पूर्ण द्वादशांग इस मंत्र में भरा हुआ है।

35 अक्षरी मंत्र—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

इस महामंत्र में 35 अक्षर हैं। इसकी एक जाप्य करने से एक उपवास का फल कहा है फिर जो इसका ध्यान करते हैं वे महाफल प्राप्त कर लेते हैं।

16 अक्षरी मंत्र—अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू।

6 अक्षरी मंत्र—अरिहंत सिद्ध। ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

5 अक्षरी मंत्र—अ सि आ उ सा।

2 अक्षरी मंत्र—सिद्ध, अर्हं।

1 अक्षरी मंत्र—'अ' अथवा ॐ।

यह 'ओम्' शब्द पंचपरमेष्ठी का वाचक है। अरिहंत का 'अ', सिद्ध अशरीरी होते हैं अतः अशरीरी का 'अ' इस प्रकार अ+अ 'समानः सवर्णे दीर्घी भवति परश्च लोपम्' सूत्र के अनुसार अ+अ=आ बन गया। पुनः आचार्य का 'आ', आ +आ इसी सूत्र से 'आ' हो गया। उपाध्याय का उ, आ + उ मिलकर 'उवर्णे ओ' सूत्र से संधि होकर 'ओ' हो गया। पुनः साधु से मुनि लेने पर उसका आदि अक्षर म् लेने से 'ओम्' बन गया है।

इन मंत्र पदों का जाप भी करना चाहिए और ध्यान भी करना चाहिए। ये मंत्रपद मंत्रशास्त्र के सभी पदों में सारभूत हैं। इस लोक तथा परलोक में इष्टफल को देने वाले हैं। इन पदों का अर्थ भी गुरुमुख से समझना चाहिए और उस अर्थ का स्मरण करते हुए इन पदों का जाप्य करना चाहिए। यदि स्थिरता रख सकें तो ध्यान में इन मंत्रों का ध्यान करते हुए ध्यानाभ्यास करना चाहिए। ललाट में, हृदय में, नाभि में अथवा अन्य किन्हीं भी उत्तम स्थानों में इन 'णमो अरिहंताणं' आदि पदों को स्थापित कर बुद्धि से उन्हें देखने का प्रयत्न करना चाहिए।

शुभोपयोग में जो मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति रुक जाती है उस समय धर्मध्यान होता है अथवा तीन गुप्ति से सहित निर्विकल्प ध्यान में शुद्धोपयोग अवस्था में भी इन पाँचों परमेष्ठी का ध्यान होता है।

इन मंत्रों के सिवाय अन्य मंत्र भी गुरु के उपदेश से समझकर जपने चाहिए।

यद्यपि वर्तमान में कई एक मंत्रशास्त्र प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी गुरु से ही मंत्र लेकर जाप्य करना उचित है यही शास्त्र की आज्ञा है अन्यथा लाभ के बजाय हानि की संभावना रहती है। इसी प्रकार से लघुसिद्धचक्र, वृहत् सिद्धचक्र इत्यादि पूजन के विधान को दिगम्बर गुरुओं से समझकर उनका भी ध्यान करना चाहिए। यह सब पदस्थ ध्यान का संक्षिप्त स्वरूप कहा है।

इस तरह पाँचों इन्द्रिय और मन को वश में करने वाले मुनिगण या श्रावक ध्याता — ध्यान करने वाले हैं। यथावस्थित पदार्थ ध्येय — ध्यान के विषय हैं। एकाग्र होकर जो विचार करना है वह ध्यान है और कर्मों के संवर तथा निर्जरा का होना यह ध्यान का फल है।

3.10 पंचपरमेष्ठी ध्यान के विषय हैं—

3.10.1 अर्हंत परमेष्ठी का ध्यान करें—

जिन घाति चतुष्टय कर्म हरा, दर्शन सुख ज्ञान वीर्यमय हैं।
सु अनंतचतुष्टयरूप परम, औदारिक तनु में स्थित हैं।।
अष्टादश दोष रहित आत्मा, वे ही अरिहंत परमगुरु हैं।
वे ध्यान योग्य हैं नित उनको, तुम ध्यावो वे त्रिभुवनगुरु हैं।।

जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, जो अनंत चतुष्टयमय हैं, जो शुभ — परमौदारिक शरीर में विराजमान हैं, जो शुद्ध — दोष रहित हैं ऐसे आत्मा अरिहंत परमेष्ठी हैं, उनका ध्यान करना चाहिए।

अरिहंत भगवान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों को नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य इन चार चतुष्टयरूप हो चुके हैं। सात प्रकार की धातुओं से रहित परमौदारिक दिव्य — शुभ शरीर में स्थित हैं, यह उनका शरीर हजारों सूर्यों के समान देदीप्यमान है।

क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मरण, स्वेद, खेद, मद, अरति, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये 18 दोष हैं। ये इन दोषों से रहित होते हैं इसीलिए शुद्ध कहलाते हैं।

'अरि' अर्थात् मोहनीय कर्म, 'रज' से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और 'रहस्य' से अंतराय। इस प्रकार अरि, रज, रहस्य इन तीनों को हनन करने वाले — नष्ट करने वाले होने से अरिहंत कहलाते हैं तथा इन्द्र आदि देवों द्वारा गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणक के समय की गई महापूजा को प्राप्त होने से 'अर्हन्' कहलाते हैं। इनके 1008 नाम आगम में कहे गये

हैं। ऐसे अर्हंत जिनेन्द्र भगवान ध्यान के विषय हैं। इनका ध्यान पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान के अंतर्गत है।

3.10.2 सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान कैसे करें ?—

अष्ट कर्म तनु नष्ट किया, औ शाश्वत लोकालोक सकल।
उसके ज्ञाता औ दृष्टा हैं, जो पुरुषाकार तथा निष्कल।।
जो लोकशिखर पर स्थित हैं, वे आत्मा सिद्ध कहाते हैं।
तुम सब जन उनका ध्यान करो, वे सबको सिद्ध बनाते हैं।।

जिन्होंने आठ कर्मरूपी शरीर का नाश कर दिया है, जो लोक-अलोक के जानने और देखने वाले हैं, पुरुषाकार हैं, लोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, ऐसे आत्मा सिद्ध परमेष्ठी हैं उनका ध्यान करना चाहिए।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय इन कर्मरूपी शरीर को जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा नामकर्म के अंतर्गत औदारिक, तैजस, कार्मण आदि शरीर से भी रहित हैं इसलिए अशरीरी हैं, निराकार हैं, फिर भी ज्ञानशरीरी हैं, चैतन्य धातु की मूर्ति स्वरूप हैं। परमज्ञान कांड की भावना के फलस्वरूप निर्मल पूर्ण ज्ञान और दर्शन के द्वारा सर्वलोक-अलोक को तथा उनके अन्तर्गत सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी भूत-वर्तमान-भविष्यत् ऐसी तीनों काल संबंधी पर्यायों को एक साथ जानने और देखने वाले होने से सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं।

निश्चयनय से इन्द्रियों के अगोचर हैं, मूर्तिरहित होने से निराकार हैं फिर भी व्यवहारनय से भूतपूर्व नय की अपेक्षा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार वाले होने से पुरुषाकार हैं। जैसे मोमरहित मूस के बीच का आकार होता है अथवा छाया के प्रतिबिम्ब का आकार होता है, ऐसे हैं। इसीलिए जिस आसन से — पद्मासन या खड्गासन से मोक्ष गये हैं, उसी आसन से पुरुषाकार हैं।

अंजनसिद्ध, पादुकासिद्ध, गुटिकासिद्ध, खड्गसिद्ध और मायासिद्ध आदि लौकिक सिद्धि से रहित अपने आत्मा के स्वरूप की उपलब्धिरूप सिद्धि से सहित होने से ही ये सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं।

ये मोहनीय के अभाव से सम्यक्त्व, ज्ञानावरण-दर्शनावरण के अभाव से ज्ञान-दर्शन, अन्तराय के अभाव से वीर्य, वेदनीय के अभाव से अव्याबाध, आयु के अभाव से अवगाहनत्व, नाम के अभाव से सूक्ष्मत्व और गोत्र के अभाव से अगुरुलघुत्व इस प्रकार आठ कर्मों के नष्ट हो जाने से आठ गुणों को प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि ये आठ गुण मुख्य हैं फिर भी इनके अनंतगुण प्रगट हो चुके हैं। ऐसे सिद्ध भगवान लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, उनका ध्यान करना चाहिए। देखे, सुने, अनुभव में आए ऐसे पंचेन्द्रिय विषयों का त्याग कर सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प को छोड़कर निर्विकल्प अवस्था में तीन गुप्ति से सहित होकर 'रूपातीत' धर्मध्यान में एकाग्र होकर इन सिद्धों का ध्यान करना चाहिए।

3.10.3 आचार्य परमेष्ठी भी ध्यान के योग्य हैं—

दर्शन औ ज्ञान प्रधान जहाँ, ऐसे जो वीर्याचार तथा।
चारित्र महातप ये पाँचों, आचार कहाते सौख्यप्रदा।।
इन पंचाचारों में निज को, पर को जो नित्य लगाते हैं।
वे ध्यान योग्य हैं श्रेष्ठ मुनी, वे ही आचार्य कहाते हैं।।

जिनमें ज्ञानाचार-दर्शनाचार प्रधान हैं ऐसे वीर्याचार, चारित्राचार और तप आचार में जो अपने को और पर को लगाते हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं जो कि ध्यान करने योग्य हैं।

निश्चयनय का विषयभूत 'शुद्ध समयसार' इस शब्द से वाच्य, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म आदि समस्त परपदार्थों से भिन्न और परम चैतन्य का विलासरूप निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि का नाम सम्यग्दर्शन है। उसमें जो परिणमन — आचरण है, उसी का नाम दर्शनाचार है।

उसी शुद्ध आत्मा को स्वसंवेदनरूप भेद ज्ञान के द्वारा रागादि पर भावों से भिन्न जानना ज्ञानाचार है।

वीतराग चारित्र के लिए कारण ऐसे व्यवहार चारित्र में प्रवृत्ति करना चारित्राचार है।

समस्त परद्रव्यों की इच्छा के रोकने से तथा अनशन आदि बाह्य तपों को तपते हुए जो आचरण है, सो तप आचार है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनकी रक्षा के लिए अपनी शक्ति को नहीं छिपाना वीर्याचार है।

आचार्यों के लिए ये पाँच आचार प्रधान हैं। वैसे आचार्य के छत्तीस गुण माने हैं। 12 तप, 10 धर्म, 5 आचार, 6 आवश्यक और 3 गुप्ति ये 36 गुण हैं। इन गुणों से युक्त आचार्यदेव ध्यान के विषय हैं। इनका ध्यान पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत है।

3.10.4 उपाध्याय परमेष्ठी का ध्यान भी औषधिरूप है—

जो रत्नत्रय से युक्त सदा, धर्मोपदेश में तत्पर हैं।
जो यति पुंगव में श्रेष्ठ रहें, सो आत्मा उपाध्याय गुरु हैं।।
उनको नित नमन हमारा है, वे ज्ञानामृत बरसाते हैं।
मोहादी विष से मूर्च्छित को, जिनवच औषधी पिलाते हैं।।

जो रत्नत्रय सहित हैं और नित्य ही धर्मोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, वे यतीश्वरों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी हैं उनको मन में नमस्कार करते हुए ध्यान करें।

जो व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनों का अवलम्बन लेकर शिष्यों को पढ़ाते हैं और धर्म का उपदेश देना ही जिनका एक कार्य है, वे उपाध्याय गुरु हैं। इनके 25 गुण माने हैं। ग्यारह अंग, चौदह पूर्वरूप श्रुत का पढ़ना-पढ़ाना ये ही इनके 25 गुण हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी भी नग्न दिगम्बर साधुओं में ही होते हैं अतः ये भी ध्यान के विषय हैं।

3.10.5 साधु परमेष्ठी के ध्यान से आत्म सिद्धि होती है—

जो दर्शन ज्ञान सहित ऐसा, चारित्र कहा शिव का मारग।
जो नित ही शुद्ध कहा जाता, उस रत्नत्रय के जो साधक।।
वे ही साधू कहलाते हैं, जो करें साधना शिवपथ की।
रत्नत्रयमय उन साधू को, हो मेरा नमस्कार नित ही।।

जो मुनि मोक्षमार्ग के स्वरूप दर्शन और ज्ञान से सहित, नित्य ही शुद्ध ऐसे चारित्र को साधते हैं, वे साधु परमेष्ठी हैं, उनको हृदय में धारण करके नमस्कार करते हुए ध्यान करें।

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान से सहित चारित्र की साधना करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। इनके 28 मूलगुण माने हैं— 5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियनिरोध, 6 आवश्यक, केशलोंच, आचेलक्य— पूर्ण वस्त्रादि त्याग, अस्नान, पृथ्वी पर शयन, दन्तधावन त्याग, खड़े होकर भोजन और एक बार भोजन ये 28 मूलगुण हैं। इनके पालन करने वाले नग्न दिगम्बर मुनि ही साधु कहलाते हैं। ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार प्रकार की आराधना में लगे रहते हैं। सदा व्यवहार-निश्चय चारित्र के बल से शुद्ध आत्मा की साधना करते रहते हैं, इसीलिए ये ध्यान करने योग्य हैं।

महामंत्र णमोकार मंत्र में इन पाँचों परमेष्ठी को ही नमस्कार किया है। ये परमपद में स्थित हैं इसीलिए परमेष्ठी कहलाते हैं। इनमें से अरहंत, सिद्ध ये दो परमेष्ठी तो दिखते नहीं हैं। सिद्ध तो सदा ही नहीं दिख सकते, चतुर्थकाल में अरहंत भगवान का समवसरण दिखता रहता है। आज तो इस पंचमकाल में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीनों परमेष्ठी दृष्टिगोचर होते हैं। परोक्ष में अरहंत, सिद्ध की, प्रत्यक्ष में आचार्यादि की वंदना, स्तुति करना तथा इन्हीं के नाममंत्र की जाप्य करना, एकाग्रचित्त हो ध्यान करना चाहिए, ये ही मोक्षमार्ग हैं इसलिए इनका ध्यान भी मोक्षमार्ग की सिद्धि कराने वाला है।

3.11 निश्चय ध्यान—

जब साधूजन एकाग्रमना, होकर जो कुछ भी ध्याते हैं।
वे इच्छारहित तपोधन ही, निज समरस आनंद पाते हैं।।
बस उसी समय निश्चित उनका, वह निश्चय ध्यान कहाता है।
वह ध्यान अग्निमय हो करके, सब कर्म कलंक मिटाता है।।

जब साधु एकाग्रता को प्राप्त होकर जिस किसी भी पदार्थ का चिंतवन करता हुआ इच्छा से रहित हो जाता है, उसी समय उन साधु का वह ध्यान निश्चय ध्यान कहलाता है।

इस पद्य के प्रथम चरण में ध्येय का लक्षण है। द्वितीय चरण में ध्याता का लक्षण है। तृतीय चरण में ध्यान का लक्षण है और चतुर्थ चरण में नयविभाग को दिखलाया है।

ध्येय— ध्यान प्रारंभ करने की अपेक्षा से जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय-कषायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पाँचों परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर अभ्यास के मन से स्थिर हो जाने पर शुद्ध-बुद्ध अपना चिदानंद स्वरूप आत्मा ही ध्येय रहता है।

ध्याता— बहिरंग और अंतरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि ही निस्पृह वृत्ति वाले होते हैं। वे ही यहाँ ध्यान करने के पात्र ध्याता माने गये हैं। कदाचित् श्रावक और अविरत सम्यग्दृष्टि भी ध्याता होते हैं।

ध्यान— एकाग्रता को प्राप्त कर लेना, मन का पूर्वोक्त किसी एक विषय पर स्थिर हो जाना ही ध्यान है। ध्यान में ध्येय की एकता, तन्मयता, एकलीनता हो जाती है।

नयविभाग— यहाँ निश्चय शब्द से प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चयनय लेना तथा जो ध्यान सिद्धि कर चुके हैं ऐसे निष्पन्न योगी महामुनियों की अपेक्षा शुद्धोपयोग लक्षण वाला विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय लेना है।

3.12 परम ध्यान का लक्षण—

तुम कुछ भी तन की चेष्टा को, मत करो वचन भी मत बोलो।
मन से भी चिंतन कुछ न करो, जैसे होवे स्थिर हो लो।।
इस विध जब आत्मा-आत्मा में, स्वयमेव लीन हो जाता है।
तुम समझो जग में यही ध्यान, बस सबसे श्रेष्ठ कहाता है।।

तुम कुछ भी क्रिया मत करो, मत बोलो और मत कुछ सोचो, जिससे कि आत्मा स्थिर होकर आत्मा में ही रत हो जावे, बस यही परम उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है।

कुछ भी चेष्टा करना काय की क्रिया है, बोलना वचन की क्रिया है और सोचना मन की क्रिया है। इन तीनों को रोक देने से आत्मा आत्मा में ही तन्मय हो जाता है, बस वही सर्वोत्कृष्ट ध्यान कहलाता है। यहाँ पर शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के मन-वचन-काय के व्यापार को मना किया है। यह तीन गुप्ति से सहित अवस्था महामुनियों के चतुर्थकाल में ही संभव है। आज तो अशुभ योग से मन को रोक कर शुभ में स्थिर कर लेना ही कष्टसाध्य है। इस निश्चय रत्नत्रय से परिणत महामुनियों के जो वीतराग परमानंद सुख प्रतिभासित होता है वही निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप है। उसके अनेक पर्यायवाची नाम हैं उनमें से कुछ नामों को यहाँ दिखाते हैं—

वही शुद्धात्मा का स्वरूप है, वही परमात्मा का स्वरूप है, वही एकदेश में प्रगटरूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से निज शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न सुखरूपी अमृत जल के सरोवर में राग आदि मलों से रहित परमहंस

स्वरूप है। यह एकदेश शुद्ध निश्चयनय सभी नामों के साथ संबंधित है, ऐसा समझना।

वही परमब्रह्म स्वरूप है, वही परमविष्णुरूप है, वही परमशिवरूप है, वही परम बुद्ध स्वरूप है, वही परम निज स्वरूप है, वही परम निज आत्मा की उपलब्धिरूप है, वही सिद्ध स्वरूप है, वही निरंजन स्वरूप है, वही निर्मल स्वरूप है, वही स्वसंवेदनज्ञान है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्म दर्शन है, वही परम अवस्थारूप है, वही परमात्मदर्शन है, वही परम तत्त्वज्ञान है, वही शुद्धात्मज्ञान है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध पारिणामिक भावरूप है, वही ध्यान भावनारूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही अंतरंग तत्त्व है, वही परमतत्त्व है, वही शुद्ध आत्मतत्त्व है, वही परमज्योति है, वही शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वही आत्म प्रतीति है, वही आत्मसंवित्ति है, वही स्वरूप की उपलब्धि है, वही नित्य पदार्थ की उपलब्धि है, वही परमसमाधि है, वही शुद्धात्म पदार्थ के अध्ययनरूप है, वही परम स्वाध्याय है, वही निश्चय मोक्ष का उपाय है, वही एकाग्रचिंता निरोध है, वही परमबोध है, वही शुद्धोपयोग है, वही परमयोग है, वही भूतार्थ है, वही परमार्थ है, वही निश्चय पंचाचार है, वही समयसार है, वही अध्यात्मसार है, वही समता आदि छह आवश्यक स्वरूप है, वही अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, वही वीतराग सामायिक है, वही परम शरण, परम उत्तम और परम मंगल है, वही केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण है, वही सकलकर्म के क्षय का कारण है, वही निश्चय चतुर्विध आराधना है, वही परमात्म भावना है, वही शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुख की अनुभूतिरूप परमकला है, वही दिव्यकला है, वही परम अद्वैत है, वही परमामृत परमध्यान है, वही शुक्लध्यान है, वही रागादि विकल्प से रहित ध्यान है, वही निष्कल ध्यान है, वही परम स्वास्थ्य है, वही परम वीतराग है, वही परमसाम्य है, वही परम एकत्व है, वही परम भेदज्ञान है और वही परम समरसी भाव है, इत्यादिरूप से समस्त रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम आल्हादक सुख लक्षण ध्यान स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को कहने वाले और भी बहुत से पर्यायवाची हैं।

अभिप्राय यही है कि निश्चयरत्नत्रय, शुद्धोपयोग, परमसमाधि, निर्विकल्पध्यान, एकाग्रपरिणति और निश्चय मोक्षमार्ग ये सब एकार्थवाचक हैं। यह अवस्था सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होती है और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है पुनः तेरहवें गुणस्थान में इस शुद्धोपयोग का फल केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस निश्चयरत्नत्रय की प्राप्ति के लिए व्यवहार रत्नत्रयरूप निर्ग्रंथ मुनि अवस्था को धारण करना अनिवार्य है और जब तक उस चारित्र को नहीं ग्रहण कर सकते तब तक एकदेश चारित्ररूप अणुव्रत तो ग्रहण ही कर लेना चाहिए। यही मोक्षमार्ग में लगने का क्रम है।

3.13 ध्याता कैसा होता है ?—

जिस कारण से तप, श्रुत औ व्रत, इनका धारक जो आत्मा है।
वह ध्यानमयी रथ की धुर का, धारक हो ध्यान धुरंधर है।।
अतएव ध्यान प्राप्ती हेतू, इन तीनों में नित रत होवो।
तप, श्रुत औ व्रत बिन ध्यान सिद्धि, नहिं होती अतः व्रतिक होवो।।

जिस हेतु से तप, श्रुत और व्रतों का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला हो जाता है उसी कारण ध्यान की प्राप्ति के लिए तप, शास्त्र और व्रत इन तीनों में सदा लीन होने की प्रेरणा दी गई है।

तपश्चर्या, ज्ञानाराधना और व्रतों से विभूषित तपोधन — महाव्रती मुनि ही ध्यानरूप रथ की धुरा को धारण करने में समर्थ हो सकते हैं यही कारण है कि ये मुनि ही ध्यान के स्वामी माने गये हैं। यदि गृहस्थ भी ध्यान में सक्षम हो जावें तो पुनः गृहस्थाश्रम को त्याग कर मुनि बनने की आवश्यकता ही क्यों रहे ? हाँ, गृहस्थ तो ध्यान का अभ्यास करते हैं।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यंतर तप हैं। अभ्यंतर तपों की सिद्धि के लिए बाह्य तप साधन हैं और साधन अभ्यंतर तप में कहा गया है। ये बारह तप व्यवहार तप हैं और इनके सहयोग से शुद्ध आत्मा के

स्वरूप में प्रतपन करना—स्थिर होना निश्चय तप है।

इसी प्रकार मूलाचार, भगवती आराधना आदि द्रव्यश्रुत हैं, उन शास्त्रों के आधार से जो निज स्वसंवेदन ज्ञान होता है, वह भावश्रुत है। इसी तरह छह काय के जीवों की हिंसा का त्याग अहिंसा महाव्रत है और रागादि भावों को दूर कर आत्मा के ऊपर दया करके उसमें लीन होना भाव अहिंसा महाव्रत है, इत्यादि प्रकार सभी में समझ लेना चाहिए।

यहाँ पर तप, श्रुत और व्रत को ही ध्यान के लिए परिकर सामग्री कहा है। अन्यत्र ग्रंथों में भी कहा है—

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयश्चेति, पंचैते ध्यानहेतवः।।

वैराग्य, तत्वों का विशेष ज्ञान, निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि अवस्था, समताभाव और परीषहों का जय ध्यान के लिए ये पाँच हेतु—साधन माने गये हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने कहा है—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः।।

पहले अव्रतों को छोड़कर व्रतों में स्थित होवे पुनः आत्मा के परमपद को प्राप्त करके उन्हें भी छोड़ देवे।

प्रश्न—भरत चक्रवर्ती ने व्रतों को नहीं पाला फिर भी केवली बन गये ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, वे भी जैनेश्वरी दीक्षा लेकर विषय कषाय आदि के त्यागरूप व्रत परिणामों के बल से ही शुद्धोपयोगरूप, वीतराग सामायिक नामक निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर केवली हुए हैं।

प्रश्न—इस काल में ध्यान नहीं है क्योंकि उत्तम संहनन का अभाव है और दश पूर्व अथवा चौदह पूर्वरूप श्रुतज्ञान का भी अभाव है ?

उत्तर—शुक्लध्यान नहीं है किन्तु धर्मध्यान है। श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है—

"भरतक्षेत्र में इस पंचमकाल में ज्ञानी मुनियों को आत्मा के स्वभाव में स्थित होने पर धर्मध्यान होता है किन्तु जो ऐसा नहीं मानते, वे अज्ञानी हैं।"

श्री नागसेन आचार्य ने भी स्पष्ट कहा है—

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्।।

आज इस काल में जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यान का निषेध करते हैं किन्तु उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी से पहले गुणस्थानों में रहने वाले मुनियों के धर्मध्यान कहते हैं।

दश पूर्व या चौदह पूर्वज्ञानी श्रुतकेवलियों के ही ध्यान होता है, यह कथन भी उत्सर्ग है। अपवाद व्याख्यान से पाँच समिति, तीन गुप्ति के प्रतिपादक सारभूत श्रुत से भी ध्यान होता है बल्कि केवलज्ञान भी हो जाता है। कहा भी है—

"तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जादो।"

तुष-माष को रटते हुए शिवभूति मुनि केवली हो गये हैं।

प्रश्न—शिवभूति मुनि को द्रव्यश्रुत तो प्रवचनमातृका मात्र था तो क्या उन्हें भावश्रुत पूर्ण था ?

उत्तर—नहीं, उनके पाँच समिति और तीन गुप्ति इन आठ प्रवचनमातृका रूप तो भावश्रुत था और द्रव्यश्रुत कुछ भी नहीं था अन्यथा वे "मा तूसह मा रूसह" इस एक पद को क्यों नहीं जान सके। यह व्याख्यान कल्पित नहीं है किन्तु चारित्रसार आदि ग्रंथों में भी यह वर्णन है। देखिए—"अंतर्मुहूर्त में जो केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, वे 12वें गुणस्थान में रहने वाले "निर्ग्रंथ" ऋषि कहलाते हैं। उनके उत्कृष्ट से 11 अंग, 14 पूर्व पर्यंत ज्ञान होता है और जघन्यरूप से पाँच

समिति, तीन गुप्ति मात्र ही श्रुतज्ञान होता है।

प्रश्न— इस काल में मोक्ष नहीं है पुनः ध्यान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर— आज भी परम्परा से मोक्ष है। देखो, ध्यानी मुनि निज शुद्धात्मा की भावना के बल से संसार की स्थिति को अल्प करके स्वर्ग में जाते हैं और वहाँ से मनुष्य भव में आकर भेदाभेद रत्नत्रय के बल से मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। जो भरत चक्रवर्ती, रामचंद्र, पांडव आदि मोक्ष गये हैं वे सब पूर्व भवों में संसार स्थिति को घटाकर ही आये थे तभी इस भव से मोक्ष गये हैं क्योंकि एक ही भव से सभी को मोक्ष हो जावे यह बहुत कठिन है, कोई विरले जीव ही ऐसे हुए हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि अल्प श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है किन्तु उसके साथ वैराग्यपूर्वक चारित्र और तपश्चरण अवश्य चाहिए।

3.14 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-ध्यान के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐
(ख) चार ☐
(ग) दो ☐

प्रश्न 2-संस्थानविचय धर्मध्यान के कितने भेद बताए हैं ?

(क) चार ☐
(ख) छः ☐
(ग) आठ ☐

प्रश्न 3-णमोकार महामंत्र में कितने अक्षर हैं ?

(क) दस ☐
(ख) पच्चीस ☐
(ग) पैंतीस ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-धर्मध्यान के कितने भेद हैं और यह कौन से गुणस्थानों में होता है ?

प्रश्न 2-अर्हंत परमेष्ठी का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 3-निश्चय ध्यान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-आचार्य परमेष्ठी के कितने गुण माने हैं और वे कौन से हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-परम ध्यान का लक्षण विस्तार से लिखें ?

पाठ 4–चिन्ता छोड़ो चिन्तन करो

4.1 ध्यान शब्द का अर्थ और लक्षण–

'ध्यै' धातु चिंतवन करने अर्थ में है। 'ध्यायति अनेनेति ध्यानं ध्यायतीति ध्यानं अथवा ध्यातिर्वाध्यानं" आत्मा जिस परिणाम से पदार्थों का चिंतवन करता है। वह परिणाम ध्यान है अथवा आत्मा का जो परिणाम पदार्थों का चिंतवन करता है उसको ध्यान कहते हैं या चिंतवन करना ही ध्यान का अर्थ है। ये तीनों व्युत्पत्ति करणसाधन, कर्तृसाधन और भावसाधन की अपेक्षा से हैं।

श्री उमास्वामी आचार्य ने भी कहा है–"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो–ध्यान–मान्तर्मुहूर्तात्" उत्तम संहनन वाले पुरुष के एकाग्र–एक विषय में चिंता का निरोध होना ही ध्यान है, यह अंतर्मुहूर्त पर्यंत ही होता है। अर्थात् उत्तम संहनन वालों के ही यह ध्यान अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक रह सकता है। हीन संहनन वालों के तो बहुत ही अल्प समय तक हो सकता है ऐसा समझना।

एक वस्तु पर चित्त का स्थिर हो जाना सो तो ध्यान है और इससे भिन्न जो परिणामों की चंचलता है उसे अनुप्रेक्षा, चिंता, भावना अथवा चित्त कहते हैं।

यह सब शास्त्रीय भाषा में ध्यान का वर्णन है। आगे लौकिक भाषा में अप्रशस्तध्यान–चिंता से बचने का तथा प्रशस्तध्यान–शांति प्राप्त करने का उपाय बताया जा रहा है।

4.2 चिंताओं को कैसे दूर करें ?–

गृहस्थाश्रम में पुरुष व महिलाओं को प्राय: किसी न किसी प्रकार की चिंता बनी ही रहती है। किसी के पास धन नहीं है तो किसी के व्यापार में घाटा लग रहा है, किसी का धन चोर लूट रहे हैं तो किसी को सरकारी बंधन व कानूनों से धन का संरक्षण करना कठिन हो रहा है। इन निमित्तों से चिंता होना सहज है। किसी के पुत्र या पुत्री आज्ञापालक नहीं हैं, प्रतिकूल हैं या दुर्व्यसनी हैं, अथवा रोगी हैं या युवावस्था में मरण को प्राप्त हो गये हैं, अथवा वे अत्यंत प्रिय और अनुकूल हैं फिर भी किसी निमित्त से उनका बिछोह हो गया है। किसी के शरीर में अनेक प्रकार के रोग लगे हुए हैं, पेट भर भोजन अथवा उत्तम–उत्तम पकवान खाने को नहीं मिल पा रहा है। डॉक्टर ने परहेज में घी, नमक आदि बन्द कर दिये हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के और भी कारण हैं जिनसे अंतरंग में चिंता घर बनाये रखती है और मन सदैव खिन्न रहने से न उन्हें इह लौकिक सुख ही मिल पा रहा है न परलोक के सुख की ही आशा की जा सकती है, क्योंकि संक्लेश परिणामों से उत्तम गति का मिलना असंभव ही है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? किसी की चिंता को कैसे दूर कर सकते हैं ?

यदि आप सम्यग्दृष्टी हैं तो आपको कैसी भी भयंकर चिंता क्यों न हो, दुख हो, वेदना क्यों न हो अर्थात् आपको कैसा भी शारीरिक या मानसिक संताप क्यों न हो किंतु फिर भी आप उसे बहुत शीघ्र ही घटा सकते हैं, जड़मूल से निर्मूलन करके आत्मिक शांति प्राप्त कर सकते हैं, कैसे ? इन चार महौषधियों के द्वारा ।

4.3 वे चार महौषधियां कौन सी हैं ?—

कर्म सिद्धांत—अर्थात् होनी को स्वीकार करना।

वैराग्य—अर्थात् वस्तु के स्वभाव का विचार करना।

भक्ति—अर्थात् ईश्वर में विश्वास कर उनकी कृपा को प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

अध्यात्म भावना—अर्थात् अपनी अनंत शक्ति को पहचान कर उसे विकसित करने का प्रयत्न करना।

उदाहरण के लिये देखिये—यदि आपके पुत्र, मित्र, स्त्री, बंधु या शिष्य कोई भी आपके प्रतिकूल आचरण कर रहे हों, आपके साथ विश्वासघात कर रहे हों, आपकी झूठी निन्दा कर रहे हों, आपको व्यापार आदि प्रसंगों में कष्ट दे रहे हों,

आपकी उन्नति से ईर्ष्या कर रहे हों, अकारण ही आपके लिए दुःखदायी हों तो उस समय आप उनके साथ वैसे ही मत बनिये। सोचिये कि पूर्वभव में या इस भव में इनके साथ मैंने कोई गलत व्यवहार किया होगा, इन्हें कष्ट दिया होगा उसके फलस्वरूप ये स्वजन होकर भी शत्रु बने हुए हैं। अथवा अकारण ही ये मुझे त्रास देकर स्वयं अशुभ कर्म बंध कर रहे हैं। मेरा कर्तव्य है कि मैं शांति से सहन करूं। आप पार्श्वनाथ का चरित पढ़िये और जीवंधर स्वामी की भी जीवनी देखिये आपको मानसिक शांति मिलेगी। पहले तो आप इन प्रतिकूल वस्तुओं को व प्रसंगों को अपने से दूर करने की कोशिश कीजिए। यदि उनसे नहीं बच सकते तो कर्म सिद्धांत पर दृढ़ विश्वास कीजिए कि इनका कुछ भी दोष नहीं है, मेरे पूर्वकर्मों का ही फल मुझे इनके निमित्त से मिल रहा है। श्री अमितगतिसूरि ने कहा है—

स्वयं कृतं येन यदात्मनापुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।।

'यदि स्वयं के द्वारा किये हुए कर्मों के अतिरिक्त भी कोई अन्य मुझे सुख या दुःख देने में समर्थ हो सकता है तो फिर मेरे द्वारा किये गये कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।' इसीलिये यह सिद्धांत अटल है कि अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल ही अपने को मिलता है अन्य सब निमित्त मात्र हैं उन्हें दोष देना व्यर्थ है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचंद्र के इतिहास को पढ़िये। कहाँ तो राज्याभिषेक होने की तैयारी और कहां कैकेयी के निमित्त से वन-वन में भटकना। महासती शिरोमणि सीता को ही देखिये कि कहाँ तो जिनके वियोग में रामचंद्र का अश्रु बहाना, दुःखी होना और कहां प्रजा के संदेहमात्र से गर्भवती अवस्था में सीता को घोर निर्जनवन में छुड़वा देना। अहो! इष्ट के द्वारा ही ऐसे-ऐसे भयंकर कष्टों का प्रसंग आ जाना यह स्व कर्मोदय का ही माहात्म्य है अन्य कुछ नहीं है इत्यादि उदाहरणों के द्वारा अपने मन में संक्लेश न करके शांति बनाये रखना ही उभयलोक के लिये हितकर है।

यदि आपके किसी इष्ट बंधु, पुत्र, स्त्री, पति या शिष्य का वियोग हो गया है, असमय में उनका मरण हो गया है या वे तुमसे प्रतिकूल हो रहे हैं अथवा धन, मकान, आदि प्रिय वस्तुओं की हानि हो रही है ऐसे प्रसंग में कर्म सिद्धांत ही शांति प्रदान करेगा। अरे! जो वस्तु जितने काल तक मेरे पास रहने वाली है उतने काल तक ही रहेगी। संसार में कोई किसी के साथ हमेशा नहीं रह सका है। हमें प्रत्येक इष्ट वस्तु अपने अनुरूप चाहिये किंतु ऐसा कब होता है ? वह तो मिलती है भाग्य के ही अनुरूप। यदि आपका भाग्य अनुकूल नहीं है तो कितना भी प्रयत्न कीजिए किंतु वह वस्तु आपको नहीं मिल सकेगी। मिलकर भी आपसे दूर हो जायेगी उसके लिये आपको चिंता करने से, दुःख करने से हानि के सिवाय लाभ नहीं है। सुकौशल की माता ने पति के दीक्षित हो जाने पर बहुत दुःख माना। पुत्र भी दीक्षित न हो जावे, मेरी आँखों से ओझल न हो जावे इसलिये उसने अपने शहर में मुनियों का आना रोक दिया किंतु जब पुत्र भी दीक्षित हो गया तो पति और पुत्र के मोह में पागल हो गई, रो-रोकर आर्तध्यान में मरकर व्याघ्री हो गई तथा जिनके प्रति अत्यंत मोह था उन्हीं के प्रति प्रतिकूलता से द्वेष भावना बन जाने से उन्हीं को खाने लगी। इन उदाहरणों को देखकर इष्ट में आसक्ति व उनके वियोग में शोक नहीं करना चाहिए। देखो! धर्मात्मा सेठ जिनदत्त मरते समय अपनी पत्नी में अत्यंत मोह को प्राप्त हो गया, मरकर अपने घर की बावड़ी में मेंढ़क हो गया और पानी भरते समय सेठानी के ऊपर उछल-उछलकर आने लगा। जब सेठानी को मुनि के मुख से मालूम हुआ कि यह मेंढ़क मेरे पति का जीव है तो उसे महान् आश्चर्य हुआ और दुःख भी।

अतएव इस श्लोक को बड़े अक्षर में लिखकर फ्रेम में जड़वाकर अपने विश्रांति के स्थान में लगाना चाहिए और प्रतिदिन उसको पढ़ते रहना चाहिए।

उत्तमा स्वात्मचिंता स्यात् , मोहचिंता च मध्यमा।
अधमा कामचिंता स्यात् , परचिंता धमाधमाः ।।

अर्थात् अपनी आत्मा की चिंता उत्तम है, मोहचिंता मध्यम है, पंचेन्द्रिय विषयों की चिंता अधम है और पर की चिंता करना अधम से भी अधम है।

ऐसा ही शरीर में रोगों के निमित्त से कितनी भी भयंकर वेदना हो उस समय यही सोचना चाहिए कि क्या नरक में जैसी वेदनायें होती हैं वैसी यहां हो सकती हैं ? क्या तिर्यंच योनि के दु:खों से बढ़कर भी यह दु:ख है ? नहीं-नहीं। यह तो उनके आगे तिल तुष मात्र भी नहीं है। अन्य जीवों को दु:ख देने से, पीड़ा देने से, सताने से ही ये वेदनायें होती हैं। कर्म बांधते समय दूसरों को कष्ट देते समय मैंने जब कुछ नहीं विचारा तो अब उस कर्म के उदय के समय घबड़ाने से क्या होगा ? अभी भी ऐसा करने से तो आगे के लिए असाताकर्म बंधता चला जावेगा। अत: धैर्य से निर्दोष प्रासुक औषधि से रोग का उपचार करना चाहिए। श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं—

यावदस्ति प्रतीकार: तावत्कुर्यात्प्रतिक्रियां।
तथाप्यनुपशांतानामनुद्वेग: प्रतिक्रिया ।।

जब तक इलाज हो सके इलाज करना और जब नहीं हो सके तो उद्विग्न नहीं होना ही उस रोग का इलाज है। अपने से अधिक दु:खी व रोगी जीवों की तरफ दृष्टि डालिये। जो सब तरफ से साधन हीन हैं, दीन हैं, अनाथ हैं उनकी तरफ देखिये आपकी वेदना हलकी होगी दु:ख कम महसूस होगा।

आपको संसार के अच्छे-अच्छे भोग साधन सुखकर मालूम होते हैं या आपको स्वर्ग का वैभव, राज्य वैभव अच्छा लगता है अथवा बड़े-बड़े पद अच्छे लगते हैं तो शायद आप उन प्रलोभनों में आकर यही इच्छा करेंगे कि मुझे ये वस्तुयें भविष्य में अवश्य मिलें या आप पुन: पुन: उसके मिलने की चिन्ता करते रहेंगे किन्तु क्या आपने सोचा है कि यह भोगाकांक्षा भविष्य में दुर्गति का कारण है। देखो जितने भी नारायण होते हैं भोगों की आकांक्षा के निदान से ही होते हैं पुन: वे इस भव में चन्द दिनों तक अर्ध चक्रवर्ती पद के वैभव का उपभोग करके पूर्व के संस्कारवश भोगों की आसक्ति से मरकर नियम से नरक में ही जाते हैं। दूसरी बात यह है कि आपने इतना अधिक पुण्य नहीं किया है तो आपको मनचाही इच्छित वस्तु मिलेगी ही नहीं और यदि मिल भी गई तो राख के लिये हीरे को भस्म कर देने के सदृश वह निदान भावना मूर्खतापूर्ण ही है क्योंकि जो धर्म, तप, दान या पूजन आपको त्रैलोक्य का धनी बना सकता है उससे आपने विनाशीक पुत्र, पत्नी या धन वैभव को खरीदकर कोदों बोने के लिये चन्दनवन को जला डालने सदृश ही कार्य कर लिया है। इसलिये निदान करके अपने पुण्य को क्षीणकर आप स्वयं अपने को भविष्य में दु:ख के गर्त में मत डालिये। यह हुआ कर्म सिद्धांत का चिंतवन, यह यह सभी के लिये महौषधि है।

4.4 अब दूसरी महौषधि का प्रयोग देखिए—

कैसा भी कष्टकर प्रसंग हो, आपके इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग हो गया है या वेदना से आप तड़प रहे हों। वैराग्य औषधि लेते ही आपका दु:ख हलका हो जायेगा। संसार में जो जन्मा है वह मरेगा ही मरेगा, जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग होगा ही होगा अर्थात् जन्म के पीछे मरण, जवानी के पीछे बुढ़ापा, संयोग के पीछे वियोग, सुख के पीछे दु:ख और सम्पत्ति के पीछे विपत्ति नियम से आती ही आती हैं। संसार की स्थिति यही है तथा इस जगत में कौन किसका है ? अनादिकाल से लेकर अब तक अनंतानंत काल व्यतीत हो गया है, इस जगत में कौन ऐसा जीव है जो मेरी माता नहीं हुआ, मेरा पिता नहीं हुआ, पुत्र, मित्र या शत्रु नहीं हुआ है। अथवा मैं किसी का मित्र या शत्रु नहीं हुआ हूँ फिर भला अब किससे प्रेम करना? किसको अपना समझना? अथवा किससे द्वेष करना या किसको अपना शत्रु समझना? संसार तो इसी का नाम है तथा शरीर जो मेरा है मेरा आत्म प्रदेशों से एकमेक हो रहा है। क्या वह मेरा है? यदि है तो मेरे अनुकूल क्यों नहीं है? मेरे साथ क्यों नहीं जाता है? यदि एक दिन इसे भोजन न मिले तो यह मेरे कार्य में विघ्न क्यों डाल देता है अथवा मुझे पूर्णतया जवाब दे देता है फिर यह मेरा कैसे है? यह तो महाकृतघ्नी है। असंख्य रोगों का घर है, दु:खों की खान है और इसी के मोह में तो जीव अनंत संसार में परिभ्रमण करते हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी के इस श्लोक को प्रतिदिन पढ़ना चाहिए और अपने उठने-बैठने के स्थान पर ऊंचे पर इसे

लिखकर रखना चाहिए-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं।।

अर्थात् जिस कार्य से जीव का उपकार होता है उससे शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है उससे जीव का अपकार होता है।

इत्यादिरूप से संसार और शरीर का विचार करते हुए संसार के भोगों को भी किंपाक फल के समान देखने में ही मधुर समझना क्योंकि ये भोग हालाहल विष से भी भयंकर हैं ऐसी भावना भाना नित्य ही 'वैराग्य भावना' और कोई एक 'बारह भावना' का पाठ करना चाहिए। इससे शारीरिक और मानसिक शांति का अनुभव अवश्य होता है।

4.5 तृतीय महौषधि भक्ति है—

व्यक्ति के मन में जब तक किसी सुन्दर आदर्श के प्रति या किसी महान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रेम के स्थायी भाव नहीं होते तब तक दुराचार से हटकर सदाचार में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। संसार में जिनेन्द्रदेव एक महान आदर्श हैं। उनके प्रतीक दिगम्बर जैन आचार्य, उपाध्याय और साधु भी महान आदर्श हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठियों को आदर्श मानकर इनकी भक्ति करना। संकट के समय इनकी पूजा, उपासना, आराधना, जाप्य आदि करना वैसे ही है कि जैसे दावानल अग्नि के बुझाने में मेघ की वर्षा। यदि आप अधिक व्याकुलता में कुछ भी करने में असमर्थ हैं तो भी विश्वास के साथ मन-मन में णमोकार मंत्र जपते ही रहिये। यदि पूरा मंत्र नहीं जप सकते तो इतना अवश्य जपिये 'अरहंत सिद्ध, भव रोग वैद्य' यह मंत्र रामबाण औषधि है, अमोघ मंत्र है यह निरर्थक हो ही नहीं सकता है। आपके अशुभ कर्मों के पर्वत सौ-सौ खंड रूप हो जावेंगे, असाता कर्म गल-गल कर समाप्त हो जावेंगे। कैसा संकट क्यों न हो उससे आप छुटकारा पा लेंगे। सभी आस्तिकवादी दु:खों के नाशहेतु अपने इष्टदेव का स्मरण करते हैं। यहां तक कि नास्तिक लोग भी प्रार्थना करते हैं और उससे संकट का नाश, इच्छित फल की प्राप्ति होना स्वीकार करते हैं। फिर जब आप सच्चे वीतराग देव की सच्चे मन से जाप्य करेंगे तो आपके दु:ख दूर क्यों नहीं होंगे ? निर्जन वन में, श्मशान में, समुद्र में, युद्ध भूमि में, सिंह और डाकू वगैरह के समीप आने पर ही यह महामंत्र आपकी रक्षा करने में पूर्णतया सक्षम है। श्रीमानतुंगाचार्य के भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से 48 ताले टूट गये। सीता की जिनेन्द्र भक्ति ने अग्नि को जल बना दिया, चंदना की बेड़ी टूट गई, श्रीपाल ने समुद्र को पार कर लिया और अनंतमती ने अपने शील की रक्षा कर ली। अनेक उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है, पढ़िये महापुरुषों के इतिहास को और अर्हंतदेव की भक्ति में तन्मय हो जाइये फिर देखिये क्या नहीं होता है ? सब कुछ सिद्ध होता है यहां तक कि आप भक्ति करते-करते एक न एक दिन परम्परा से भगवान बन सकते हैं तब संसार के सर्व दु:खों से सदा-सदा के लिये छूट जायेंगे।

4.6 चतुर्थ औषधि है 'अध्यात्म-भावना'—

यह सर्व दु:खों को जड़मूल से नष्ट करने वाली है। अनादिकाल से मेरी आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध हो रहा है फिर भी शुद्ध निश्चयनय से मेरी आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, एक है, शुद्ध है, पुद्गल का एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है। मेरे में अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य ये चतुष्टय विद्यमान हैं, मैं अनंतगुणों का पूंज हूँ परमानंद स्वरूप हूँ, सिद्ध हूँ। ये कर्मजन्य पर्यायें मेरी आत्मा की नहीं है अर्थात् मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव नहीं हूँ। मैं स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं हूँ। मैं बाल, वृद्ध या युवा नहीं हूँ। मैं पंडित, मूर्ख, कुरूप, सुरूप, धनी, निर्धन आदि नहीं हूँ। किंतु मैं चित्चैतन्य स्वरूप हूँ, परंज्योति स्वरूप हूँ। अनादि काल से मिथ्यात्व के निमित्त से मैंने अपने आप को नहीं पहिचाना इसीलिये शरीर को ही आत्मा मानकर बहिरात्मा बना रहा अब मैं जिनेन्द्रदेव की कृपा प्रसाद से सम्यक्त्व निधि को पाकर संतुष्ट

हो गया हूँ। मेरी रत्नत्रय निधि ही मेरी अटूट सम्पत्ति है। मैं अनंत शक्तिमान हूँ । इत्यादि भावना के भाने से यह आत्मा अपने आप को दुःखी, दीन, रोगी, असमर्थ या अस्वस्थ नहीं समझता है प्रत्युत उतने क्षण तो अपने आपको कर्म बंधन से रहित, संसार दुःखों से रहित समझने लगता है। यही भावना आगे चल कर जब दृढ़ हो जाती है तभी यह आत्मा अंतरात्मा होता हुआ एक देश और पूर्ण चरित्र को ग्रहण कर अपने आपको साधु, आचार्य, उपाध्याय बना लेता है, जगद्वंद्य पूज्य हो जाता है पुनः क्रम-क्रम से शक्ति संचित करके परमात्मा बन जाता है। वास्तव में जो भी हमारी संसारी अवस्था है वह व्यवहारनय का विषय है निश्चयनय तो वस्तु के सहज स्वभाव का ही वर्णन करता है। इस प्रकार से इष्ट वियोग आदि प्रसंगों पर या वेदना आदि के समय अथवा अनिष्ट उपद्रव, उपसर्गों के समय इस अध्यात्म भावना के अवलंबन से ही आत्मा में एक प्रकार का आनंद उत्पन्न होता है। वह आनंद क्षणमात्र में तमाम कर्म ईंधन को भस्मसात् कर देता है जिससे इस लोक में भी शारीरिक व मानसिक शांति मिल जाती है और परलोक में तो स्वर्ग व परंपरा से मोक्ष निश्चित ही है। इस अध्यात्म भावना में आत्मा की भक्ति होती है। ध्यान सूत्रों को पढ़ते हुए भी इसे भाना चाहिए। अध्यात्म भावना के बिना ध्यान की सिद्धि असंभव है अतः इसका अवलंबन लेना ही चाहिए। इस भावना से यह जीव शरीर से निर्मम हो जाता है अतः उस पर आये दुःखों को सहने का अभ्यासी हो जाता है तथा वह उपवास, कायक्लेश आदि द्वारा दुःखों को बुला-बुलाकर अध्यात्म की भावना भाता है क्योंकि समाधिशतक में कहा है कि—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः।।

अर्थात् सुखिया जीवन में किया गया तत्व का अभ्यास दुःख के आ जाने पर पलायमान हो जाता है। अतएव मुनि दुःखों में भी आत्मा की भावना करे यह परमौषधि है।

यदि किसी के प्रति आपने असीम उपकार किये हैं किंतु उनका बदला वह अपकार से चुका रहा है अथवा उन उपकारों को अपकार ही मान रहा है या वह आपके उपकारों को मानने को तैयार नहीं है तो न सही। आप तो सोचिये कि मैंने उसका कुछ नहीं किया है उसके उत्तम भाग्य से ही उसका भला हुआ है, मैं तो एक निमित्त मात्र था ऐसा सोच कर आप अहंकार व कर्तृत्व की बुद्धि को दूर कीजिए। यदि उसके अशुभ कर्म का उदय होता तो आपके द्वारा किये गये उपकारों का निमित्त उसे नहीं भी मिलता इत्यादि। दूसरी बात यह है कि **श्री भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है कि 'कृतज्ञता गुण—किये हुये के उपकार को मानना' यह गुण अत्यन्त दुर्लभ है जैसे निगोद से स्थावर होना अत्यंत कठिन है पुनः स्थावर से त्रस पर्याय मिलना कठिन है, पुनः त्रस में भी विकलत्रय जीवों की बहुलता होने से पंचेन्द्रिय पर्याय पाना उतना ही कठिन है जितना कि गुणों में कृतज्ञता गुण मिलना कठिन है।**

अथवा यदि अकारण ही कोई आपके प्रति द्वेष कर रहा है, आपकी झूठी निंदा या अवर्णवाद कर रहा है या आपके प्रति बुरा कर रहा है तो भी आपको कर्म सिद्धांत का विचार करते हुए उस पर क्षमा भाव रखना ही उचित है। आप जीवंधर के जीवन चरित्र को पढ़कर काष्ठांगार की कृतघ्नता का उदाहरण सामने रखिये और उस कुत्ते के द्वारा जीवंधर स्वामी के प्रति किये गये प्रत्युपकार को भी देखिये एवं व्यवहारिक जनों की सूक्ति का भी विचार कीजिए कि 'नेकी कर कुंये में डाल'। इस सूक्ति से भी आपको क्लेश नहीं होगा।

इस तरह से जितने भी संक्लेश के कारण हैं वे सब आर्तध्यान के ही अंदर आ जाते हैं। तथा जितने भी बुरे विचार हैं वे सब रौद्रध्यान में गर्भित हो जाते हैं। जैसे प्रिय वस्तुओं के प्राप्त करने की चिंता, नष्ट हो जाने पर उनके मिलने की बार-बार उत्कंठा, चिंता, अप्रिय वस्तुओं के मिल जाने पर उनसे दूर होने की चिंता या अप्रिय समागम न होने की भावना, रोग जनित पीड़ा से बेचैनी व पंचेन्द्रियों के विषयों की आकांक्षा, उनके प्राप्त होने की चिंता-उपाय आदि ये सब आर्तध्यान हैं। किसी को अप्रिय शत्रु समझकर उनके मारने, नष्ट करने आदि की चिंता, असत्य, मायाचारी आदि के द्वारा

दूसरों को वंचित करने की चिंता, किसी की वस्तु को अपहरण करने की चिंता या परिग्रह के अर्जन, संरक्षण आदि की अधिक चिंता ये सब रौद्र ध्यान हैं। इनसे छूटने के उपायों में चार कारण बताये हैं-कर्म सिद्धान्त विचार, वैराग्य भावना, भक्ति भावना और अध्यात्म भावना, ये चारों ही उपाय चारों धर्मध्यान में गर्भित हैं। कर्म सिद्धांत विपाकविचय नामक तृतीय धर्मध्यान में, वैराग्य भावना अपायविचय में, भक्ति भावना आज्ञाविचय में और अध्यात्म भावना आज्ञाविचय तथा संस्थानविचय धर्मध्यान में ही गर्भित हैं अर्थात् ये चारों धर्मध्यान ही क्रम से सभी दुर्ध्यानों को समाप्त करके मानसिक, आत्मिक शांति देने में समर्थ हैं।श्री अमितगतिसूरि ने कहा है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव।।

इसी प्रकार से सब जीवों के प्रति मैत्री भाव, गुणीजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों के प्रति करुणा और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थभाव ये चार भावनायें भी हमेशा सुख शांति प्रदान करने वाली हैं। इनको भी नित्य ही भाते रहना चाहिए।'

अपना मानव जीवन सदाचारी होना चाहिए। इसके लिए जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन नरक के द्वार हैं इन्हें सबसे पहले गुरु की साक्षी से त्याग कर देना और मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग करके सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेना चाहिए। पुनः संकल्पी हिंसा का त्याग, असत्य का त्याग, चोरी का त्याग, कुशील का त्याग और परिग्रह का परिमाण इन पांच अणुव्रतों को धारण कर लेना चाहिए क्योंकि ये अणुव्रत नियम से देवगति के ही कारण हैं। अणुव्रत धारण के पश्चात् यह जीव नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति में नहीं जा सकता है तथा देवपूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यक क्रियाओं को नित्य करना चाहिए। इन छहों में भी **'दाणं पूजा मुक्खो सावयधम्मो ण सावया तेण विणा'** इस कुंदकुंददेव की वाणी के अनुसार दान और पूजा को श्रावक का मुख्य कर्तव्य मानकर अवश्य करना चाहिए क्योंकि इनके बिना कोई गृहस्थ श्रावक नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार महिलाओं को भी उपर्युक्त कथित अनुसार चिंतायें छोड़नी चाहिए। यदि घर में सास या पति अथवा पुत्र या पुत्रवधुयें, पुत्रियां आदि अनुकूल नहीं हैं तो भी उनके साथ उचित व्यवहार करते हुए आप मन में शांति धारण करें क्योंकि ये चंद दिनों के सम्बन्ध हैं। प्रत्येक जीव अकेला ही आया है और अकेला ही जायेगा। अतः किसी के लिए संक्लेश या चिंता करके अपने स्वास्थ्य और परलोक को नहीं बिगाड़ना चाहिए। आत्मा स्त्री नहीं है, पुरुष या नपुंसक भी नहीं है। वह तो शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध, सिद्ध सदृश है उसी का अवलंबन लेकर पराधीन स्त्री पर्याय से छूटने का उपाय करना चाहिए। यदि स्त्री पर्याय में सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो नियम से आगे स्त्री पर्याय नहीं प्राप्त होगी। अपने शील धर्म को तीन लोक में श्रेष्ठ रत्न समझना चाहिए। क्षणिक भौतिक चमत्कार व प्रलोभनों में पड़कर अपने शीलरत्न को नहीं गंवाना चाहिए। हमेशा सीता, अंजना, चंदना, अनंतमती आदि के उदाहरण सामने रखना चाहिए। पति और पुत्रों को धर्मनिष्ठ बनाने में चेलना के समान बनना चाहिए। निर्धनता, बीमारी आदि संकट के समय धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। स्त्री पर्याय को सर्वथा निंद्य समझकर खेद करना, पराधीनता के पिजड़े में बंद रहना अथवा आधुनिक वातावरण से प्रभावित होकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना ये सभी बातें ठीक नहीं हैं। तीर्थंकर की मातायें, चंदना आदि सतियां ये भी महिलायें थीं फिर भी ये गुणों की खान मानी जाती हैं। पुरुष तो क्या देव इंद्र भी इनके सामने नत हुए हैं। महासती सीता ने आर्यिका दीक्षा लेकर रामचंद्र को भी नत मस्तक कर दिया था उन्होंने भी आर्यिका वेष में सीता को नमस्कार किया था। अतः अपने को हीन-दीन भी नहीं मानना चाहिए और स्वैरवृत्ति करके अपने कुल को, धर्म को कलंकित भी नहीं करना चाहिए। चारों प्रकार के अनुयोगों का हमेशा स्वाध्याय करके अपने ज्ञान को निर्मल बनाना चाहिए। सुख और वैभव को पाकर फूलना नहीं और दुःख तथा विपत्ति के समय घबड़ाना नहीं चाहिए। अपना संतुलन बना कर हमेशा प्रसन्नचित्त व प्रसन्नमुख रहना चाहिए, इससे सदैव शान्ति मिलती है।

4.7 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-आर्तध्यान कितने प्रकार का माना है ?

(क) पाँच ☐ (ख) चार ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 2-महौषधियाँ कितने प्रकार की बताई हैं ?

(क) चार ☐ (ख) आठ ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 3-अणुव्रत कितने होते हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) छः ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-श्री उमास्वामी आचार्य ने ध्यान का क्या लक्षण बताया है ?

प्रश्न 2-रौद्रध्यान किसे कहते हैं और रौद्र ध्यान के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 3-शुक्लध्यान का लक्षण क्या है? यह कौन से गुणस्थान से प्रारंभ होता है ?

प्रश्न 4-आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण लिखो ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-चिंताओं को दूर करने के उपाय क्या हैं ? विस्तार से लिखें।

पाठ 5 – ध्यान के विषय में विशेष ज्ञातव्य

5.1 ध्यान के विषय में ज्ञातव्य–

यद्यपि किसी शुभ अथवा अशुभ ध्येय में मन का केन्द्रित हो जाना तन्मय हो जाना यह ध्यान का लक्षण है। वह गंभीर चिन्ताओं मे भी गर्भित है। फिर भी आप स्थिर मुद्रा से स्थित होकर अपने इष्टदेव का चिन्तवन करने में तन्मय होने को ही ध्यान समझते हैं। सो ठीक ही है क्योंकि यही शुभ ध्यान है। इसके विषय में हमें चार बातें समझनी होंगी। ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल।

यहां अपने को पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यानों से प्रयोजन है। अत: उसी के लिये इन चारों को समझना है क्योंकि निर्विकल्परूप शुद्ध आत्मा का ध्यान करना आजकल शक्य नहीं है तथा वह श्रावकों के लिये तो सदा ही असंभव है।

1. रत्नत्रय से सम्पन्न जितेन्द्रिय प्रमत्त गुणस्थानवर्ती और अप्रमत्त गुणस्थानी महामुनि ही इस ध्यान को करने वाले ध्याता है क्योंकि श्री शुभचन्द्राचार्य गृहस्थाश्रम में ध्यान का पूर्णतया निषेध कर रहे हैं। वे कहते हैं कि 'आकाश में पुष्प अथवा गधे के सींग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान सिद्धि नहीं हो सकती है।' तथा आगे चलकर वे यह भी कहते हैं कि 'कितने ही आचार्यों ने धर्मध्यान के स्वामी अधिकारी चार भी कहे हैं–असंयत–सम्यग्दृष्टि, देशविरत श्रावक, प्रमत्त और अप्रमत्तमुनि। ये चारों भी अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार धर्मध्यान कर सकते हैं। इस कथनानुसार सम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावक भी धर्मध्यान को कर सकते हैं। फिर भी अपने को यह मानना चाहिये कि हम लोग ध्यान का अभ्यास अथवा उसकी भावना या चिन्ता करते हैं। इससे एक न एक दिन अवश्य ही हम ध्यान के अधिकारी बन जायेंगे। इसलिये वे अणुव्रती या सम्यग्दृष्टि अथवा मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि जो भी भव्यजीव प्रसन्नमना होकर ध्यान करते हैं वे ध्याता कहलाते हैं।

2. पंचपरमेष्ठी और अपनी शुद्धात्मा ही ध्येय है तथा संपूर्ण द्वादशांग श्रुत या उसके कोई भी पद, अक्षर, वाक्य ध्येय हैं, रत्नत्रय ध्येय है, दश धर्म, सोलहकारण भावना जिनेन्द्रदेव के चौंतीस अतिशय आदि सब ध्येय हैं अर्थात् इनमें से किसी का भी ध्यान किया जाता है।

3. एक विषय में मन का एकाग्र करना ध्यान हैं 'इस ध्यान में जिनमुद्रा से खड़े होकर दोनों हाथ लटका कर या योगमुद्रा से बैठकर बायें हाथ की हथेली पर दाहिने हाथ की हथेली रख दो, आंखों को अधिक न खोलो न बन्द रखो, धीरे–धीरे उच्छ्वास लो और दोनों दांतों की पंक्तियों को मिलाकर रखो पुन: मन की स्वच्छंद गति को रोककर उसे अपने ध्येय में स्थिर करो। उस समय परीषह उपसर्ग आदि बाधायें आ जावें तो सहन करो। पहले तो निर्जंतुक, निर्बाध, पवित्र उत्तम स्थान में बैठना चाहिये फिर भी यदि विघ्न आ जावें तो उनसे घबड़ाओं मत। ध्यान के समय सुखासन ही अच्छा रहता है। पिंडस्थ आदि का अवलबंन लेना या पदस्थ ध्यान को करना ये सब ध्यान है।

4. इस ध्यान का फल स्वर्ग है व परम्परा से मोक्ष है तथा साक्षात् फल है शारीरिक व मानसिक क्लेशों का, दु:खों का दूर हो जाना। तथा अनेक प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियाँ भी ध्यान के प्रभाव से प्राप्त हो जाती है और मन वश में हो जाता है। ध्यान के निमित्त से अंत समय में समाधि की सिद्धि निर्विघ्नतया होती है।

5.2 ध्यान के लिये पुराकर्म–

ध्यान की सिद्धि के लिये मन की शुद्धि आवश्यक है और मन को पवित्र बनाने के लिये विधिवत् 'देववंदना' (सामायिक) करना चाहिये उस देववंदना के छह कृति कर्म होते हैं–'स्वाधीनता, तीन प्रदक्षिणा, तीन कायोत्सर्ग, तीन निषद्या, चार शिरोनति ओर बारह आवर्त।' अर्थात् वंदना करने वाला स्वाधीन हो। मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देवे। आगे कही विधि में तीन भक्ति सम्बन्धी तीन कायोत्सर्ग होते हैं। बैठकर ईर्यापथ आलोचना चैत्यभक्ति की आलोचना और

पंचगुरुभक्ति की आलोचना करके पुनः अगली भक्ति संबंधी विज्ञापना करना ये तीन निषद्या है। सामायिक दंडक और थोस्सामिस्तव इन दोनों के आदि और अंत में एक-एक शिरोनति करने से चार शिरोनति होती हैं और इन्हीं के आदि अंत में तीन-तीन आवर्त करने से बारह आवर्त हो जाते हैं।

इस देववंदना में चार मुद्राओं का प्रयोग होता है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वंदनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। जिनप्रतिमा के समान हाथ लटका कर और पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर स्थिर खड़े होना जिनमुद्रा हैं। पद्मासन, पर्यंकासन या वीरासन से बैठकर बायें हाथ की हथेली पर दायीं हथेली रखना योगमुद्रा है। दोनों हाथों को मुकुलित जोड़ना वंदनामुद्रा है। और दोनों हाथों को मिलाकर जोड़ना मुक्ताशुक्ति मुद्रा है।

वंदना का इच्छुक व्यक्ति मंदिर में या बगीची आदि किसी भी पवित्र स्थान में वंदना कर सकता है। यदि मंदिर में करना है तो मंदिर में पहुंच कर पहले पैर धोकर जिनमंदिर की तीन प्रदक्षिणा देवे, नंतर निःसही निःसही निःसही, ऐसा उच्चारण करते हुये अन्दर प्रवेश कर णमोकार मंत्र पढ़कर निःसंगोहं जिनानां इत्यादि दर्शनस्तोत्र पढ़कर जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को नमस्कार करके 'देववंदना प्रारम्भ कर देवे।

वंदना करने वाले को पूर्व या उत्तर में ही मुख करके बैठना या खड़े होना चाहिये तथा आसन में दाभ का आसन ही उत्तम माना गया है। पुनः यदि संस्कृत आती है तो पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत भक्तियों का ही प्रयोग करें अन्यथा उसी के अनुवादरूप हिंदी भाषा में रचित भक्तियों का पाठ करते हुये विधिवत् वंदना करें।

5.3 पिंडस्थ ध्यान की आवश्यकता क्यों ?

इस पिंडस्थ ध्यान में अनेक प्रकार के विषय का ध्यान होने से मन को बहुत ही बवाल मालूम पड़ता है। अतः कोई एक पद या अक्षर का ध्यान करना बताइये ?

एक ध्येय में किसी मंत्र या पद में कुछ क्षण तक मन को केन्द्रित करना प्रारंभ में बहुत ही कठिन है। हाँ ! अभ्यास के बाद अवश्य ही आप एक विषय पर मन को कुछ देर तक रोक सकते हैं। इस पिंडस्थ ध्यान में मन को स्थिर करने का सुन्दर और व्यवस्थित मार्ग बतलाया गया है क्योंकि निकम्मा मन प्रमाद करता है। जब तक यह किसी दायित्वपूर्ण कार्य में लगा रहता है, तब तक इसे व्यर्थ की अनावश्यक एवं न करने योग्य बातों के सोचने का अवसर ही नहीं मिलता है। पर जहाँ इसे दायित्व से छुटकारा मिला, स्वच्छन्द हुआ कि यह उन विषयों को सोचने लगता है जिन का स्मरण भी कभी कार्य करते समय नहीं होता था। मन की गति बड़ी विचित्र है। नया साधक जब ध्यान का अभ्यास प्रारंभ करता है, तब उसके सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि अन्य समय जिन सड़ी, गली, गंदी एवं घिनौनी बातों की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वे ही उस समय उसे याद आने लगती हैं और वह घबड़ा जाता है। इसलिये उस मन को ऐसी ही वृहत् सामग्री देनी चाहिये कि जिसमें उलझ कर सांसारिक उलझनों से बचा रहे।

मन को एक ही 'पद' देने से वह अधिक देर उस पर टिक न सकने के कारण उससे हटकर निकम्मा हो जाता है। किन्तु उसे निकम्मा रहना भी तो आता नहीं, अतः वह उन पुराने चित्रों को उधेड़ने लगता है कि जिनका संस्कार उस पर पहले से पड़ा हुआ है। अतः आचार्यों ने इस ध्यान में धारणाओं के द्वारा क्रम से मन को रिझाने का उपाय बतलाया है। इन धारणाओं के चिंतवन से मन को अन्य विचार का अवसर नहीं मिल पाता है अन्यथा यह मन संसार के विषयों में ही पड़कर धर्म की जगह भी मारधाड़ कर बैठता है। किन्तु क्रम से इस ध्यान में चिंतन का विषय अधिक होने से आत्मा को बहुत ही शांति मिलती है। इसलिये अपने मन को यदि आप एकाग्र करना चाहते हैं और ध्यान के इच्छुक हैं तो पहले इस पिंडस्थ ध्यान का भी अभ्यास कीजिये।

5.4 पिंडस्थ ध्यान का प्रयोग—

पिंड–शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान पिंडस्थ ध्यान है। इसके लिये आचार्यों ने पांच धारणायें बतलाई हैं। पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्वरूपवती। ये धारणायें क्रम से होती हैं।

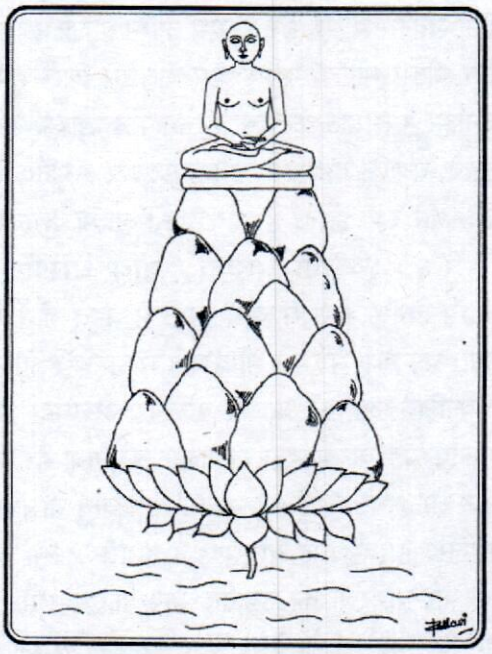

(1) पार्थिवी धारणा–आप स्थिर योगमुद्रा से बैठकर चिंतवन कीजिये कि स्वयंभूरमण समुद्र पर्यंत इस मध्यलोक प्रमाण एक क्षीर समुद्र है अर्थात् यह मध्यलोक क्षीरसमुद्र सदृश निर्मल जल से भरा हुआ है। यह नि:शब्द है और कल्लोल रहित है। कुछ क्षण तक अपने चारों तरफ आप दुग्ध समुद्र को ही देखने का प्रयत्न कीजिये जब आपको क्षीर के सिवाय अन्य कुछ भी न दिखे तब आप आगे सोचिये कि इस क्षीर समुद्र के मध्य एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप प्रमाण ऊपर उठा हुआ और खिला हुआ एक दिव्य कमल है उसके हजार दल है वे सभी सुवर्ण के समान चमक रहे हैं। उसकी कर्णिका सुमेरु के समान उठी हुई है और वह अपनी पराग से दशों दिशाओं को पीली करती हुई पीत वर्ण की है।

पुन: आप देखिये कि उस कर्णिका पर एक श्वेतवर्ण का ऊंचा सिंहासन है। उस पर आप अपनी आत्मा को क्षोभ रहित, शांत विराजमान हुई चिंतवन कीजिये। अनन्तर आप ऐसा चिंतवन कीजिये कि मेरी आत्मा संपूर्ण राग-द्वेषमय संसार को और संपूर्ण कर्मजाल को नष्ट करने में समर्थ है। ऐसा बार बार चिंतवन करते हुए अपने उपयोग को उसी में तन्मय कर दीजिये। यह पार्थिवी धारणा का स्वरूप है।

(2) आग्नेयी धारणा (कर्मरूपी कमल)—

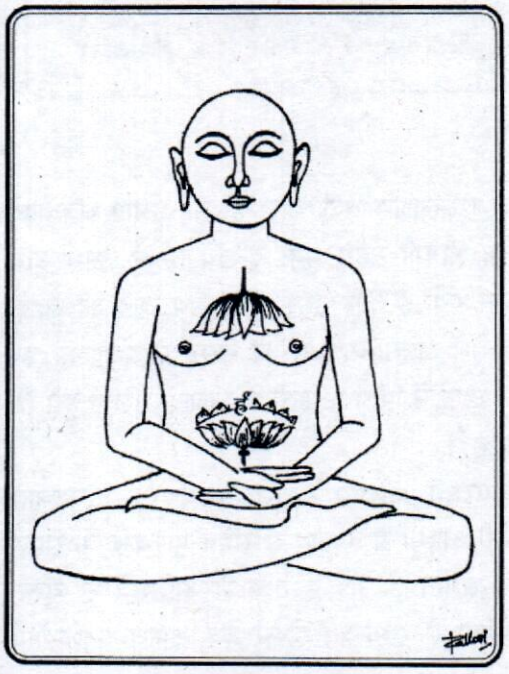

फिर उसी सुमेरु पर्वत पर बैठे हुये आप ध्यान में सोचिये कि मेरे नाभिस्थान में सोलह दलों वाला खिला हुआ एक सफेद कमल है। उस कमल की कर्णिका पर 'ह्रीं' ऐसे बीजाक्षर को पीत वर्ण से लिखा हुआ देखिये। पुन: पूर्व दिशा के क्रम से प्रत्येक दलों पर पीतवर्ण से लिखे हुए अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ: इन सोलह अक्षरों का ध्यान कीजिए। आपको ये अक्षर और कर्णिका का महामंत्र स्पष्ट दिखना चाहिये। पुन: आप देखें कि इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान पर औंधा मुँह करके एक आठ दल का कमल बना हुआ है वह मटमैले रंग का है उसके दलों पर क्रम से ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयु कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, अन्तराय कर्म, ये कर्म लिखे हुये हैं।

पुन: आप देखिये कि नाभि–कमल की कर्णिका के 'ह्रं' महामंत्र के रेफ से धुआं निकल रहा है, पुन: उसमें से अग्नि के स्फुलिंगे निकलने लगे। अग्नि की लौ ऊपर को उठने लगी और

उसमें से लपटें निकलने लगी। फिर उन लपटों ने ऊपर के कमल को जलाना प्रारम्भ कर दिया। धीरे–धीरे वह अग्नि मस्तक के ऊपर पहुँच गई और ऊपर से उसकी एक लकीर दाईं ओर को और एक बाईं ओर को निकल कर आ गई। उन दोनों लकीरों ने नीचे आकर दोनों कोनों को मिलाकर त्रिकोणाकार अग्नि मण्डल बना दिया। अब अन्दर में धधगती हुई अग्नि अन्दर के कमल आदि को जला रही है और बाहर में औदारिक शरीर को भस्म कर रही है। इस त्रिकोणाकार में तीनों लकीरों में ' रं रं रं रं' ऐसे अग्नि बीजाक्षर लिखे हुए हैं और तीनों कोणों पर स्वस्तिक बना हुआ है तथा स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में 'ऊँ रँ' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुये हैं। यह अग्निमण्डल भीतर में आठों कर्मों को और बाहर में शरीर को जलाकर भस्मसात कर रहा है। आप घबड़ाइये मत, आपकी आत्मा अग्नि से कभी भी जल नहीं सकती ऐसा पूर्ण विश्वास रखिये, क्योंकि वह तो चिच्चैतन्यस्वरूप अमूर्तिक है। पुनः देखिये कि वह अग्नि अब जलाने योग्य कुछ भी न रह जाने से धीरे–धीरे शांत हो गई है और हमारी आत्मा के ऊपर राख का पुंज इकट्ठा हो गया है। यह आग्नेयी धारणा हुई।

(3) श्वसना धारणा (वायु धारणा)–अब आप देखिये कि आकाश में चारों तरफ से बहुत जोरों से हवा चलने लगी। यह हवा मेरु को भी कंपाने में समर्थ है किन्तु आप चिंता न कीजिये आपकी आत्मा को यह अणुमात्र भी हिला नहीं सकती। यह वायुमण्डल गोलाकार बन गया है। इस मण्डल में आठ जगह घेरे में 'स्वाय–स्वाय' ऐसे वायु बीजाक्षर सफेद वर्ण से लिखे हुए हैं। यह वायुमण्डल हमारी आत्मा के ऊपर लगे हुये सारे कर्मरजों को उड़ाकर साफ कर रहा है। तत्पश्चात् यह वायु स्थिर हो गई है। ऐसा चिंतवन करना श्वसना धारणा है इसे वायवी या मारुती धारणा भी कहते हैं।

(4) वारुणी धारणा–पुनः आप देखिये कि आकाश में चारों तरफ मेघ छा गये हैं बिजली चमक रही है इन्द्र- धनुष दिख रहा है अब बादल गरजने लगे। देखते–देखते मूसलाधार वर्षा चालू हो गई। आप घबड़ाइये मत आपकी आत्मा भीगेगी नहीं। पुनः देखिये अपने ऊपर अर्ध चन्द्राकार मंडल बन गया है और उससे अमृतमय जल की सहस्र धारायें बरसती हुई मेरी आत्मा के कर्म की भस्म को प्रक्षालित कर रही है। इस वरुणमण्डल में 'पं पं पं' इत्यादि बीजाक्षर लिखे हुये हैं। यह वारुणी धारणा हुई।

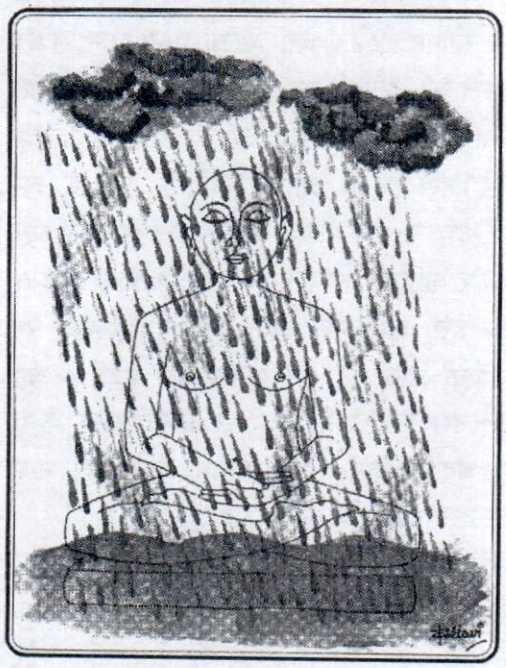

(5) तत्वरूपवती धारणा (शुद्ध भावना)–तत्पश्चात् आप देखिये कि मेरी आत्मा सप्त धातु से रहित पूर्णचन्द्र के सदृश प्रभावशाली सर्वज्ञ–समान हो गई हैं अब मैं अतिशय से युक्त, कल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव धरणेन्द्रादि

से पूजित हो गया हूँ। अनंतर मैं आठ कर्मों से रहित निर्मल पुरुषाकार नित्य निरंजन परमात्मा हो गया हूँ। ऐसा ध्यान करना यह तत्वरूपवती धारणा है।

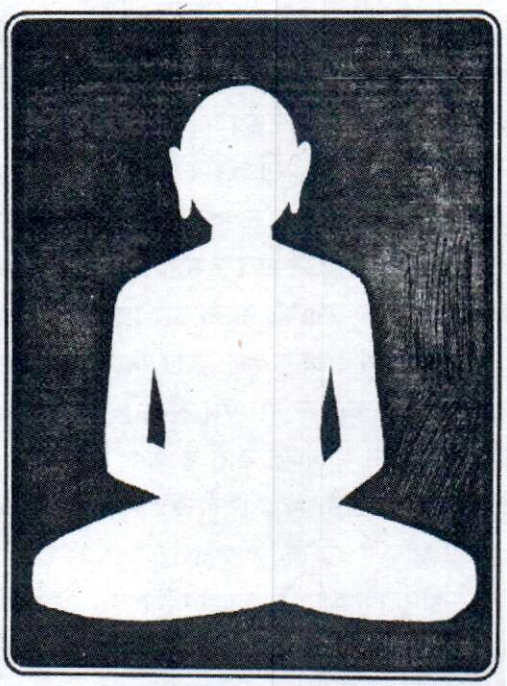

इस पिंडस्थ ध्यान का निश्चल अभ्यास करने वाले योगीजन अन्य प्रकार से साधने में कठिन ऐसे मोक्षमुख को भी प्राप्त कर लेते हैं तो अन्य सुखों की बात ही क्या है ? जिस प्रकार से सूर्य के उदित होते ही उल्लू पलायमान हो जाते हैं उसी प्रकार से इस पिंडस्थ ध्यानरूपी धन के समीप होने पर विद्या, मंडल, मन्त्र, यन्त्र, इन्द्रजाल के आश्चर्य, क्रूर अभिचार स्वरूप क्रिया, तथा सिंह, सर्प, दैत्य आदि निःसारता को प्राप्त हो जाते हैं तथा शाकिनी , ग्रह, राक्षस, भूत, पिशाच आदि कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। ऐसा इस ध्यान का प्रभाव है।

5.5 पदस्थ ध्यान—

पवित्र मंत्रों के अक्षर पदों का अवलंबन लेने वाला ध्यान पदस्थ कहलाता है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं।

(1) 'ॐ' इस मंत्र को प्रणव मंत्र कहते हैं। यह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्र समस्त वाङ्मय द्वादशांग श्रुत को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान है। इसको हृदय कमल की कर्णिका पर या ललाट आदि पवित्र स्थान में चन्द्रमा के समान श्वेत चिन्तवन करो।

(2) हृदय में आठ दल के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' पूर्वादि दिशाओं के दलों पर क्रम से 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों को तथा विदिशा के दलों पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः, इन चार मंत्र पदों को स्थापित करके इन नव मंत्रपदों का ध्यान कीजिये।

अथवा पंचवर्णी ह्रीँ बीजाक्षर में चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों को विराजमान करके उसका ध्यान निम्न प्रकार करें—

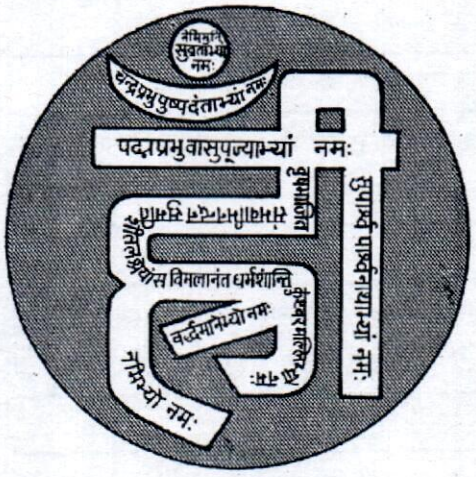

'ह्रीँ' बीजाक्षर में ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर स्थित हैं, वे अपने अपने वर्णों से युक्त हैं उनका ध्यान करें अर्थात् इस ह्रीँ में जो नाद है वह चंद्र के समान आकार व वर्ण वाला है, जो बिंदु (0) है वह नीलमणि की प्रभा वाली है। जो कला (–) है वह लाल वर्ण की है और जो 'ह' वर्ण है वह स्वर्ण के समान आभा वाला है। शिर के ऊपर जो (ी) ईकार है वह हरित वर्ण की है। इस तरह उन–उन वर्ण वाले तीर्थंकर देव उन-उन वर्ण के स्थानों में स्थित हैं उन सबको मेरा नमस्कार होवे।

चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत श्वेत वर्ण वाले होने से ये दोनों नाद में स्थित हैं। नेमिनाथ और मुनिसुव्रत भगवान् नील वर्ण वाले हैं अतः वे बिन्दु (0) में विराजमान हैं। पद्मप्रभ तथा वासुपूज्य देव लाल वर्ण वाले होने से वे कला (—) में विराजमान हैं। तथा सुपार्श्व और पार्श्वनाथ भगवान हरित वर्ण के हैं अतः वे शिर के

ऊपर स्थित ईकार (ी) में स्थित हैं। तथा शेष सोलह तीर्थंकर सुवर्ण के समान छवि वाले होने से र् और ह् (ह्र) में स्थापित किये गये हैं। इस प्रकार ये चौबीसों ही तीर्थंकर इस माया बीजाक्षर (ह्रीँ) को प्राप्त हो गए हैं। अर्थात् चौबीसों ही तीर्थंकर इस बीजाक्षररूप को प्राप्त हो गए हैं। इस प्रकार से इन पाँचों वर्ण वाले चौबीसों तीर्थंकरों के इस प्रकार से इन पाँचों वार्ण वाले चौबीसों तीर्थंकरों के नाम मंत्रों को इस (ह्रीं) मंत्र में स्थापित करके आप लोग इसका ध्यान कीजिये। तथा 'ऊँ ह्रीं नमः' इस त्रैलोक्य वशंकरी विद्या की आराधना कीजिये।

इस पदस्थ ध्यान में इस मंत्रों का ध्यान करना ही कहा है। अर्थात् इन मंत्रों को हृदय, ललाट, नाभि, मस्तक, कंठ आदि स्थानों में स्थापित करके उस पर उपयोग को स्थिर करना चाहिये।

जाप्य–यदि आप ऐसा ध्यान करने में असमर्थ हैं तो आप इन मंत्रों की जाप्य भी कर सकते हैं। जाप्य करने के वाचक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद हैं। वाचक जाप में शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होता है। उपांशु में भीतर ही भीतर शब्द कंठस्थान में गूंजते रहते हैं बाहर नहीं निकल पाते हैं। किन्तु मानस जाप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है, हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यही क्रिया ध्यान का रूप धारण करती है। वाचिक जाप से सौगुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा अधिक पुण्य मानस जाप से होता है।

महामंत्र के जाप में प्राणायाम विधि का विधान है। अर्थात् णमोकार मंत्र के तीन अंश करिये 'णमो अरहंताणं' इस पद के उच्चारण के साथ श्वासवायु को अंदर ले जाइये और 'णमो सिद्धाणं' इस पद के उच्चारण के साथ श्वास वायु को बाहर निकालिये। इसी तरह 'णमो आइरियाणं' में श्वास खींचना और 'णमो उवज्झायाणं' में श्वास को छोड़ना तथा 'णमो लोए' में श्वास लेना और "सव्व साहूणं' पद में छोड़ना। इस तरह एक गाथा महामंत्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं।

मुनियों की देववंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि प्रत्येक क्रियाओं में श्वासोच्छ्वास की गणना से ही महामंत्र पूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान है तथा श्रावकों के लिये भी ऐसा ही विधान है। अतः इस महामंत्र का नव बार जाप करने से 27 उच्छ्वास होते हैं एवं 108 जाप करने से 300 उच्छ्वास हो जाते हैं। यह महामंत्र सर्वश्रेष्ठ अपराजित मंत्र है। ऐसे ही 'अरहंत सिद्ध' 'अ सि आ उ सा' नमः सिद्धेभ्यः' आदि अनेकों मंत्र हैं।

शांतिमंत्र–

ऊँ ह्रीँ श्री शांतिनाथाय जगत्शांतिकराय सर्वोपद्रवशांतिं कुरु कुरु ह्रीं नमः।

शांति की इच्छा करते हुये सदैव इस मंत्र का जाप करना चाहिये। अंगुलियों पर जाप करना या मणियों को अथवा सूत की माला पर भी जाप करना चाहिये। प्लास्टिक या लकड़ी की माला से जाप नहीं करना चाहिये यह जाप पदस्थ ध्यान नहीं है किन्तु उस ध्यान के लिये प्रारम्भिक साधन मात्र है।

5.6 रूपस्थध्यान—

अरिहंत भगवान् के स्वरूप का विचार करना, अर्थात् भगवान् समवसरण में द्वादश सभाओं के मध्य विराजमान हैं। उनका ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।

5.7 रूपातीत—

सिद्धों के गुणों का चिंतवन करना अर्थात् सिद्ध भगवान् अमूर्तिक, चैतन्य स्वरूप, पुरुषाकार, निरंजन परमात्मा हैं, वे लोकाग्र में विराजमान हैं। तत्पश्चात् अपने आपको सिद्ध स्वरूप समझकर उसी में लीन हो जाना सो यह रूपातीत ध्यान है।

5.8 ध्यानसूत्र (श्री माघनन्दि आचार्य विरचित)—

(सामायिक में ध्यान के पूर्व इन सूत्रों का भी चिंतवन किया जाता है। ये सूत्र मंत्र निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धात्मा की भावना स्वरूप हैं।)

1. रागद्वेष-मोहरहितोऽहं।
2. क्रोधमानमायालोभरहितोऽहं।
3. पंचेन्द्रियविषयव्यापारशून्योऽहं।
4. मनोवचनकायक्रियारहितोऽहं।
5. द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितोऽहं।
6. ख्याति-पूजा-लाभादिविभावभावरहितोऽहं।
7. दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारहितोऽहं।
8. शल्यत्रयरहितोऽहं।
9. गारवत्रयरहितोऽहं।
10. दंडत्रयरहितोऽहं।
11. विभावपरिणामशून्योऽहं।
12. निजनिरंजनस्वरूपोऽहं।
13. स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिणतोऽहं।
14. भेदज्ञानानुष्ठानपरिणतोऽहं।
15. अभेदरत्नत्रयस्वरूपोऽहं।
16. निर्विकल्पसमाधिसंजातोऽहं।
17. वीतरागसहजानन्दस्वरूपोऽहं।
18. अत्यानंदस्वरूपोऽहं।
19. स्वसंवेदनज्ञानामृतभरितोऽहं।
20. ज्ञायकैकस्वभावोऽहं।
21. सहजशुद्धपारिणामिकस्वभावरूपोऽहं।
22. सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं।
23. महाचलननिर्भरानंदस्वरूपोऽहं।
24. चिन्मात्रमूर्तिस्वरूपोऽहं।
25. चैतन्यरत्नाकरस्वरूपोऽहं।
26. चैतन्यामरद्रुमस्वरूपोऽहं।
27. चैतन्यामृताहारस्वरूपोऽहं।
28. ज्ञानपुंजप्रवाहस्वरूपोऽहं।
29. ज्ञानामृतप्रवाहस्वरूपोऽहं।
30. चैतन्यरसरसायनस्वरूपोऽहं।
31. चैतन्यचिन्मयस्वरूपोऽहं।
32. चैतन्यकल्याणवृक्षस्वरूपोऽहं।
33. ज्ञानज्योतिःस्वरूपोऽहं।
34. ज्ञानार्णवस्वरूपोऽहं।
35. निरूपमनिर्लेपस्वरूपोऽहं।
36. निरवद्यस्वरूपोऽहं।
37. शुद्धचिन्मात्रस्वरूपोऽहं।
38. अनंतज्ञानस्वरूपोऽहं।
39. अनंतदर्शनस्वरूपोऽहं।
40. अनंतवीर्यस्वरुपोऽहं।
41. अनंतसुखस्वरूपोऽहं।
42. सहजानंदस्वरूपोऽहं।
43. परमानंदस्वरूपोऽहं।
44. परमाक्षानंदस्वरूपोऽहं।
45. सदानंदस्वरूपोऽहं।
46. चिदानंदस्वरूपोऽहं।
47. नित्यानंदस्वरूपोऽहं।
48. सहजसुखानंदस्वरूपोऽहं।
49. निजानंदस्वरूपोऽहं।
50. शुद्धात्मस्वरूपोऽहं।
51. परमज्योतिःस्वरूपोऽहं।
52. स्वात्मोपलब्धिस्वरूपोऽहं।
53. शुद्धात्मसंवित्तिस्वरूपोऽहं।
54. भूतार्थस्वरूपोऽहं।
55. परमार्थस्वरूपोऽहं।
56. समयसारसमूहस्वरूपोऽहं।
57. अध्यात्मसारस्वरूपोऽहं।
58. परममंगलस्वरूपोऽहं।
59. परमोत्तमस्वरूपोऽहं।
60. सकलकर्मक्षयकारणस्वरूपोऽहं।
61. परमाद्वैतस्वरूपोऽहं।
62. शुद्धोपयोगस्वरूपोऽहं।
63. निश्चयषडावयश्कस्वरूपोऽहं।
64. परमसमाधिस्वरूपोऽहं।
65. परमस्वास्थ्यस्वरूपोऽहं।
66. परमस्वाध्यायस्वरूपोऽहं।
67. परमभेदज्ञानस्वरूपोऽहं।
68. परमसंवेदनस्वरूपोऽहं।
69. परमसमरसीभावस्वरूपोऽहं।
70. केवलज्ञानस्वरूपोऽहं।

71. केवलदर्शनस्वरूपोऽहं।
72. अनंतवीर्यस्वरूपोऽहं।
73. परमसूक्ष्मस्वरूपोऽहं।
74. अवगाहनस्वरूपोऽहं।
75. अगुरुलघुस्वरूपोऽहं।
76. अव्याबाधस्वरूपोऽहं।
77. अष्टविधकर्मरहितोऽहं।
78. निरंजनस्वरूपोऽहं।
79. नित्योऽहं।
80. अष्टगुणसहितोऽहं।
81. कृतकृत्योऽहं।
82. लोकाग्रनिवास्यऽहं।
83. अनुपमोऽहं।
84. अचिन्त्योऽहं।
85. अतर्क्योऽहं।
86. प्रमेयस्वरूपोऽहं।
87. अतिशयस्वरूपोऽहं।
88. अक्षयस्वरूपोऽहं।
89. शाश्वतोऽहं
90. शुद्धस्वरूपोऽहं।
91. सिद्धस्वरूपोऽहं।
92. सत्तात्मकसिद्धस्वरूपोऽहं।
93. अनुभवात्मकसिद्धस्वरूपोऽहं।
94. सोऽहं।
95. शुद्धोऽहं।
96. चित्कलास्वरूपोऽहं।
97. चैतन्यपुञ्जस्वरूपोऽहं।
98. सदानंदस्वरूपोऽहं।
99. परमशरण्योऽहं।
100. स्वयंभूरऽहं।
101. अतिशयातिशयातीतअभूतानंतसुखस्वरूपोऽहं।

5.9 प्रश्नावली-

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

प्रश्न 1-पिण्डस्थ ध्यान की कितनी धारणाएँ बताई हैं ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) सात ☐

प्रश्न 2-कर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) आठ ☐ (ग) दस ☐

प्रश्न 3-जाप्य के कितने भेद हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) चार ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-ध्यान का फल क्या है ?

प्रश्न 2-वारुणी धारणा में क्या होता है ?

प्रश्न 3-रूपस्थ ध्यान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-पिण्डस्थ ध्यान किसे कहते हैं और इसकी धारणाएँ कौन सी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

प्रश्न 1-ध्यान का लक्षण क्या है और ध्यान के विषय में किन बातों को समझना आवश्यक है ?

तृतीय पत्र

कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना

-संदर्भ ग्रंथ-

1. धवला पुस्तक-6, 7, 12, 13 - श्री वीरसेनाचार्य
2. जयधवला (पुस्तक-1) - आचार्य श्री वीरसेनाचार्य
3. समयसार - आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी
4. प्रवचनसार - आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी
5. मूलाचार - आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी
6. पंचास्तिकाय - आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी
6. वारस अणुवेक्खा - आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी
7. तत्त्वार्थसूत्र - आचार्य उमास्वामी
8. राजवार्तिक - आचार्य श्री अकलंक देव
9. भगवती आराधना - आचार्य श्री शिवकोटि
10. सर्वार्थसिद्धि - आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी
11. इष्टोपदेश - आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी
12. गोम्मटसार कर्मकाण्ड - सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य
13. गोम्मटसार जीवकाण्ड - सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य
14. द्रव्य संग्रह - सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य
15. पुरुषार्थसिद्धिउपाय - आचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि
16. गोम्मटसार कर्मकाण्ड सार - गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
17. जैन भारती - गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
18. ज्ञानामृत (भाग-2) - गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
19. देववंदना अपरनाम सामायिक - गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी
20. अमूल्य प्रवचन - आर्यिका श्री चंदनामती माताजी
21. जैन सिद्धान्त (जनवरी-जून 2012, अंक-1) - सम्पादक-प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
22. वात्सल्य रत्नाकर (खण्ड-3) - प्रकाशक-भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, सम्मेदशिखर
23. सम्यग्ज्ञान (जून 1978, अंक-12) - प्रकाशक-दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप
24. www.encyclopediaofjainism.com

प्रश्नावली (Questions Bank)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 1- जीव को जो परतंत्र करते हैं, वे कहलाते हैं-

(क) द्रव्यकर्म ☐ (ख) कर्म ☐ (ग) अजीव कर्म ☐

प्रश्न 2- "राग-द्वेष से युक्त आत्मा जब अच्छे या बुरे कार्यों में लगती है, तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करती हैं।" ये किसने कहा है ?

(क) आचार्य कुन्दकुन्ददेव ☐ (ख) आ. समन्तभद्र स्वामी ☐ (ग) आचार्य उमास्वामी ☐

प्रश्न 3- पुद्गल जातीय 23 वर्गणाओं से कितनी वर्गणाएँ ग्रहण करने के योग्य हैं ?

(क) 07 ☐ (ख) 04 ☐ (ग) 05 ☐

प्रश्न 4- "जीव स्वयं अपने कर्मों का.....है और स्वयं उसके फल का.....है।

(क) भोक्ता, कर्ता ☐ (ख) कर्ता, भोक्ता ☐ (ग) कर्त्ता, अभोक्ता ☐

प्रश्न 5- "आत्मा और कर्म का संबंध अनादि है, किस दर्शन में माना गया है ?

(क) बौद्ध दर्शन ☐ (ख) जैनदर्शन ☐ (ग) कोई नहीं ☐

प्रश्न 6- नवीन कर्मों के आगमन को रोकना क्या कहलाता है ?

(क) बंध ☐ (ख) निर्जरा ☐ (ग) संवर ☐

प्रश्न 7 -इनमें से शुभ राग कौन सा है ?

(क) दान देना ☐ (ख) हिंसा करना ☐ (ग) चोरी करना ☐

प्रश्न 8- द्रव्यकर्म की मूल प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) दो ☐ (ग) एक सौ बीस ☐

प्रश्न 9- जो किसी पर्याय विशेष में रोके रखे वह.....कर्म है।

(क) वेदनीय ☐ (ख) आयु ☐ (ग) ज्ञानावरण ☐

प्रश्न 10- आठों कर्मों के उत्तर भेद कितने हैं ?

(क) 143 ☐ (ख) 148 ☐ (ग) 145 ☐

प्रश्न 11- तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म आस्रव की कितनी भावनाएँ हैं ?

(क) 16 ☐ (ख) 15 ☐ (ग) 25 ☐

प्रश्न 12- कुशल कार्य में अनादर करना कहलाता है ?

(क) कषाय ☐ (ख) प्रमाद ☐ (ग) संवेग ☐

प्रश्न 13- सामान्य से कर्म कितने प्रकार के हैं ?

(क) आठ ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) एक सौ अड़तालीस ☐

प्रश्न 14- ज्ञानावरणादि कर्मों में से छठा कर्म-

(क) मोहनीय ☐ (ख) आयु ☐ (ग) नाम ☐

प्रश्न 15- जो आत्मा के ज्ञान स्वभाव को प्रकट न होने दे, आवृत करे वह.....कहलाता है।

(क) ज्ञानावरण ☐ (ख) आवरण ☐ (ग) द्रव्यकर्म ☐

प्रश्न 16- जो आत्मा का असली स्वभाव न प्रगट होने दे उसे क्या कहते हैं ?

(क) शत्रु ☐ (ख) कर्म ☐ (ग) राग-द्वेष ☐

प्रश्न 17- आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

(क) 8 ☐ (ख) असंख्यात ☐ (ग) 148 ☐

प्रश्न 18- वेदनीय कर्म की कितनी प्रकृतियाँ हैं ?

(क) 5 ☐ (ख) 2 ☐ (ग) 3 ☐

प्रश्न 19- राजा श्रेणिक ने किन मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प डाला था ?

(क) यशोभद्र ☐ (ख) यशोधर ☐ (ग) यशोबाहु ☐

प्रश्न 20- आयु कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 21- नरकायु का नोकर्म.....है।

(क) अन्न-पानादि ☐ (ख) अनिष्ट आहार ☐ (ग) इनमें से कोई नहीं ☐

प्रश्न 22- द्रव्यकर्म किसे कहते हैं ?

(क) पुद्गल पिंड को ☐

(ख) फल देने की शक्ति को ☐

(ग) कर्म के तद्रूप परिणमन को ☐

प्रश्न 23- गोत्र कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) 3 ☐ (ख) 5 ☐ (ग) 2 ☐

प्रश्न 24- गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

(क) असंख्यात वर्ष ☐ (ख) बीस कोड़ाकोड़ीसागर ☐ (ग) एक पल्य ☐

प्रश्न 25- सम्पूर्ण संसार कैसा है ?

(क) अलौकिक ☐ (ख) नश्वर ☐ (ग) कर्मप्रधान ☐

प्रश्न 26- जैनदर्शन में कर्म के कितने भेद बताए हैं ?

(क) 5 ☐ (ख) 3 ☐ (ग) 2 ☐

प्रश्न 27- जिनका फल हमें तुरंत नहीं मिलता, देर-सबेर मिलता है, वे सब.....कहलाते हैं ?

(क) क्रियावान कर्म ☐ (ख) निकाचित कर्म ☐ (ग) संचित कर्म ☐

प्रश्न 28-सम्पूर्ण जैन विचार शास्त्र एवं जैन जीवन किस पर आधारित है ?

(क) ईश्वर पर ☐ (ख) कर्म सिद्धान्त पर ☐ (ग) गहन चिन्तन पर ☐

प्रश्न 29-कर्म सिद्धान्त की पूरी प्रक्रिया में कर्मों की कितनी अवस्थाएँ बताई हैं ?

(क) 8 ☐ (ख) 20 ☐ (ग) 10 ☐

प्रश्न 30-कर्म की सत्ता का काल.....माना जाता है ?

(क) कर्म सत्त्व ☐ (ख) उदय काल ☐ (ग) आबाधकाल ☐

प्रश्न 31-कर्म के कितने भेद हैं ?

(क) चार ☐ (ख) दो ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 32-कर्म की चार संज्ञाओं में से दूसरी संज्ञा का नाम-

(क) प्रकृति ☐ (ख) पाप ☐ (ग) मल ☐

प्रश्न 33-जिस वस्तु में जो गुण नहीं है उसको उस नाम से कहना.....है ?

(क) द्रव्य निक्षेप ☐ (ख) भाव निक्षेप ☐ (ग) नाम निक्षेप ☐

प्रश्न 34-जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र इन तीनों में किसकी प्रधानता है ?

(क) सम्यग्दर्शन ☐ (ख) सम्यग्ज्ञान ☐ (ग) सम्यक्चारित्र ☐

प्रश्न 35-अस्तिकाय कितने होते हैं ?

(क) छह ☐ (ख) नौ ☐ (ग) पाँच ☐

प्रश्न 36-सम्यग्दर्शन का निमित्त.....है अथवा जिनसूत्र के जानने वाले पुरुष हैं।

(क) कर्मों का उपशम ☐ (ख) जिनसूत्र ☐ (ग) कर्मों का पूर्णत: क्षय होना ☐

प्रश्न 37-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय को प्रगट करने के लिए इच्छा का निरोध करना क्या कहलाता है ?

(क) मोक्षमार्ग ☐ (ख) तप ☐ (ग) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग ☐

प्रश्न 38-"जितनी भी लब्धियाँ हैं, वे तप से ही प्राप्त होती हैं" ऐसा किन आचार्य ने कहा है ?

(क) आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

(ख) आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव

(ग) आचार्य श्री वीरसेन स्वामी

प्रश्न 39-मोक्षाभिलाषी को मन को वश में रखकर.....को न छिपाकर तप अवश्य ही करना चाहिए ।

(क) त्याग ☐ (ख) चारित्र ☐ (ग) शक्ति ☐

प्रश्न 40-शरीरादि की निष्पत्ति का दूसरा नाम क्या है ?

(क) पर्याप्ति आहार ☐ (ख) गुणस्थान ☐ (ग) पौद्गलिक शक्ति ☐

प्रश्न 41-जैन ग्रन्थानुसार छहों पर्याप्तियों में से पाँचवीं पर्याप्ति का नाम-

(क) इन्द्रिय पर्याप्ति ☐ (ख) मन:पर्याप्ति ☐ (ग) भाषा पर्याप्ति ☐

प्रश्न 42- जीव जन्म ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गल को ग्रहण करता है, उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को.....कहते हैं।

(क) शरीर पर्याप्ति ☐ (ख) आहार पर्याप्ति ☐ (ग) इन्द्रिय पर्याप्ति ☐

प्रश्न 43- जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त पूर्णतः.....है।

(क) स्याद्वादमय ☐ (ख) मनोवैज्ञानिक ☐ (ग) द्रव्य कर्मों से सहित ☐

प्रश्न 44- जैनदर्शन में मन कितने प्रकार का माना गया है ?

(क) तीन प्रकार का ☐ (ख) पाँच प्रकार का ☐ (ग) दो प्रकार का ☐

प्रश्न 45- भावमन में जो पदार्थों को जानने की इच्छा होती है, उसे क्या कहा गया है ?

(क) लब्धि ☐ (ख) उपयोग ☐ (ग) अन्तःकरण ☐

प्रश्न 46- षट्खण्डागम ग्रंथ के मूल रचयिता आचार्य का क्या नाम है ?

(क) धरसेनाचार्य ☐ (ख) वीरसेनाचार्य ☐ (ग) पुष्पदन्त-भूतबली ☐

प्रश्न 47- जीवस्थान आठ अनुयोगद्वारों में विभक्त है, उसमें से सातवें अनुयोगद्वार का क्या नाम है ?

(क) क्षेत्रानुगम ☐ (ख) भावानुगम ☐ (ग) अन्तरानुगम ☐

प्रश्न 48- मार्गणाएँ कितनी होती हैं ?

(क) 14 ☐ (ख) 8 ☐ (ग) 5 ☐

प्रश्न 49- अंगबाह्य के कितने भेद हैं ?

(क) 10 ☐ (ख) 14 (ग) 12

प्रश्न 50- मूलाचार ग्रंथ के रचयिता कौन हैं ?

(क) आचार्य वीरसेन ☐ (ख) आचार्य जिनसेन ☐ (ग) आचार्य कुन्दकुन्ददेव ☐

प्रश्न 51- मुद्रा के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) दो ☐ (ग) चार ☐

प्रश्न 52- कृतिकर्म के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) सात ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 53- नित्य वन्दना के कितने काल हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) दो ☐ (ग) एक ☐

प्रश्न 54- आसन कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) तीन ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 55- ध्यान के कितने भेद हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) चार ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 56- संस्थानविचय धर्मध्यान के कितने भेद बताए हैं ?

(क) चार ☐ (ख) छः ☐ (ग) आठ ☐

प्रश्न 57- णमोकार महामंत्र में कितने अक्षर हैं ?

(क) दस ☐ (ख) पच्चीस ☐ (ग) पैंतीस ☐

प्रश्न 58- आर्तध्यान कितने प्रकार का माना है ?

(क) पाँच ☐ (ख) चार ☐ (ग) दो ☐

प्रश्न 59- महौषधियाँ कितने प्रकार की बताई हैं ?

(क) चार ☐ (ख) आठ ☐ (ग) तीन ☐

प्रश्न 60- अणुव्रत कितने होते हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) छः ☐

प्रश्न 61- पिण्डस्थ ध्यान की कितनी धारणाएँ बताई हैं ?

(क) चार ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) सात ☐

प्रश्न 62- कर्म कितने प्रकार के होते हैं ?

(क) पाँच ☐ (ख) आठ ☐ (ग) दस ☐

प्रश्न 63- जाप्य के कितने भेद हैं ?

(क) तीन ☐ (ख) पाँच ☐ (ग) चार ☐

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- कर्म शब्द के कितने अर्थ हैं ? नाम बताइए ?

प्रश्न 2- कर्म किसे कहते हैं ? द्रव्यकर्म और भावकर्म की भी परिभाषा दीजिए ?

प्रश्न 3- अन्य धर्मों के अनुसार कर्म की क्या परिभाषा बताई गई है ?

प्रश्न 4- बंध किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5- जैनदर्शन के अनुसार आत्मा का वास्तविक मौलिक स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 6- कार्मण शरीर को स्पष्ट कीजिए ?

प्रश्न 7- निर्जरा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 8- भावकर्म को कितने भेदों में विभक्त किया है, नाम बताइए ?

प्रश्न 9- राग कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 10- ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 11- जीव में कितने प्रकार के विकार होते हैं ? संक्षेप में समझाइए ?

प्रश्न 12- घातिया और अघातिया कर्म का लक्षण बताइए ?

प्रश्न 13- आठों कर्मों का स्वभाव बताइए ?

प्रश्न 14- दर्शनावरण के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 15- नोकषाय किसे कहते हैं ? ये कितनी होती हैं, नाम बताइए ?

प्रश्न 16- ज्ञानावरण कर्म के कितने भेद हैं, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 17- ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 18- आसादना और अनासादना में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 19- दर्शनावरण कर्म के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?
प्रश्न 20- असातावेदनीय कर्म किसे कहते हैं ? उदाहरण देकर समझाइए ?
प्रश्न 21- वेदनीय कर्म के आगमन और निर्गमन के द्वार कौन-कौन से हैं ?
प्रश्न 22- संसार भ्रमण का मूल कारण क्या है, परिभाषित कीजिए ?
प्रश्न 23- चारित्रमोहनीय कर्म का लक्षण बताइए ?
प्रश्न 24- देवायु बंध के क्या कारण हैं तथा नरकायु बंध के क्या कारण हैं, अन्तर स्पष्ट कीजिए ?
प्रश्न 25- अपकर्षकाल में आयु बंध किस प्रकार होता है ?
प्रश्न 26- नामकर्म किसे कहते हैं ?
प्रश्न 27- जैनदर्शन में आठ कर्मों में कितने कर्म घातिया हैं और कितने अघातिया ? घातिया-अघातिया कर्मों के अलग-अलग नाम बताइए ?
प्रश्न 28- गोत्र कर्म की परिभाषा बताते हुए उनके भेदों को बताइए ?
प्रश्न 29- नीच और उच्च गोत्र का आस्रव किन-किन कारणों से होता है ?
प्रश्न 30- अन्तराय कर्म के कितने भेद हैं, नाम बताइए ?
प्रश्न 31- अन्तराय कर्म के आस्रव के क्या कारण हैं ?
प्रश्न 32- कर्म की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है ?
प्रश्न 33- कर्म की प्रक्रिया में किस-किस की भागीदारी है ?
प्रश्न 34- मोह का क्या लक्षण है ?
प्रश्न 35- कर्म किस प्रकार बंधते हैं ?
प्रश्न 36- फलोदय और प्रदेशोदय में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 37- उदीरणा की क्या परिभाषा है ?
प्रश्न 38- उत्कर्षण और अपकर्षण में क्या भेद है ?
प्रश्न 39- निधत्त और निकाचित कर्म का स्वरूप बताइए ?
प्रश्न 40- आगमद्रव्य कर्म और नोआगम द्रव्य कर्म में क्या भेद है ?
प्रश्न 41- कदलीघात मरण का लक्षण बताइए ?
प्रश्न 42- तद्व्यतिरिक्त कर्म के भेद कितने हैं, परिभाषा सहित बताइए ?
प्रश्न 43- कर्मों की मूल प्रकृतियाँ एवं उत्तर प्रकृतियाँ कितनी हैं ?
प्रश्न 44- कर्म सिद्धान्त के अनुसार सम्यग्दर्शन कैसे होता है ?
प्रश्न 45- सम्यग्दृष्टि का सामान्य लक्षण बताइए ?
प्रश्न 46- चतुर्थ गुणस्थान में कितनी और कौन-कौन सी प्रकृतियों का बंध होता है ?
प्रश्न 47- चतुर्थ गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्ति होती है ?
प्रश्न 48- आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार बाह्य तप के कितने और कौन-कौन से भेद हैं ?
प्रश्न 49- विविक्तशय्यासन तप की परिभाषा बताइए ?
प्रश्न 50- मूलाचार ग्रंथ के अनुसार कायक्लेश तप का क्या लक्षण है ?

प्रश्न 51-प्रायश्चित्त तप का लक्षण बताते हुए उनके भेद एवं नाम बताइए ?

प्रश्न 52-शरीर में उपस्थित धातुएँ कितनी और कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 53-मन कितने प्रकार का होता है, नाम बताइए ?

प्रश्न 54-जैन दार्शनिकों ने पंचेन्द्रिय जीवों को कितनी कोटियों में रखा है, परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 55-वैज्ञानिकों ने जैनदर्शन में प्रतिपादित मन की अवधारणा को किससे जोड़ा है और उसे किस प्रकार स्पष्ट किया है ?

प्रश्न 56-इन्द्रियों का नायक किसे कहा है तथा इसके बारे में भट्टाकलंकदेव के क्या विचार हैं ?

प्रश्न 57-मन कितने प्रकार के कार्य करता है, उनमें से किसी एक को परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 58-श्रुतज्ञान और भाव श्रुतज्ञान में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 59-जिनशासन में कर्म के कितने और कौन-कौन से भेद बताए हैं ?

प्रश्न 60-गुणस्थान कितने होते हैं ? नामोल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 61-मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ कौन-कौन सी हैं ?

प्रश्न 62-षट्खण्डागम के द्वितीय खण्ड में किससे संबंधित जानकारी प्रदान की गई है ?

प्रश्न 63-गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कितने और कौन-कौन से विषयों का प्रतिपादन किया गया है ?

प्रश्न 64-अंग प्रविष्ट के 12 भेदों के नाम बताओ ?

प्रश्न 65-कृतिकर्म का लक्षण क्या है ?

प्रश्न 66-सामायिक व्रत का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 67-मुक्ताशुक्तिमुद्रा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 68-वन्दना योग्य प्रदेश कौन से हैं ?

प्रश्न 69-जिनमुद्रा किसे कहते हैं ?

प्रश्न 70-आवर्त किसे कहते हैं ? एक कायोत्सर्ग में कितने आवर्त होते हैं ?

प्रश्न 71-शिरोनति का लक्षण क्या है एक कायोत्सर्ग में ये कितनी होती हैं ?

प्रश्न 72-धर्मध्यान के कितने भेद हैं और यह कौन से गुणस्थानों में होता है ?

प्रश्न 73-अर्हंत परमेष्ठी का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 74-निश्चय ध्यान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 75-आचार्य परमेष्ठी के कितने गुण माने हैं और वे कौन से हैं ?

प्रश्न 76-श्री उमास्वामी आचार्य ने ध्यान का क्या लक्षण बताया है ?

प्रश्न 77-रौद्रध्यान किसे कहते हैं और रौद्र ध्यान के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 78-शुक्लध्यान का लक्षण क्या है? यह कौन से गुणस्थान से प्रारंभ होता है ?

प्रश्न 79-आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण लिखो ?

प्रश्न 80-ध्यान का फल क्या है ?

प्रश्न 81-वारुणी धारणा में क्या होता है ?

प्रश्न 82-रूपस्थ ध्यान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 83-पिण्डस्थ ध्यान किसे कहते हैं और इसकी धारणाएँ कौन सी हैं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1- "सोने में मैल की तरह आत्मा और कर्म का अनादि संबंध स्वयं सिद्ध है" इस पंक्ति का विस्तार से वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 2- कर्मबंध के कारण और उनसे मुक्ति के उपाय बताइए ?

प्रश्न 3- बंध के कितने भेद हैं ? नाम सहित विस्तार से समझाइए ?

प्रश्न 4- ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के उत्तर भेद कितने और किस प्रकार होते हैं सभी नाम सहित बताइए ?

प्रश्न 5- दर्शनावरण कर्म के कारण एवं उस कर्म को नाश करने के उपाय को विस्तारपूर्वक समझाइए ?

प्रश्न 6- अनन्तानुबंधी आदि कषायों का कार्य, वासना काल, भेद और उनके फल को विस्तार सहित बताइए ?

प्रश्न 7- नामकर्म की 42 प्रकृतियों के नाम बताते हुए किन्हीं 10 प्रकृतियों की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 8- अन्तराय कर्म की परिभाषा बताते हुए उनके भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 9- हमारे भीतर दया और करुणा का भाव किस प्रकार तिरोहित हो गया है, उदाहरण देकर समझाइए ?

प्रश्न 10- जैन कर्मसिद्धान्तानुसार बंध के कितने भेद हैं ? परिभाषा सहित बताइए ?

प्रश्न 11- मूल प्रकृति एवं उत्तर प्रकृतियों के नोकर्मों का वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 12- कर्मबंध मुक्ति की प्रक्रिया में सम्यक्त्व की क्या भूमिका है ?

प्रश्न 13- विभिन्न आचार्यों के अनुसार अन्तरंग एवं बाह्य तप का जो-जो क्रम रखा गया है, उसे विस्तार सहित बताइए ?

प्रश्न 14- जैनदर्शन में वर्णित छहों पर्याप्तियों के नाम क्रमानुसार बताते हुए किन्हीं तीन पर्याप्तियों की परिभाषा बताइए ?

प्रश्न 15- मनोभावों का पुद्गल पर एवं पुद्गल का मनोभावों पर क्या प्रभाव पड़ता है, सविस्तार वर्णन कीजिए ?

प्रश्न 16- बंधक और संक्रम अधिकार में किसका वर्णन है, विस्तार सहित परिभाषित कीजिए ?

प्रश्न 17- सामायिक कब और कैसे करना चाहिए ?

प्रश्न 18- देववन्दना में छह प्रकार का कृतिकर्म कौन सा है ? उनके नाम एवं लक्षण लिखें ?

प्रश्न 19- परम ध्यान का लक्षण विस्तार से लिखें ?

प्रश्न 20- चिंताओं को दूर करने के उपाय क्या हैं ? विस्तार से लिखें।

प्रश्न 21- ध्यान का लक्षण क्या है और ध्यान के विषय में किन बातों को समझना आवश्यक है ?

नोट्स